Dr. C.V. Raman University
Kargi Road, Kota, BILASPUR, (C. G.),
Ph. : +07753-253801, +07753-253872
E-mail : info@cvru.ac.in | Website : www.cvru.ac.in

वेद एवं वेदाङ्ग- ।

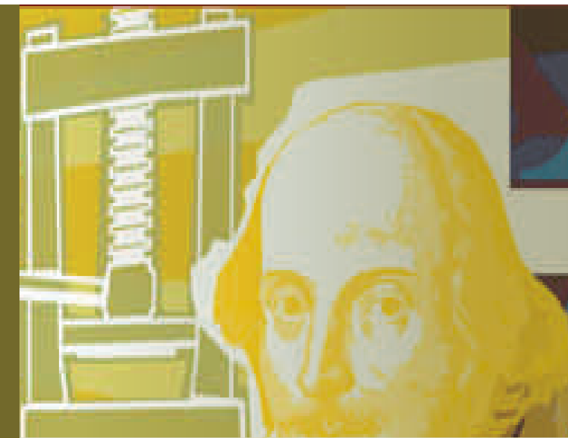

Centre for **Distance &**
Online Education

Faculty of Arts

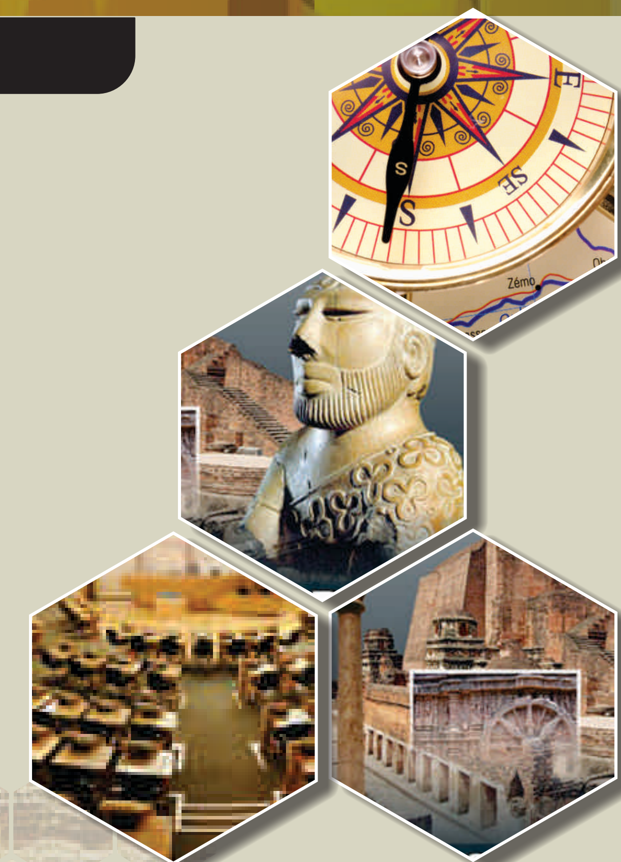

वेद एवं वेदाङ्ग- ।

1MASANS1

DR. C.V. RAMAN UNIVERSITY
Chhattisgarh, Bilaspur
A STATUTORY UNIVERSITY UNDER SECTION 2(F) OF THE UGC ACT

1MASANS1

वेद एवं वेदांग – I

1MASANS1
वेद एवं वेदांग – I

Credit- 4

Subject Expert Team

Dr. V.P.Mishra, Dr. C.V. Raman University, Kota, Bilaspur, Chhattisgarh
Dr. Renu Shukla, Dr. C.V. Raman University, Kota, Bilaspur, Chhattisgarh
Shri Prakash Tiwari, Dr. C.V. Raman University, Kota, Bilaspur, Chhattisgarh
Dr. Krishna Kumar Bhaskar, Dr. C.V. Raman University, Kota, Bilaspur, Chhattisgarh
Dr. Vinod Pandey, Asso. Prof.& Head, Sanskrit Dept. D.A.V. Mahavidyalaya Civil Line kanpur (U.P.)
Dr. Raghvendra Sharma, Asso. Prof. & Head Dept. of Veda, Govt. Dudhadhari Sanskrit P.G. Collage, Raipur (C.G.)

Course Editor:

Dr. Raghavendra Sharma, Associate Professor & Head Dept. of Veda, Govt. Dudhadhari Sanskrit P.G. Collage, Raipur (C.G.)

Unit Written By:

1. Dr. V.P.Mishra

Professor, Dr. C. V. Raman University, Bilaspur (C.G.)

2. Dr. Renu Shukla

Assistant Professor, Dr. C. V. Raman University, Bilaspur (C.G.)

3. Dr. Krishna Kumar Bhaskar

Assistant Professor, Dr. C. V. Raman University, Bilaspur (C.G.)

Warning: All rights reserved, No part of this publication may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the publisher. Published by: Dr. C.V. Raman University Kargi Road, Kota, Bilaspur, (C. G.)

Edition : March 2024

Published by: Dr. C.V. Raman University Kargi Road, Kota, Bilaspur, (C. G.), Ph. +07753-253801,07753-253872 E-mail: info@cvru.ac.in, Website: www.cvru.ac.in

विषय-सूची

इकाई-1 ऋग्वेद सूक्त 1-48

- अग्नि सूक्त
- इन्द्र सूक्त
- उषस् (उषा) सूक्त
- पुरुष सूक्त
- कितव (अक्ष) सूक्त

इकाई-2 अथर्ववेद, सामवेद एवं यजुर्वेद (सूक्त संग्रह) एवं निरुक्त 49-134

- सूक्त संग्रह
- निरुक्त

इकाई-3 ईशावास्योपनिषद् 135-178

- ईशावास्योपनिषद् : सम्पूर्ण व्याख्या

इकाई-4 वैदिक संहिता 179-258

- वेद : संक्षिप्त परिचय
- ब्राह्मण
- आरण्यक
- उपनिषद्
- सूत्र साहित्य

1 ऋग्वेद सूक्त

इकाई में सम्मिलित है :

- अध्ययन के उद्देश्य
- प्रस्तावना
- अग्नि सूक्त
- इन्द्र सूक्त
- उषस् (उषा) सूक्त
- पुरुष सूक्त
- कितव (अक्ष) सूक्त
- सारांश
- अभ्यास-प्रश्न

अध्ययन के उद्देश्य :

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् छात्र :

- अग्नि देवता के स्वरूप तथा महत्व से परिचित हो सकेंगे।
- इन्द्र देवता के स्वरूप तथा महत्व से अवगत हो सकेंगे।
- उषा देवी के स्वरूप तथा महत्व से परिचित हो सकेंगे।
- पुरुष देवता (विराट पुरुष) की सत्ता एवं महत्ता से अवगत हो सकेंगे।
- अक्ष (पासे) अर्थात् द्यूतकार्य की हेयता से परिचित हो सकेंगे।
- उपर्युक्त पाँचों सूक्तों के संहिता पाठ तथा पद पाठ में सक्षम होंगे।
- उपर्युक्त सूक्तों के मंत्रों की हिन्दी-व्याख्या कर सकेंगे।

प्रस्तावना :

वेद विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। 'वेद' शब्द भारतीय परंपरानुसार किसी ग्रन्थ का वाचक न होकर अलोकिक ज्ञान का वाचक है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 'वेद' शब्द का स्पष्टीकरण करते हुए ऋग्वेद भाष्य की भूमिका में लिखा है 'विन्दंति, जानन्ति, विद्यन्ते, भवन्ति, विन्दंन्ति अथवा विन्दते, लभन्ते, विंदन्ति, विचारयन्ति सर्वे मनुष्या: सत्यविद्याम् अर्थेषु वा तथा विद्वांस: च भवन्ति ते वेदा:। अर्थात् वेद ज्ञान के भंडार हैं, वेद सत्य विद्या है, वेद ज्ञानियों के विषय हैं तथा सभी मनुष्यों के लिए परम उपयोगी हैं।

ऋग्वेद सभी वेदों में प्राचीनतम माना जाता है। ऋग्वेद के कुछ सूक्तों का ही वर्णन इस इकाई में किया गया है। अग्नि सूक्त में आग्नि देवता के स्वरूप तथा महत्व का वर्णन किया गया है। ऋग्वेद के प्रमुख देवों में अग्निदेव का स्थान सर्वोच्च है। यज्ञ में दी गयी आहुतियों को अग्निदेव ही सभी देवताओं तक पहुँचाते हैं। इन्द्र सूक्त में इन्द्रदेव के वैज्ञानिक स्वरूप तथा महत्व का वर्णन है। इन्द्र देव जल वर्षा कराने वाले, प्रजा के पालक तथा राक्षसों के संहारक हैं। उषस् सूक्त उषा देवी के ज्योतिर्मय स्वरूप एवं मानवों के लिए उनकी महत्ता का वर्णन करता है। पुरुष सूक्त में विराट पुरुष (परमेश्वर) का वर्णन है। अक्ष सूक्त के माध्यम से मनुष्यों को द्यूत कर्म की हेयता से परिचित कराया गया है। अग्नि सूक्त के ऋषि विश्वामित्र हैं, देवता अग्निदेव हैं, मंत्रों में प्रयुक्त छन्द गायत्री है। इन्द्र सूक्त के ऋषि गृत्समद, देवता इन्द्र तथा मंत्र त्रिष्टुप है। उषस् सूक्त के मंत्रदृष्टा ऋषि प्रस्कण्व हैं, ऊषा देवी देवता हैं तथा छन्द वार्हत है। पुरुष सूक्त के ऋषि नारायण हैं, विराट पुरुष देवता हैं तथा छन्द अन्तिम है। कितव सूक्त के ऋषि कवषऐलूष, देवता अक्षकृषि प्रशंसा तथा जगती एवं त्रिष्टुय छन्द हैं।

1. अग्नि सूक्त

मण्डल—1 सूक्त-1

ऋषि—विश्वामित्र देवता—अग्नि छन्द—गायत्री

संहिता-पाठः

1. अग्निमीले पुरोहितं, यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधतमम्।।

पद-पाठः

अग्निम्। ईले। पुर:ऽहितम्। यज्ञस्य। देवम्। ऋत्विजम्।
होतारम्। रत्नऽधातमम्।।1।।

अन्वय—यज्ञस्य/पुरोहितम्, देवम्, ऋत्विजम्, होतारम्, रत्नधातमम् अग्निम् ईले।

संस्कृत-व्याख्या— यज्ञस्य = क्रियमाणदेवताद्याराध्नकर्मण: पुरोहितम् पुरोहितत्वादभीष्टसंपादकम्। यद्वा यज्ञस्य पूर्वभागे आहवनीयरूपेण संस्थितम्। अग्निर्वै देवानां होता इति श्रुते:। देवं दानादिगुणयुक्तम्। होतारम् होतृनामकमाह्वतारं वा देवानाम्। ऋत्विजम् = देवानामृत्विग्भूतम। रत्नधातमम् = यागफलरूपाणां रत्नानां अतिशयेन धारयितारं पोषयितारं वा। अग्निम् = तन्नामकं देवम्। ईले = स्तौमि। यद्वा यज्ञस्येति पदं 'देव' मित्यनेनान्वेति। यज्ञस्य प्रकाशकमित्यर्थ:।

शब्दार्थ—ईले = स्तुति करता हूँ। देवम् = दान आदि दिव्य गुणों से सम्पन्न। रत्नधातमम् = रत्नों को धारण करने वाले।

हिन्दी अनुवाद— यजमान की कामनाओं को पूरा करने वाले, यज्ञ के पुरोहित, दान आदि गुणों से सम्पन्न, देवताओं के ऋत्विक् और होता एवं रत्नों अर्थात् यज्ञ के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले श्रेष्ठ पदार्थों को धारण करने वाले अग्नि देवता की मैं विश्वामित्र ऋषि स्तुति करता हूँ।

NOTES

संहिता-पाठः

2. अग्नि: पूर्वेभिऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत

स देवाँ एह वक्षति।।

पद-पाठः

अग्निः। पूर्वेऽभिः। ऋषिऽभिः।.ईड्यः। नूतनैः। उत।

सः। देवान्। आ। इह। वक्षति।।2।।

अन्वय— अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिः ईड्य उत नूतनैः। स इह देवान् आवक्षति।

संस्कृत-व्याख्या—(अयम्) अग्निः, पूर्वेभिः = पुरातनैः भृग्वङ्गिरःप्रभृतिभिः, ऋषिभिः ईड्य = स्तुत्यः, नूतनैः उत = इदानीन्तरैरस्माभिरपि (स्तुत्य इत्यर्थः), सः = अग्निः, (स्तुतः सन्), इह = अत्र (यज्ञे), देवान् = हविर्भुजः आवक्षति = आवहतु। उत शब्दो यद्यपि विकल्पार्थे प्रसिद्धस्तथापि निपातत्वेनाने - कार्थत्वादौचित्येनात्रा समुच्चयार्थः।

शब्दार्थ—पूर्वेभिः = प्राचीन। ईड्यः = स्तुति किया जाता है। इह = इस यज्ञ में। आवक्षति = प्राप्त करावे।

हिन्दी अनुवाद— इस अग्नि देवता की प्राचीन भृगु, अंगिरा आदि ऋषियों द्वारा स्तुति की जाती है और अब नवीन हम विश्वामित्र आदि ऋषियों द्वारा भी स्तुति की जाती है। वह (अग्नि) 'यहाँ (इस यज्ञ में) देवताओं को प्राप्त करावे।

संहिता-पाठः

3. अग्निनां रयिमश्नवत्, पोषमेव दिवे दिंवे।

यशसं वीरवत्तमम्।।

पद-पाठः

अग्निना। रयिम्। अश्नवत्। पोषम्। एव। दिवेऽदिवे।

यशसम्। वीरवत्ऽतमम्।।3।।

अन्वय—अग्निना दिवेदिवे एव पोषम् यशसम् वीरवत्तमम् रयिम् अश्नवत्।

संस्कृत-व्याख्या—(योऽयं स्तुत्योऽग्निस्तेन) अग्निना = निमित्तभूतेन, (यजमानः) रयिम् = धनम्, अश्नवत् = प्राप्नोति। (यच्च धनम्) दिवे दिवे = प्रतिदिनम्, पोषम् = पुष्यमाणतया वर्धमानम् (न तु कदाचित् क्षीयमाणम्), यशसम् = दानादिना यशोयुक्तम, वीरवत्तमम् = अतिशयेन पुत्राभृत्यादिवीरपुरुषोपेतम्। तुष्टोऽग्निरुक्तरूपं धनं ददातीत्यर्थः।

शब्दार्थ—रयिम् = धन को। **अश्नवत्** = प्राप्त करता है। **पोषम्** = पोषण को प्राप्त होने वाले। **दिवेदिवे** = प्रतिदिन। **यशसम्** = यश को प्राप्त होने वाला। **वीरवत्तमम्** = पुत्र, भृत्य आदि वीरों से अत्यधिक युक्त।

हिन्दी अनुवाद— स्तुति किये जाते हुये अग्नि से यह यजमान प्रतिदिन ही निरन्तर पोषण को प्राप्त होने वाले, पान आदि के द्वारा यश को प्राप्त होने वाले और पुत्र भृत्य आदि वीरों से अत्यधिक युक्त धन को प्राप्त करता है।

संहिता-पाठः

4. अग्ने यं यज्ञमध्वरं, विश्वत्: परिभूरसि।

स इद् देवेषु गच्छति।

पद-पाठः

अग्ने। यम्। यज्ञम्। अध्वरम्। विश्वतः। परिऽभूः। असि।

सः। इत्। देवेषु। गच्छति।।4।।

अन्वय— अग्ने! यम् अध्वरम् यज्ञम् विश्वतः परिभूः असि स इत् देवेषु गच्छति।

संस्कृत-व्याख्या—(हे) अग्ने! (त्वम्) अध्वरम् = हिंसारहितम्, यज्ञम् विश्वतः = सर्वासु दिक्षु, परिभूः = परितः प्राप्तवान् असि। स इत् = स एव यज्ञः, देवेषु (तृप्तिं प्रणेतुं स्वर्गे) गच्छति प्राप्नोति। प्राच्यादिचतुर्दिक्षु यज्ञे आहवनीयमार्जालीयगार्हपत्याग्नीध्रीयस्थानेषु वह्निःस्थाप्यते।

शब्दार्थ—अध्वरम् = हिंसा से रहित यज्ञ को। **विश्वतः** = सभी दिशाओं में। **परिभूः असि** = प्राप्त कर रहे हो। **गच्छति** = पृप्ति के लिये प्राप्त होता है।

हिन्दी अनुवाद— हे अग्ने! तुम जिस हिंसा से रहित यज्ञ को सभी दिशाओं में प्राप्त कर रहे हो, वह ही यज्ञ देवताओं को भी तृप्ति के लिये प्राप्त होता है।

संहिता-पाठः

5. अग्निर्होता कविक्रतुः, सत्यश्चित्रश्रवस्तमः।

देवो देवेभिरा गमत्।।

पद-पाठः

अग्निः। होता। कविऽक्रतुः। सत्यः। चित्राश्रवःऽतमः।

देवः। देवेभिः। आ। गमत्।।5।।

अन्वय—होता कविक्रतुः सत्यः चित्रश्रवस्तमः देवः अग्निः देवेभिः आगमत्।

संस्कृत-व्याख्या—(अयम्) देवः = देवस्वरूपः, होता = होमनिष्पादकः, कविक्रतुः क्रान्तप्रज्ञः क्रान्तकर्मा वा, सत्यः अनृतरहितः (अवश्यं-फलदाता इति भावः), चित्राश्रवस्तमः = अतिशयेन विविध्कीर्तियुक्तः, देवेभिः=हविर्भोजिभिरन्यैर्देवैः सह, आगमत् = अस्मिन् यज्ञे समागच्छतु।

शब्दार्थ— होता = होम को निष्पन्न करने वाला। **कविक्रतुः** = अतीत और अनागत आदि कर्मों को जानने वाला। **सत्यः** = मिथ्या से रहित, निश्चय ही फलों का देने वाला। **चित्रश्रवस्तमः** = विविध प्रकार की कीर्ति से युक्त। **आगमत्** = आवे।

हिन्दी अनुवाद— होम को निष्पन्न करने वाला, अतीत और अनागत यज्ञ आदि कर्मों को जानने वाला, मिथ्या से रहित अर्थात् निश्चय ही फलों को देने वाला, विविध प्रकार की कीर्ति से युक्त होता हुआ, दिव्य गुणों से सम्पन्न यह अग्नि देवता अन्य देवताओं के साथ इस यज्ञ में आवे।

NOTES

संहिता-पाठः

6. यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि।

तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः।।

पद-पाठः

यत्। अङ्ग। दाशुषे। त्वम्। अग्ने। भद्रम्। करिष्यसि।

तव। इत। तत्। सत्यम्। अङ्गिरः।।6।।

अन्वय—अङ्ग अग्ने! यत् त्वम् दाशुषे भद्रम् करिष्यसि, तव तत् इत्। अङ्गिरः सत्यम्।

संस्कृत-व्याख्या— अङ्ग इत्यभिमुखीकरणार्थे, हे अग्ने। त्वम् (पूर्वोक्तगुणविशिष्टः), दाशुषे = हविर्दत्तवते यजमानाय, यद् भद्रम् = कल्याणम् (वित्तगृहप्रजापशुरूपम्) करिष्यसि, तत् (भद्रम्) तव इत् = तवैव वर्तते। हे अङ्गिरः, एतत् सत्यम् न त्वत्र कश्चिद् विसंवादोऽस्ति।

शब्दार्थ-दाशुषे = हवि का दान करने वाले यजमान के लिये। **भद्रम्** = कल्याण करने वाले पदार्थ **करिष्यसि** = प्रदान करोगे। **अङ्गिरः** = अङ्गार रूपी, अङ्गिरा मुनि को जन्म देने वाले पदार्थ।

हिन्दी अनुवाद— हे अग्ने! जो भी तुम हवि का दान करने वाले यजमान के लिये धन गृह, प्रजा, पशु आदि कल्याण करने वाले पदार्थ प्रदान करोगे, वे सब पदार्थ तुम्हारे ही हैं। वे अङ्गार रूपी अग्नि देवता! अथवा हे अङ्गिा मुनि को जन्म देने वाले अग्नि देवता। यह बात सच ही है। इसमें कोई संशय नहीं है।

संहिता-पाठः

7. उप त्वाग्ने दिवेदिवे, दोषावस्तर्धिया वयम्।

नमो भरन्त एमसि।।

पद-पाठः

उप। त्वा। अग्ने। दिवेऽदिवे। दोषाऽवस्तः। धिया। वयम्।

नमः। भरन्तः। आ। इमसि।।7।।

अन्वय— अग्ने! वयम् दिवेदिवे दोषावस्तः धिया नमः भरन्त उप त्वा आ इमसि।

संस्कृत-व्याख्या—हे अग्ने! वयम् = अनुष्ठातारः, दिवेदिवे = प्रतिदिनम्, दोषावस्तः = रात्रिन्दिवम्, धिया= बुद्ध्या, नमः = नमस्कारम्, भरन्तः = सम्पादयन्तः, उप त्वा = तव समीपम्, एमसि = आगच्छामः।

शब्दार्थ— उप=समीप। दिवेदिवे = प्रतिदिन। दोषावस्तः = रातदिन। धिया = उत्तम बुद्धि से। नमो भरन्तः = नमस्कार करते हुये। एमसि = आते हैं।

हिन्दी अनुवाद— हे अग्नि देव। हम यज्ञ का अनुष्ठान करने वाले प्रतिदिन और दिन-रात उत्तम बुद्धि से नमस्कार करते हुये तुम्हारे समीप आते हैं।

संहिता-पाठः

8. राजन्तमध्वराणा गोपामृतस्य दीदिविम्।

वर्धमानं स्वे दमे।।

पद-पाठः

राजन्तम्। अध्वराणाम्। गोपाम्। ऋतस्य। दीदिविम्।

वर्धमानम्। स्वे। दमे।।8।।

अन्वय—राजन्तम्, अध्वराणाम् गोपाम्, ऋतस्य दीदिविम, स्वे दमे वर्धमानम्।

संस्कृत-व्याख्या— पूर्वमन्त्रे 'उप त्वा एमसि' इति यदुक्तं तत्र 'त्वा' इत्यस्य विशेषणमन्यद् वक्ति। कीदृशं त्वाम्—राजन्तम् = दैदीप्यमानम्, अध्वराणाम् = हिंसारहितानां यज्ञानाम् गोपाम् = रक्षकम्, ऋतस्य = सत्यस्य (कर्मफलस्य), दीदिविम् = पौन्य:पुन्येन द्योतकम्, स्वे दमे = स्वकीये गृहे (यज्ञशालायाम्) वर्धमानम् (हविर्भिरिति शेष:)।

शब्दार्थ— राजन्तम् = प्रकाशमान होते हुये। **अध्वराणाम्** = हिंसा रहित यज्ञों के। **गोपाम्** = रक्षक। **ऋतस्य** = सत्य कर्मफलों के। **दीदिविम्** = पुन: पुन: प्रकाशित करने वाले। **वर्धमानम्** = बढ़ने वाले। **स्वे** = अपने। **दमे** = घर यज्ञशाला में।

हिन्दी अनुवाद— पूर्व मन्त्र में जिस अग्नि को सम्बोधित किया गया है, उसके अन्य विशेषण कहे जाते हैं- प्रकाशमान होते हुये, हिंसारहित यज्ञों के रक्षक, सत्य कर्मफलों को पुन: पुन: प्रकाशित करने वाले अपने गृह यज्ञशाला में बढ़ने वाले (अग्नि के समीप हम जाते हैं, पहले श्लोक से अन्वित है)।

संहिता-पाठः

9. स न: पितेव सूनवे, अग्ने सूपायनो भव।

सचस्वा न: स्वस्तये।।

पद-पाठः

स: न:। पिताऽइव। सूनवे। अग्ने। सुऽउपायन:। भव।

सचस्व। न:। स्वस्तये।।9।।

अन्वय— स: अग्ने! सूनवे पिता इव न: सूपायन: भव। न: स्वस्तये सचस्व।

संस्कृत-व्याख्या—हे अग्ने। स: = पूर्वोक्तगुणसम्पन्नस्त्वम्, न: = अस्मदर्थम् सूपायन: = शोभनप्राप्तियुक्त: भव। (तथा) न: = अस्माकम् स्वस्तये = कल्याणाय विनाशराहित्यार्थम्, सचस्व = समवेतो भव। (तत्रोभयत्र दृष्टान्तं ददाति) पितेवेति, यथा पुत्रार्थ पिता सुप्राप: प्रायेण समवेतो भवति तद्वत्।

शब्दार्थ—सूनवे = पुत्र के लिये। **सूपायन:** = सुप्राप्य, कल्याण करने वाला। **सचस्व** = संग रहो। **स्वस्तये** = कल्याण के लिये।

हिन्दी अनुवाद— पहले मन्त्रों में कहे गये गुणों से सम्पन्न हे अग्नि देव! जिस प्रकार पिता पुत्रा के लिये सुप्राप्य और कल्याण करने वाला होता है, उसी प्रकार तुम भी हमारे लिये सुप्राप्य बनो और हमारे कल्याण के लिये हमारे संग रहो।

2. इन्द्रः-सूक्त

NOTES

मण्डल 2 | सूक्त 2

ऋषि—गृत्समद | देवता—इन्द्र | छन्द:—त्रिष्टुप्

संहिता-पाठः

1. यो जात एव प्रथमो मनस्वान्, देवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत्।

यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां, नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः।।

संहिता-पाठः

यः। जातः। एव। प्रथमः। मनस्वान्।

देवः। देवान्। क्रतुना। परिऽअभूषत्।

यस्य शुष्मात्। रोदसी इति। अभ्यसेताम्।

नृम्णस्य मह्ना। सः। जनासः। इन्द्रः।।1।।

अन्वय—जनासः। यः जातः एवं प्रथमः मनस्वान् देवः क्रतुना देवान् पर्यभूषत् यस्य शुष्मात् रोदसी अभ्यसेताम्, नृम्णस्य मह्ना स इन्द्रः।

शब्दार्थ— जातः = उत्पन्न हुआ। प्रथमः = प्रमुख, परम। मनस्वान् = मनस्वी। देवः = दिव्य गुणों से युक्त। क्रतुना = यज्ञ से, कर्म से। परि अभूषत् = अतिक्रमण किया। शुष्मात् = बल से। रोदसी = द्युलोक और पृथिवी लोक। अभ्यसेताम् = डरते थे, काँपते थे। नृम्णस्य = सेना के। मह्ना = महत्व से। जनासः = हे मनुष्यो, असुरो।

हिन्दी अनुवाद— हे मनुष्यो! अथवा हे असुरो! जो उत्पन्न होते ही सब देवताओं में प्रमुख परम मनस्वी हुआ, दिव्य गुणों से युक्त होते हुए, जिसने यज्ञ से या वृत्र के वध आदि कर्मों से अन्य देवताओं को अलंकृत किया या अन्य देवताओं की शक्ति का अतिक्रमण किया, जिसके शारीरिक बल से द्युलोक, पृथिवी लोक डरते थे या कांपते थे, महती सेना के महत्व से युक्त वह ही इन्द्र है।

संहिता-पाठः

2. यः पृथिवीं व्यथमानामदृहद् यः पर्वतान्प्रकुपिताँ अरम्णात्।

यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभनात्स जनास इन्द्रः।।

पद-पाठः

यः पृथिवीम्। व्यथमानाम्। अदृंहत्।

यः। पर्वतान्। प्रऽकुपितान्। अरम्णात्।

यः। अन्तरिक्षम्। विऽममे। वरीयः।

यः। द्याम्। अस्तभ्नात्। सः। जनासः। इन्द्रः।।2।।

अन्वय—जनासः। यः व्यथमानाम् पृथिवीम् अदृंहत्, यः प्रकुपितान्, पर्वतान् अरम्णात्, यः वरीयः अन्तरिक्षम् विममे, यः द्याम् अस्तभ्नात् स इन्द्रः।

शब्दार्थ— **व्यथमानाम्** = हिलती हुई। **अदृंहत्** = स्थिर कर दिया था। **प्रकुपितान्** = कुपित हुये, इच्छानुसार इधर-उधर स्वच्छन्द विचरण करते हुये। **अरम्णात्** = नियमित कर दिया था। **वरीयः** = विस्तृत। **अस्तभ्नात्** = थामा हुआ। **द्याम्** = द्युलोक को।

हिन्दी अनुवाद— हे असुरो! जिसने हिलती हुई पृथिवी को स्थिर कर दिया था अर्थात् जिसने पृथिवी को और उस पर रहने वाले प्राणियों को स्थिरता प्रदान की थी। जिसने कुपित हुए अर्थात् इच्छानुसार इधर-उधर स्वच्छन्द विचरण करते हुए पंखों से युक्त पर्वतों को अपने-अपने स्थान पर नियमित कर दिया था? जिसने विस्तृत अन्तरिक्ष की रचना की थी या विस्तार किया था और जिसने द्युलोक को थामा हुआ है, वही इन्द्र है।

संहिता-पाठः

3. यो हत्वाहिमरिणात्सप्त सिन्धून् यो गा उदाजदपधा बलस्य।
   यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक्समत्सु स जनास इन्द्रः।।

पद-पाठः

यः। हत्वा अहिम्।। अरिणात्। सप्त। सिन्धून्।
यः। गाः। उतऽआजत्। अपऽधा। बलस्य।
यः। अश्मनोः। अन्तः। अग्निम्। जनान।
सम्ऽवृक्। समत्ऽसु। सः। जनासः। इन्द्रः।।3।।

अन्वय— जनासः! यः अहिम् हत्वा सप्त सिन्धून् अरिणात्।, यः बलस्य अपधा गाः उदाजत्, यः अश्मनोः अन्तः अग्निम् जजान, समत्सु संवृक् स इन्द्रः।

शब्दार्थ— **हत्वा** = मार कर हटा कर। **अहिम्** = वृत्रा को, जल रोकने वाले पर्वत को। अरिणात् = बहाया था। सिन्धून् = नदियों को। बलस्य = बल नामक दैतय की। उदाजत् = बन्धन से मुक्त कर बाहर निकाला था। अपधा = रोकी गयी। अश्मनोः = मेघो के, चट्टानों के। अन्तः = अन्दर। अग्निम् = विद्युत अग्नि को। जजान = उत्पन्न किया था। संवृक् = विनाश किया था। समत्सु = युद्धों में।

हिन्दी अनुवाद— हे असुरों! जिस इन्द्र ने वृत्र को मारकर अर्थात् जल रोकने वाले पर्वतों को हटाकर सात नदियों का बहाया था, जिसने बल नामक दैत्य के द्वारा गुफा में रोकी गई गायों को बन्धन से मुक्त कर बाहर निकाला था, जिसने दो मेघों के या चट्टानों के अन्दर विद्युत-अग्नि को उत्पन्न किया था और जिसने युद्धों में शत्रुओं का अच्छी प्रकार विनाश किया था, वही इन्द्र है।

संहिता-पाठः

4. येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि, यो दासं वर्णमधरं गुहाकः।
   श्वघ्नीव यो जिगीवाँल्लक्षमादद्, अर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः।।

पद-पाठः

येन। इमा। विश्वा। च्यवना। कृतनि।
यः। दासम्। वर्णम्। अधरम्। गुहा। अकरित्यकः।
श्वघ्नीऽइव। यः। जिगीवान्। लक्षम्। आदत्।
अर्य पुष्टानि। सः। जनासः। इन्द्रः।।4।।

अन्वय—येन मा विश्वा च्यवना कृतानि, य: दासम् वर्णम् अधरम् गुहा अक:, य लक्षम् जिगीवान्, य: अर्य: पुष्टानि श्वघ्नी इव आदत्, जनास: स इन्द्र:।

शब्दार्थ— विश्वा= सम्पूर्ण भवन। **च्यवना** = नश्वर। **कृतानि** = स्थिर किया है। **दासं वर्णम्** = हिंसा करने वाली जाति को। **अधरम्** = निकृष्ट असुर। **गुहा** = गूढ स्थान, नरक। **अक:** = कर दिया है, डाल दिया है। **श्वघ्नी** = शिकारी, जुआरी। **जिगीवान्** = जीत लिया है। **लक्षम्** = लक्ष्य को। **आदत्** = छीन लिया है। **अर्य:** = शत्रु के। **पुष्टानि** = धनों को।

NOTES

हिन्दी अनुवाद— जिसने इन सम्पूर्ण नश्वर भुवनों को स्थिर किया है, जिसने दास अर्थात् शूद्र आदि वर्णों को गुफा आदि स्थानों में स्थापित कर दिया है, अथवा हिंसा करने वाली असुर जाति को नरक में डाल दिया है, जिसने लक्ष्य को जीत लिया है और जिसने शत्रुओं के धनों को उसी प्रकार छीन लिया है, जैसे शिकारी या जुआरी छीन लेता है, हे असुरो! वही इन्द्र है।

संहिता-पाठः

5. यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरम् उतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।

सो अर्य: पुष्टीर्विज इवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्र:।।

पद-पाठः

यम्। स्म। पृच्छन्ति। कुह। स:। इति। घोरम्।

उत। ईम्। आहु:। न एष:। अस्ति। इति। एनम्।

स:। अर्य:। पुष्टी:। विज:ऽइव। आ। मिनाति।

श्रत्। अस्मै। धत्त स:। जनास:। इन्द्र:।।5।।

अन्वय—कुह स: इति यम् घोरम् पृच्छन्ति स्म, उत ईम् एष: न अस्ति इति आहु:, स: विज: इव अर्य: पुष्टी: आ मिनाति, श्रत् अस्मै धत्त, जनास: स इन्द्र:।

शब्दार्थ— कुह = कहाँ है। **घोरम्** = भयानक। **उत ईम् एनम्** = और निश्चय से जिसके विषय में। **पुष्टी:** = पोषक सम्पत्तियों की। **विज: इव** = विजेता के समान। **आमिनाति** = छीन लेता है। **श्रत्** = श्रद्धा। **धत्त** = धारण करो।

हिन्दी अनुवाद— वह कहाँ है? इस प्रकार जिस भयानक इन्द्र के सम्बन्ध में लोग पूछते रहते हैं और निश्चय ही जिसके विषय में यह नहीं है इस प्रकार कहते हैं, वह विजेता के समान शत्रु की पोषक सम्पत्तियों गौ आदि को छीन लेता है। इस इन्द्र के लिये श्रद्धा को धारण करो। हे असुरो! वही इन्द्र है।

संहिता-पाठः

6. यो रध्रस्य चोदिता य: कृशस्य सो ब्रह्मणो नाधमानस्य कीरे:।

युक्तग्राव्णो योऽविता सुशिप्र: सुतसोमस्य स जनास इन्द्र:।।

पद-पाठः

य: रध्रस्य। चोदिता। य:। कृशस्य।

य:। ब्रह्मण:। नाधमानस्य। कीरे:।

युक्तऽग्राव्ण:। य:। अविता। सुऽशिप्र:।

सुतऽसोमस्य। स:। जनास:। इन्द्र:।।6।।

अन्वय— यः रध्रस्य चोदिता यः कृशस्य यः नाधमानस्य कीरेः। ब्रह्मणः सुशिप्र यः युक्तग्राव्णः सुतसोमस्य अविता जनासः सः इन्द्रः।

शब्दार्थ— रध्रस्य = समृद्धिशाली व्यक्ति का। **चोदिता** = प्रेरणा देने वाला। **कृशस्य** = निर्धन का। **ब्रह्मणः** = ब्राह्मण का। **नाधमानस्य** = याचना करने वाले। **कीरेः** = स्तुति करने वाले। **युक्तग्राव्णः** = अभिषव करने के लिये पत्थरों को उद्यत किये हुये का। **अविता** = रक्षा करने वाला। **सुशिप्रः** = सुन्दर ठोड़ी वाला। **सुतसोमस्य** = सोमरस को निचोड़ने वाले का।

हिन्दी अनुवाद — जो समृद्धिशाली व्यक्ति को प्रेरणा देने वाला है, जो निर्धन को प्रेरणा देने वाला है, जो याचना करने वाले और स्तुति करने वाले ब्राह्मण को प्रेरणा देने वाला है, जो निर्धन को प्रेरणा देने वाला है, जो याचना करने वाले और स्तुति करने वाले ब्राह्मण को प्रेरणा देने वाला है और सुन्दर ठोड़ी वाला जो अभिषव करने के लिये पत्थरों को उद्यत किये हुए सोमरस को निचोड़ने वाले यजमान की रक्षा करता है, हे असुरो! वही इन्द्र है।

संहिता-पाठः

7. यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य गावो यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथासः।

य: सूर्यं य उषसं जजान यो अपां नेता स जनास इन्द्रः।।

पद-पाठः

यस्य। अश्वासः। प्रऽदिशि। यस्य। गावः।

यस्य। ग्रामाः। यस्य। विश्वे। रथासः।

यः। सूर्यम्। यः। उषसम्। जजान।

यः। अपाम्। नेता। सः। जनासः। इन्द्रः ।।7।।

अन्वय— यस्य प्रदिशि अश्वासः, यस्य गावः, यस्य ग्रामाः, यस्य विश्वे रथासः, यः सूर्यम्, य उषसम् जजान यः अपाम् नेता, जनासः। सः इन्द्रः।

शब्दार्थ— अश्वासः = घोड़े हैं। **प्रदिशि** = अनुशासन में। **विश्वे** = सब। **रथासः** = रथ हैं। **जजान** = उत्पन्न किया था। **अपाम् नेता** = मेघों में से जलों को लाने वाला।

हिन्दी अनुवाद — जिसके अनुशासन में घोड़े रहते हैं, जिसके अनुशासन में गौयें रहती हैं, जिसके अनुशासन में गांव रहते हैं, जिसके अनुशासन में सब रथ रहते हैं, जिसने सूर्य को और जिसने ऊषा को उत्पन्न किया था एवं जो मेघों में से जलों को लाने वाला है, हे असुरो! वही इन्द्र है।

संहिता-पाठः

8. यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते परेऽवर उभया अमित्राः।

समानं चिद्रथमातस्थिवांसा नाना हवेते स जनास इन्द्रः।।

पद-पाठः

यम्। क्रन्दसी इति। संयती इति सम्ऽयती। विह्वयेते।

इति विऽह्वयेते। परे। अवरे। उभयाः। अमित्राः।

समानम्। चित्। रथम्। आतस्थिऽवांसा।

नाना। हवेते इति। सः। जनासः। इन्द्रः।।8।।

अन्वय— क्रन्दसी संयती यम् विह्वयेते। परे अवरे उभया: अमित्रा:। समानम् चित् रथम् आतस्थिवांसा नाना हवेते। जनास:। स इन्द्र:।

शब्दार्थ— क्रन्दसी= द्युलोक और पृथिवी लोक, शोर करती हुई दो सेनायें। **संयती** = मिल कर। **विह्वयेते** = आवाहन करती है। **परे** = उत्तम। **अवरे** = अधम। **उभया** = दोनों प्रकार के। **अमित्रा:** = शत्रु। **आतस्थिवांसा** = बैठे हुये। **नाना** = अनेक प्रकार से। **हवेते** = पुकारे जाते हैं।

हिन्दी अनुवाद— शब्द करते हुए द्युलोक और पृथिवी लोक मिलकर जिसका अपनी रक्षा के लिये आह्वान करते हैं अथवा शोर करती हुई परस्पर युद्ध के लिये सामने खड़ी दो सेनायें सहायता के लिये जिसको पुकारती हैं, उत्तम और अधम दोनों प्रकार के शत्रु जिसका आह्वान करते हैं, इन्द्र के रथ के समान रथ पर बैठे हुए दोनों पक्ष अनेक प्रकार से जिसका आह्वान करते हैं, एक ही रथ पर बैठे हुए इन्द्र और अग्नि यज्ञ के लिये यजमानों द्वारा पुकारे जाते हैं; असुरो! वही इन्द्र है।

संहिता-पाठः

9. यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।

यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत्स जनास इन्द्र:।।

पद-पाठः

यस्मात्। न। ऋते। विऽजयन्ते। जनास:।

यम्। युध्यमाना:। अवसे। हवन्ते।

य:। विश्वस्य। प्रतिऽमानम्। बभूव।

य: अच्यूतऽच्युत्। स:। जनास:। इन्द्र:।।9।।

अन्वय—यस्मात् ऋते जनास: न विजयन्ते, युध्यमाना: अवसे यम् हवन्ते, य: विश्वस्य प्रतिमानम् बभूव, य: अच्युतच्युत्, जनास:। स इन्द्र:।

शब्दार्थ— ऋते = बिना। **विजयन्ते** = विजय प्राप्त करते हैं। **अवसे** = रक्षा के लिये। **हवन्ते** = आह्वान करते हैं। **प्रतिमानम्** = प्रतिनिधि, रक्षक। **अच्युतच्युत्** = क्षय रहित पर्वतों का विनाश करने वाला, अचल को चल बनाने वाला।

हिन्दी अनुवाद— जिस इन्द्र के बिना मनुष्य विजय को प्राप्त नहीं करते, युद्ध करते हुए सैनिक अपनी रक्षा के लिये जिसका आह्वान करते हैं, जो सम्पूर्ण जगत का प्रतिनिधि या रक्षक है, जो क्षय रहित पर्वतों का भी विनाश करने वाला है अथवा अचल को भी बनाने वाला है, हे असुरो! वही इन्द्र है।

संहिता-पाठः

10. य: शश्वतो महोनो दधानान् अमन्यमानाञ्छर्वा जघान।

य: शर्धते नानुददाति शृध्यां यो दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्र:।।

पद-पाठः

य: शश्वत:। महिं। एन:। दधानान्।

अमन्यमानात्। शर्वा। जघान।

य:। शर्धते। न। अनुऽददाति। शृध्याम्।

य:। दस्यो:। हन्ता। स:। जनास:। इन्द्र:।।10।।

NOTES

अन्वय—य: महि एन: दधानान् अमन्यमानान् शश्वत: शर्वा जघान, य: शर्धते शृध्याम् न अनुददाति, य: दस्यो: हन्ता, जनास:। स इन्द्र:।

शब्दार्थ—शश्वत: = बहुतों का। **महि** = महान्, अत्यधिक। **एन:** = पाप को। **दधानान्** = धारण करने वाले। **अमन्यमानान्** = अवज्ञा करने वाले। **शर्वा** = वज्र से। **जघान** = वध कर दिया था। **शर्धते** = हिंसा करने वाले को, चुनौती देने वाले को। **शृध्याम्** = उत्साह से युक्त कर्म। **हन्ता** = मारने वाला।

हिन्दी अनुवाद— जिसने अत्यधिक पाप को धारण करने वाले और अवज्ञा करने वाले बहुत से व्यक्तियों का वज्र से वध कर दिया था, जो हिंसा करने वाले या चुनौती देने वाले व्यक्तियों को उत्साह से युक्त कर्म को नहीं देता है, जो दस्युओं को मारने वाला है, हे असुरो! वही इन्द्र है।

संहिता-पाठ:

11. य: शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वरिंश्यां शरद्यन्वविन्दत्।

ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्र:।।

पद-पाठ:

य: शम्बरम्। पर्वतेषु। क्षियन्तम्।

चत्वारिंश्याम्। शरदिं अनुऽअविंन्दत्।

ओजायमानम्। य:। अहिंम्। जघान।

दानुम्। शयानम्। स: जनास:। इन्द्र:।।11।।

अन्वय—य: पर्वतेषु क्षियन्तम् शम्बरम् चत्वारिंश्याम् शरदि अन्वविदन्तु, य: ओजायमानम् अहिम् दानुम् शयानम् जघान, जनास:। स: इन्द्र:।

शब्दार्थ—शम्बरम् = शम्बर नाम के असुर को। **क्षियन्तम्** = निवास करने वाले। **चत्वारिंश्याम्** = चालीसवीं। **शरदि** = शरद ऋतु में। **अन्वविन्दत्** = खोज कर पा लिया था। **ओजायमानम्** = बल का प्रदर्शन करते हुए। **अहिम्** = प्रहार करने वाले। **दानुम्** = दनु के पुत्र असुर को। **शयानम्** = सोते हुये को, लेटे हुये को।

हिन्दी अनुवाद— जिसने अपने डर से पर्वतों में छिप कर निवास करने वाले शम्बर नाम के असुर को चालीसवीं शरद् ऋतु में (चालीसवें वर्ष में) खोज कर पा लिया था और जिसने बल का प्रदर्शन करते हुए, प्रहार करने वाले उस दनु के पुत्र असुर को सोते हुए को या लेटे हुए को मार डाला था, हे असुरो! वही इन्द्र हैं।

संहिता-पाठ:

12. य: सप्तरश्मिरर्वृषभस्तुविष्मान् अवासृजत्सर्तवे सप्त सिन्धून्।

यो रौहिणमस्फुरद् बज्रबाहुर द्यामोरोहन्तं स जनास इन्द्र:।।

पद-पाठ:

य:। सप्तऽरश्मि:। वृषभ:। तुविष्मान्।

अवऽअसृजत्। सर्तवे। सप्त। सिन्धून्।

यः। रौहिणम्। अस्फुरत्। वज्रऽबाहुः।

द्याम्। आऽरोहन्तम्। सः। जनासः। इन्द्रः ।।12।।

अन्वय— सप्तरश्मिः वृषभः तुविष्मान् यः सप्त सिन्धून् सर्तवे अवासृजत्। वज्रबाहुः यः द्याम् आरोहन्तम् रौहिणम् अस्फुरत्, जनासः सः इन्द्रः।

शब्दार्थ— सप्तरश्मिः = सात प्रकार के मेघों का नियन्ता। **वृषभः** = वर्षा करने वाला। **तुवष्मिान्** = शक्तिशाली, बुद्धिमान्। **अवासृजत्** = प्रवाहित किया था। **सर्तवे** = बहने के लिए। **सप्त** = बहने वाले। **सिन्धून्** = जलों को। **रौहिणम्** = रौहिण नाम के असुर को। **अस्फुरत्** = मारा था। **वज्रबाहुः** = बज्र को बाहु में उठाकर। **आरोहन्तम्** = चढ़ते हुए।

हिन्दी अनुवाद— सात प्रकार के मेघों के नियन्ता, वर्षा करने वाले शक्तिशाली या बुद्धिमान् जिसने बहने के स्वभाव वाले जलों को बहने के लिए प्रवाहित किया था और वज्र को बाहु में उठाकर जिस इन्द्र के द्युलोक में चढ़ते हुए रौहिण नाम के असुर को मारा था, हे असुरो! वही इन्द्र है।

संहिता-पाठः

13. द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते शुष्माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते।

यः सोमपा निचितो वज्राहुर यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः।।

पद-पाठः

द्यावा। चित्। अस्मै। पृथिवी इति। नमेते इति।

शुष्मात्। चित् अस्य। पर्वताः। भयन्ते।

यः। सोमऽपाः। निऽचितः। वज्रबाहुः।

यः। वज्रऽहस्तः। सः। जनासः। इन्द्रः।।13।।

अन्वय—अस्मै द्यावा चित् पृथिवी नमेते, अस्य शुष्मात् पर्वताः चित् भयन्ते। यः सोमपाः निचितः वज्रबाहुः, यः वज्रहस्तः, जनासः सः इन्द्रः।

शब्दार्थ— नमेते = प्रणाम करने के लिए झुक जाते हैं। **शुष्मात्** = बल से। **भयन्ते** = भय खाते हैं। **सोमपाः** = सोमरस का पान करने वाला। **निचितः** = दृढ़ अंगों वाला। **वज्रबाहुः** = वज्र के समान कठोर भुजा वाला। **वज्रहस्तः** = वज्र को हाथ में धारण करने वाला।

हिन्दी अनुवाद— इस इन्द्र के लिये द्युलोक और पृथिवी लोक भी प्रणाम करने के लिए स्वयं झुक जाते हैं। इसके बल से पर्वत भी भय खाते हैं। जो इन्द्र सोमरस का पान करने वाला है, दृढ़ अंगों वाला है, वज्र के समान कठोर भुजाओं वाला है, और जो हाथ में वज्र को धारण किये हुए है, हे असुरो! वही इन्द्र है।

संहिता-पाठः

14. यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं यः शंसन्त यः शशमानमूती।

यस्य ब्रह्म वर्धनं यस्य सोमो यस्येद। राधः स जनास इन्द्रः।।

पद-पाठः

यः। सुन्वन्तम्। अवति। यः। पचन्तम्।

यः। शंसन्तम्। यः शशमानम्। ऊती।

यस्य। ब्रह्म। वर्धनम्। यस्य। सोमः।

यस्य। इदम् राधः। सः। जनासः। इन्द्रः।।14।।

अन्वय— यः सुन्वन्तम् अवति, यः पचन्तम्, यः ऊती शंसन्तम्, यः शशमानम्, ब्रह्म यस्य वर्धनम्, यस्य सोमः, यस्य इदम् राधः, जनासः सः इन्द्रः।

शब्दार्थ— **सुन्वन्तम्** = सोम रस निकालने वाले को। **अवति** = रक्षा करता है। **पचन्तम्** = हवियों को पकाने वाले की। **शंसन्तम्** = स्तुति करने वाले की। **शशमानम्** = स्रोत पढ़ने वाले की, यज्ञ करने वाले की। **ऊती** = रक्षा करने के लिए। **ब्रह्म** = ब्रह्मा नामक स्तोत। **वर्धनम्** = बढ़ाने वाला। **राधः** = पुरोडाश आदि अन्न।

हिन्दी अनुवाद— जो सोम का रस निकालने वाले यजमान की रक्षा करता है, जो पुराडोश आदि हवियों को पकाने वाले यजमान की रक्षा करता है, जो रक्षा करने के लिए स्तुति करने वाले यजमान की रक्षा करता है, जो स्तोत्र पढ़ने वाले या यज्ञ करने वाले यजमान की रक्षा करता है, वृद्धि करने वाले ब्रह्म नामक स्तोत्र बढ़ाते हैं, सोमरस जिसका बढ़ाने वाला है, यह सब पुरोडाश आदि अन्न जिसके हैं, हे असुरो! वही इन्द्र है।

संहिता-पाठः

15. यः सुन्वते पचते दुध आ चिट् वाजं दर्दर्षि स किलासि-सत्यः।

वयं त इन्द्र विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमा वदेम।।

पद-पाठः

यः। सुन्वते। पचते। दुध्रः। आ। चित्।

वाजम्। दर्दर्षि। सः। किल। असि। सत्यः।

वयम्। ते। इन्द्र। विश्वह। प्रियासः।

सुऽवीरासः। विदथम्। आ वदेम।।15।।

अन्वय— दुध्रः यः सुन्वते पचते चित् वाजम् आदर्दर्षि, किल सः सत्यः असि। इन्द्र! वयम् ते प्रियासः सुवीरासः विश्वह विदथम् आ वदेम।

शब्दार्थ— **सुन्वते** = सोम का अभिषव करने वाले के लिये। **पचते** = हवियों को पकाने वाले के लिये। **दुध्रः** = दुर्धर, **असह्यः** प्रभाव वाला। **वाजम्** = बल, अन्न। **दर्दर्षि** = देता है। **विश्वह** = सब दिनों में। **प्रियासः** = प्रिय होते हुए। **सुवीरासः** = उत्तम पुत्रा-पौत्रों से युक्त होते हुए। **विदथम्** = स्तुति को। **आवदेम** = अच्छी प्रकार से गाते रहें।

हिन्दी अनुवाद = दुर्धर अर्थात् असह्य प्रभाव वाला होता हुआ जो इन्द्र अभिषव करने वाले और पुरोडाश आदि हवियों को पकाने वाले यजमान के लिये बल या अन्न को प्रदान करता है, वह निश्चत ही सत्य है अर्थात् उसकी सत्ता वास्तविक है। हे इन्द्र! हम तुम्हारे प्रिय होते हुए उत्तम पुत्र-पौत्रों से युक्त होते हुए सब दिनों में अर्थात् सदा तुम्हारी स्तुति को अच्छी प्रकार से गाते रहें।

3. उषस् (उषा) सूक्त

NOTES

मण्डल 1 **सूक्त 3**

ऋषि—प्रस्कण्व **देवता**— उषा **छन्दः** — बार्हत (बृहती और सतोबृहती का मिश्रण)

संहिता-पाठः

1. सह वामेन न उषो व्युच्छा दुहितर्दिवः।

सह द्युम्नेन बृहता विभावरि राया देवि दास्वती।

पद-पाठः

सह। वामेन। नः। उषः। वि। उच्छ। दुहितः। दिवः।

सह। द्युम्नेन। बृहता। विभाऽवरि। राया। देवि दास्वती।।1।।

अन्वय— दिवः दुहितः उषः नः वामेन सह व्युच्छ। विभावरि बृहता द्युम्नेन सह। देवि दास्वती राया।

शब्दार्थ— सह = साथ। **वामेन** = प्रशंसनीय धन से। **नः** = हमारे लिये। **वि उच्छ** = प्रकट होओ। **उषः** = हे उषा देवी। **दुहितः** = पुत्री। **दिवः** = द्युलोक की। **द्युम्नेन** = अन्न से। **बृहता** = महान्। **विभावरि** = विशेष रूप से कान्तिमती। **राया** = पशु रूप धन से। **देवि** = हे उषा देवि। **दास्वती** = दानशील होती हुई।

हिन्दी अनुवाद— हे द्युलोक की पुत्री उषा देवि! हमारे लिये प्रशंसनीय धन के साथ प्रकट होओ। हे विशेष रूप से कान्तिमति उषा देवि! हमारे लिये महान् अन्न के साथ प्रकट होओ। हे देवि! दानशीला होती हुई तुम हमारे लिये पशु रूप धन के साथ प्रकट होओ।

संहिता-पाठः

2. अश्वावतीर्गोमतीर्विश्वसुविदो भूरि च्यवन्त वस्तवे।

उदीरय प्रति मा सूनृता उषश्चोद राधो मघोनाम्।।

पद-पाठः

अश्वऽवतीः। गोऽमतीः। विश्वऽसुविदः।

भूरि। च्यवन्त। वस्तवे।

उत्। ईरय। प्रति। मा। सूनृताः। उषः।

चोद। राधेः। मघोनाम्।।2।।

अन्वय— अश्वावतीः गोमतीः विश्वसुविदः वस्तवे भूरि च्यवन्त। उषः। मा प्रति सूनृताः उदीरय। मघोनाम् राधः चोद।

शब्दार्थ—अश्वावतीः = बहुत से घोड़ों से युक्त। **गोमतीः** = बहुत सी गौओं से युक्त। **विश्वसुविदः** = सब धनों को अच्छी प्रकार प्राप्त कराने वाली। **भूरि** = बहुत अधिक। **च्यवन्त** = प्राप्त होओ। **वस्तवे** = निवास करने के लिये। **उदीरय** = कहो। **मा प्रति** = मेरे प्रति। **सूनृताः** = उत्तम प्रिय हितकारी वाणियों को। **उषः** = हे उषा देवता। **चोद** = प्रेरित करो। **राधः** = धन को। **मघोनाम्** = धनियों के।

हिन्दी अनुवाद— बहुत से घोड़ों से युक्त, बहुत सी गोओं से युक्त और सब धनों की अच्छी प्रकार प्राप्त कराने वाली हे उषा देवता। प्रजाओं के निवास के लिये तुम बहुत अधिक प्राप्त होओ। हे उषः। मेरे प्रति उत्तम प्रिय हितकारी वाणियों को कहो। तुम धनियों के धन को मेरे लिये प्रेरित करो।

संहिता-पाठः

NOTES

3. उवासोषा उच्छाच्च नु देवी जीरा रथानाम्।
ये अस्या आचरणेषु दध्रिरे समुद्रे न श्रवस्यवः।।

पद-पाठः

उवास। उषाः। उच्छात्। च। नु।

देवी। जीरा। रथानाम्।

ये। अस्याः। आऽचरणेषु। दध्रिरे।

समुद्रे। न। श्रवस्यवः। ।3।।

अन्वय—रथानाम् जीरादेवी उषाः उवास च नु अच्छात्। ये अस्याः आचरणेष दध्रिरे श्रवस्यवः समुद्रे न।

शब्दार्थ—उवास = निवास करती थी। **उच्छात्** = प्रकट होती है। **नु** = अब। **जीरा** = प्रेरित करने वाली। **रथानाम्** = रथों की। **आचरणेषु** = आगमन होने पर। **दध्रिरे** = तैयार किये जाते हैं। **समुद्रे** = समुद्र में। **न** = के समान। **श्रवस्यवः** = धन की कामना करने वाले।

हिन्दी अनुवाद— रथों को प्रेरित करने वाली देवी उषा पहले भी निवास करती थी (प्रभात करती थी) और अब भी प्रकट होती है (प्रभात करती है) तो रथ इस उषा के आगमन होने पर उसी प्रकार तैयार किये जाते हैं, जिस प्रकार धन की कामना करने वाले समुद्र में (अपनी नौकाओं को) तैयार करते हैं।

संहिता-पाठः

4. उषे ये ते प्र यामेषु युञ्जते मनो दानाय सूरयः।
अत्राह तत्कण्व एषां कण्वतमो नाम गृणाति नृणाम्।।

पद-पाठः

उषः। ये। ते। प्र। यामेषु। युञ्जते।

मनः। दानाय। सूरयः।

अत्र। अह। तत्। कण्वः। एषाम्। कण्वऽतमः।

नाम। गृणाति। नृणाम्। ।4।।

अन्वय— उषः ते यामेषु ये सूरयः दानाय मनः प्रयुञ्जते, एषां नृणां तत् नाम कण्वतमः कण्वः अत्र अह गृणाति।

शब्दार्थ— **उषः** = हे उषम देवी। **यामेषु** = आगमन होने पर। **प्रयुञ्जते** = प्रयोजित करते हैं। **मनः** = मन को। **दानाय** = दान देने के लिए। **सूरयः** = विद्वान पुरुष। **तत्र अह** = यहाँ ही। **कण्वः** = कण्व नाम के ऋषि। **कण्वतमः** = कण्वों में अतिशय मेधावी। **गृणाति** = प्रशंसा करता है।

हिन्दी अनुवाद— हे उषा देवी! तुम्हारे आगमन होने पर जो विद्वान पुरुष दान देने के लिये मन को प्रयोजित करते हैं। इन मनुष्यों के उस नाम की कण्वों में अतिशय मेधावी कण्व ऋषि यहाँ ही प्रशंसा करते हैं।

संहिता-पाठः

5. आ घा योषेव सूनर्युषा याति प्रभुञ्जती।
जरयन्ती वृजनं पद्वदीयत उत्पातयति पक्षिणः।।

पद-पाठः

आ। घ। योषाऽव। सूनरी।

उषाः। याति। प्रऽभुञ्जती।

जरयन्ती। वृजनम्। पत्ऽवत्।

ईयते। उत् पातयति। पक्षिण:।।5।।

अन्वय— प्रभुञ्जती उषा: सूनरी योषा इव घ आयाति। वृजनम् जरयन्ती पद्वत् ईयते। पक्षिण: उत्पातयति।

NOTES

शब्दार्थ— द्या= प्रतिदिन। **योषा इव** = युवती स्त्री के समान। **सूनरी** = सुन्दरी। **आयाति** = आती है। **प्रभुञ्जती** = सबका पालन करती हुई। **जरयन्ती** = वृद्धावस्था को प्राप्त कराती हुई। **वृजनम्** = गमनशील प्राणियों को। **पद्वत्** = पैरों से युक्त प्राणियों को। **ईयते** = कर्मों में प्रवृत्त करती है। **उत्पातयति** = उड़ाती है। **पक्षिण:** = पक्षियों को।

हिन्दी अनुवाद—सबका पालन करती हुई उषा देवी सुन्दरी युवती स्त्री के समान प्रतिदिन आती है। गमनशील प्राणियों को वृद्धावस्था को प्राप्त कराती हुई वह पैरों से युक्त प्राणियों को कर्मों में प्रवृत्त करती है और पक्षियों को उड़ाती है।

संहिता-पाठः

6. वि या सृजति समनं व्यअर्थिन: पदं न वेत्योदती।

वयो नकिष्टे पप्तिवांस आसते व्युष्टौ वाजिनीवति।।

पद-पाठः

वि। या। सृजति। समनम्। वि। अर्थिन:।

पदम्। न। वेति। ओदती।

वय:। नकि:। ते। पप्तिऽवांस:। आसते।

विऽउष्टौ। वाजिनीऽवति।।6।।

अन्वय—या समनम् विसृजति, अर्थिन: वि, ओदती पदम् न वेति, वाजिनीवति से व्युष्टौ पप्तिवांस: वय: नकि: आसते।

शब्दार्थ— या = जो। **विसृजति** = प्रेरित करती है। **समनम्** = समुचित चेष्टा वाले व्यक्ति को। **अर्थिन:** = याचकों को। **पदम्** = स्थान को। **न** = नहीं। **वेति** = कामना करती है। **ओदती** = भिगोती हुई। **वय:** = पक्षी। **नकि:** = नहीं। **ते** = तुम्हारा। **पप्तिवांस:** = उड़ते हुए। **आसते** = बैठते हैं। **व्युष्टौ** = उदित होने पर। **वाजिनीवति** = अन्नों से सम्पन्न।

हिन्दी अनुवाद— जो उषा समुचित चेष्टा करने वाले व्यक्ति के कार्यों में प्रेरित करती है और याचकों को प्रेरित करती है और जो सबको भिगोती हुई उषा स्थान की कामना नहीं करती, अर्थात् कहीं ठहरती नहीं, ऐसी हे अन्नों से सम्पन्न उषा! तुम्हारे उदित होने पर उड़ते हुए पक्षी बैठते नहीं हैं।

संहिता-पाठः

7. एषायुक्त परावत: सूर्यस्योदयनादधि।

शतं रथेभि: सुभगोषा इयं वि यात्यभि मानुषान्।।

पद-पाठः

एषा। अयुक्त। पराऽवत:।

सूर्यस्य। उत्ऽअयनात्। अधि।

शतम्। रथेभि:। सुऽभगा। उषा:। इयम्।

वि। याति। अभि। मानुषान्।।7।।

अन्वय—एषा शतम् अयुक्त/इयम् सुभगा ऊषा: परावत: सूर्यस्य उदयनात् अधि रथेभि: मानुषान् अभि वियाति।

शब्दार्थ—**एषा** = इस उषा देवी ने। **अयुक्त** = जोता था। **परावत:** = सुदूर स्थान पर स्थित। **सूर्यस्य** = सूर्य के। **उदयनात् अधि** = उदय होने के स्थान से। **शतम्** = सौ। **रथेभि:** = रथों से। **सुभगा** = सौभाग्यशालिनी। **इयम्** = यह। **वियाति** = विशेष रूप से आती है। **मानुषान् अभि** = मनुष्यों की ओर।

हिन्दी अनुवाद— इस उषा देवी ने सौ रथों को जोता था। यह सौभाग्यशालिनी उषा देवी सुदूर स्थान पर स्थित सूर्य के उदय होने के स्थान से रथों से मनुष्यों की ओर विशेष रूप से आती है।

संहिता-पाठ:

8. विश्वमस्या नानाम चक्षसे जगज्ज्योतिष्कृणोति सूनरी।

अप द्वेषो मघोनी दुहिता दिव उषा उच्छदप स्रिध:।

पद-पाठ:

विश्वम्। अस्या। ननाम। चक्षसे।

जगत्। ज्योति:। कृणोति। सूनरी।

अप। द्वेष:। मघोनी। दुहिता। दिव:।

उषा:। उच्छत्। अप। स्रिध:।।8।।

अन्वय—अस्या चक्षसे विश्वम् जगत् ननाम। सूनरी ज्योति: कृणोति। दिव: दुहिता मघोनी उषा: द्वेष: अप उच्छत् स्रिध: अप:।

शब्दार्थ— **विश्वम्** = सम्पूर्ण। **अस्या:** = इस उषा देवी के। **ननाम** = प्रणाम करता है। **चक्षसे** = प्रकाश के लिये। **जगत्** = गतिशील संसार। **ज्योति:** = प्रकाश। **कृणोति** = करती है। **सूनरी** = सुन्दरी। **अप उच्छत्** = दूर कर देती है। **द्वेष:** = द्वेष करने वाले शत्रुओं को। **मघोनी** = धनवती। **दिव:दुहिता** = द्युलोक की पुत्री। **स्रिध:** = शोषण करने वाले शत्रुओं को।

हिन्दी अनुवाद— इसके प्रकाश के लिये सम्पूर्ण गतिशील संसार प्रणाम करता है। यह सुन्दरी उषा सबके लिये प्रकाश उत्पन्न करती है। द्युलोक की पुत्री वह धनवती उषा हमसे द्वेष करने वाले शत्रुओं को दूर कर देती है और शोषण करने वाले शत्रुओं को दूर कर देती है।

संहिता-पाठ:

9. उष आ भाहि भानुना चन्द्रेण दुहितर्दिव:।

आवहन्ती भूर्यस्मभ्यं सौभगं व्युच्छन्ती दिविष्टिषु।।

पद-पाठ:

उष:। आ। भाहि। भानुना। चन्द्रेण। दुहित: दिव:।

आऽवहन्ती। भूरि। अस्मभ्यम्। सौभगम्। विऽउच्छन्ती। दिविष्टिषु।।9।।

अन्वय—दिव: दुहित: उष: अस्मभ्यम् भूरि सौभगम् आवहन्ती दिविष्टिषु व्युच्छन्ती चन्द्रेण भानुना आ भाहि।

शब्दार्थ— **उष:** = हे उषा देवी। **आ** = सब स्थानों पर। **भाहि** = चमको। **भानुना** = प्रकाश से। **चन्द्रेण** = सबको आह्लादित करने वाले। **दिव:दुहित:** = हे द्युलोक की पुत्री। **आवहन्ती** = प्राप्त कराती हुई। **भूरि** = बहुत अधिक। **अस्मभ्यम्** = हमारे लिये। **सौभगम्** = सौभाग्य को। **व्युच्छन्ती** = प्रकाशित होती हुई। **दिविष्टिषु** = दैनिक यज्ञों में।

हिन्दी अनुवाद— हे द्युलोक की पुत्रि उषा! हमारे लिये बहुत अधिक सौभाग्य को लाती हुई और हमारे दैनिक यज्ञों में प्रकाशित होती हुई तुम आह्लादित करने वाले प्रकाश के साथ सब स्थानों पर चमको।

संहिता-पाठः

10. विश्वस्य हि प्राणनं जीवनं त्वे वि यदुच्छसि सूनरि।

सा नो रथेन बृहता विभावरि श्रुधि चित्रामघे हवम्।।

पद-पाठः

विश्वस्य। हि। प्राणनम्। जीवनम्। त्वे इति।

वि। यत्। उच्छसि:। सूनरि।

सा। नः रथेन। बृहता। विभाऽरि।

श्रुधि। चित्रऽमघे। हवम्।।10।।

अन्वय— सूनरि! यत् विउच्छसि विश्वस्य प्राणनम् जीवनम् हि त्वे। विभावरि सा नः बृहता रथेन। चित्रमघे हवम् श्रुधि।

शब्दार्थ— विश्वस्य = सम्पूर्ण जगत् का। **प्राणनम्** = चेष्टा। **जीवनम्** = जीवित रहना। **त्वे** = तुम्हारे अन्दर स्थित हैं। **वि उच्छसि** = विशेष रूप से प्रकट होती हो। **सूनरि** = हे सुन्दरि। **नः** = हमारी ओर। **बृहता रथेन** = महान् रथ से। **विभावरि** = विशिष्ट प्रकाश से युक्त। **श्रुधि** = सुनो। **चित्रमघे** = आश्चर्यजनक सुन्दर धन वाली। **हवम्** = पुकार को।

हिन्दी अनुवाद— हे सुन्दर उषः। जो तुम विशेष रूप से प्रकट होती हो तो सम्पूर्ण जगत् की चेष्टा और जीवन निश्चय से तुम्हारे अन्दर स्थित है। हे विशिष्ट प्रकाश से युक्त उषा देवि। वह तुम हमारी ओर महान् रथ से आओ। हे आश्चर्यजनक सुन्दर धन वाली उषा देवि! तुम हमारी पुकार को सुनो।

संहिता-पाठः

11. उषो वाजं हि वंस्व यश्चित्रो मानुषे जने।

तेना वह सुकृतो अध्वराँ उप ये त्वा गृणन्ति वह्नयः।।

पद-पाठः

उषः। वाजम्। हि। वंस्व।

यः। चित्रः। मानुषे। जने।

तेन। आ। वह। सुऽकृतः। अध्वरान्। उप।

ये। त्वा। गृणन्ति। वह्नयः।।11।।

अन्वय— उषः! हि वाज् वस्व, यः मानुषे जने चित्रः। सुकृतः अध्वरान् आ वह, ये वह्नयः त्वा उपगृणन्ति।

शब्दार्थ— वाजम् = अन्न को। **वस्व** = याचना करो (स्वीकार करो)। **चित्रम्** = आश्चर्यजनक सुन्दर। **सुकृतः** = उत्तम कर्म करने वाले यजमानों को। **अध्वरान्** = हिंसा रति यज्ञों को। **उपगृणन्ति** = स्तुति करते हैं।

हिन्दी अनुवाद— हे उषा देवि! तुम निश्चय से अन्न की याचना करो अर्थात् यज्ञों में तुम्हारे लिये जो अन्न की आहुति दी जाती है, उसको स्वीकार करो, जो अन्न मनुष्य जनों के लिए आश्चर्यजनक सुन्दर है। हे उषा! तुम उत्तम कर्म करने वाले यजमानों को हिंसा रहित यज्ञों को प्राप्त कराओ, जो यजमान यज्ञों की अग्नि का निर्वाह करते हुए तुम्हारी स्तुति करते हैं।

संहिता-पाठः

12. विश्वान्देवाँ आ वह् सोमपीतयेऽन्तरिक्षादुषस्त्वम्।

सास्मासु धा गोमदश्वावदुक्थ्य1मुषो वाजं सुवीर्यम्।।

NOTES

पद-पाठः

विश्वान्। देवान्। आ। वह। सोमऽपीतये।

अन्तरिक्षात्। उषः। त्वम्।

सा/अस्मासु। धाः। गोऽमत्। अश्वऽवत्। उक्थ्यम्।

उषः। वाजम्। सुवीर्यम्।।12।।

अन्वय— उषः त्वम् सोमपीतये अन्तरिक्षात् विश्वान् देवान् आवहं। उषः सा अस्मासु गोमत् अश्ववत् उक्थ्यम् सुवीर्यम् वाजम धाः।

शब्दार्थ— विश्वान् = सब। **देवान्** = देवताओं को। **आ वह** = लाओ। **सोमपीतये** = सोमपान करने के लिये। **अन्तरिक्षात्** = अन्तरिक्ष से। **अस्मासु** = हमारे में। **धाः** = निहित करो। **गोमत्** = गौओं से युक्त। **अश्वावत्** = घोड़ों से युक्त। **उक्थ्यम्** = प्रशंसनीय। **वाजम्** = अन्न को। **सुवीर्यम्** = उत्तम वीरता से युक्त।

हिन्दी अनुवाद— हे उषा! तुम सोमपान करने के लिये अन्तरिक्ष लोक से सब देवताओं को यहाँ लाओ। हे उषा। तुम हमारे में गौओं से युक्त घोड़ों से युक्त, प्रशंसनीय और उत्तम वीरता से युक्त उस अन्न को निहित करो।

संहिता-पाठः

13. यस्या रुशन्तो अर्चयः प्रति भद्रा अदृक्षत।

सा नो रयिं विश्ववारं सुपशेसमुषा ददातु सुग्म्यम्।।

पद-पाठः

यस्याः। रुशन्तः। अर्चयः। प्रति। भद्राः। अदृक्षत।

सा। नः। रयिम्। विश्वऽवारम्। सुऽपेशसम्। उषाः। ददातु। सुग्म्यम्।।13।।

अन्वय— यस्या रुशन्तः अर्चयः अदृक्षत, सा उषाः नः विश्ववारम् सुपेशसम् सुगम्यम् रयिम् ददातु।

शब्दार्थ— यस्याः = जिस उषा की। **रुशन्तः** = चमकती हुई। **अर्चयः** = कान्तियाँ। **भद्राः** = कल्याण करने वाली। **प्रति अदृक्षत** = सामने दिखाई देती है। **सा** = वह। **नः** = हमारे लिये। **रयिम्** = धन को। **विश्ववारम्** = सबसे वरण करने योग्य। **सुपेशसम्** = सुन्दर। **ददातु** = प्रदान करे। **सुग्म्यम्** = सुख से प्राप्त करने योग्य।

हिन्दी अनुवाद— जिस उषा की चमकती हुई कान्तियाँ कल्याण करने वाली हमारे सामने दिखाई देती हैं, वह उषा हमारे लिये सबसे वरण करने योग्य, सुन्दर और सुख से प्राप्त करने योग्य धन को प्रदान करे।

संहिता-पाठः

14. ये चिद्धि त्वामृषयः पूर्व ऊतये जुहूरेऽवसे महि।

सा नः स्तोमां अभि गृणीहि राधसोषः शुक्रेण शोचिषा।।

पद-पाठः

ये। चित्। हि। त्वाम्। ऋषयः। पूर्वे। ऊतये।

जुहूरे। अवसे। महि।

सा। नः। स्तोमान्। अभि। गृणीहि। राधसा।

उषः। शुक्रेण। शोचिषा।।14।।

अन्वय— महि! ये चित् हि पूर्वे ऋषयः ऊतये अवसे त्वाम् जुहूरे, सा उषः नः स्तोमान् अभि एधसा शुक्रेण शोचिषा गृणीहि।

शब्दार्थ— ये चित् हि = निश्चय से जिन भी प्रसिद्ध। **त्वाम्** = तुम्हारा। **ऋषयः** = ऋषियों ने। **पूर्वे** = प्राचीन।

ऊतये = रक्षा के लिये। **जुहूरे** = आह्वान किया था। **अवसे** = अन्न के लिये। **महि** = हे पूजनीये। **सा** = वह। **नः** = हमारी। **स्तोमान् अभि** = स्तुतियों के प्रति। **गृणीहि** = उत्तर दो। **राधसा** = हवि रूप अन्न से। **शुक्रेण** = दैदीप्यमान। **शोचिवा** = तेज से।

हिन्दी अनुवाद — हे पूजनीये उषः देवता! निश्चय से जिन भी प्रसिद्ध प्राचीन ऋषियों ने रक्षा के लिये और अन्न के लिये तुम्हारा आह्वान किया था, वह तुम हे उषा देवता! हमारी स्तुतियों के प्रति हविरूप अन्न से और दैदीप्यमान तेज से उत्तर दो। हमारी स्तुतियों से प्रसन्न होकर तुम हमें अन्न और तेज प्रदान करो।

NOTES

संहिता-पाठः

15. उषो यदद्य भानुना वि द्वारा वृणवो दिवः।

प्र नो यच्छतादवृकं पृथुच्छर्दिः प्र देवि गोमतीरिषः।।

पद-पाठः

उषः। यत् अद्य। भानुना।

वि। द्वारौ। ऋणवः। दिवः।

प्र। नः। यच्छतात्। अवृकम्। पृथु। छर्दिः।

प्र। देवि। गोऽमतीः। इषः।।15।।

अन्वय— उषः अद्य यत् भानुना दिवः द्वारौ वि ऋणवः, नः अवृकम् पृथु छर्दिः प्रयच्छतात्। देवि! गोमतीः इषः प्र।

शब्दार्थ— उषः = हे उषा देवता। **यत्** = क्योंकि। **अद्य** = आज इस समय। **मानुना** = प्रकाश से। **द्वारौ** = दरवाजों को। **वि ऋणवः** = खोल कर यहाँ आई हो। **दिवः** = आकाश। **के नः** = हमें। **प्रयच्छतात्** = प्रदान करो। **अवृकम्** = हिंसकों से रहित। **पृथु** = विस्तृत। **छर्दिः** = घर। **गोमतीः** = गौओं से युक्त। **इषः** = अन्नों को।

हिन्दी अनुवाद— हे उषा देवता! आज इस समय क्योंकि तुम अपने प्रकाश से आकाश के दोनों दरवाजों को खोल कर यहाँ आई हो, अतः हमें हिंसकों से रहित और विस्तृत घर प्रदान करो। हे देवि! तुम हमें गौओं से युक्त अन्नों को प्रदान करो।

संहिता-पाठः

16. सं नो राया बृहता विश्वपेशसा मिमिक्ष्वा समिलाभिरा।

सं द्युम्नेन विश्वतुरोषो महि सं वाजैर्वाजिनीवति।।

पद-पाठः

सम्। नः। राया। बृहता। विश्वऽपेशसा।

मितिक्ष्व। सम्। इलाभिः। आ।

सम्द्युम्नेन। विश्वऽतु। उषः। महि।

सम्। वाजैः। वाजिनीऽवति।।16।।

अन्वय— महि वाजिनीवति उषः! नः बृहता विश्वपेशसा राया सम् मिमिक्ष्व इलाभिः आ सम्, विश्वतुरा द्युम्नेन सम्? वाजैः सम्।

शब्दार्थ— नः = हमें। **राया** = धन से। **बृहता** = महान्। **विश्वपेशसा** = सब प्रकार के सुन्दर रूपों वाले। **संमितिक्ष्व** = सिञ्चित करो। **इलाभिः** = गौओं से। **आ** = और। **द्युम्नेन** = यश से। **विश्वतुरा** = सब शत्रुओं को मारने वाले। **महि** = पूजनीये। **वाजैः** = अन्नों से। **वाजिनीवति** = अन्नों की क्रिया को सिद्ध करने वाली।

हिन्दी अनुवाद— हे पूजीनये, अन्नों की क्रिया को सिद्ध करने वाली उषा देवता! हमें महान् सब प्रकार से सुन्दर रूपों वाले धन से सिञ्चित करो और गौओं से सिञ्चित करो। हमें सब शत्रुओं को मारने वाले यश से सिञ्चित करो। हमें अन्नों से सिञ्चित करो। अर्थात हमको ये वस्तयें प्रदान करो।

4. पुरुष सूक्त

NOTES

मण्डल 10 सूक्त 90

ऋषि—नारायण **देवता**— पुरुष **छन्दः** — अन्तिम

संहिता-पाठः

1. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमि विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।।

पद-पाठः

सहस्रऽशीर्षा। पुरुषः। सहस्रऽअक्षः। सहस्रऽपात।
सः। भूमिम्। विश्वतः वृत्वा। अति। अतिष्ठत्। दशऽअङ्गुलम्।।1।।

अन्वय— पुरषः सहस्रशीर्षा, सहस्रपात्। सः भूमिम् विश्वतः वृत्वा दशाङ्गुलम् अत्यतिष्ठत्।

शब्दार्थ— सहस्रशीर्षाः = हजारों सिर वाला। **सहस्राक्षः** = हजारों आँखों वाला। **सहस्रपात्** = हजारों पैरों वाला। **विश्वतः** = चारों ओर से। **वृत्वा** = व्याप्त करके। **अति अतिष्ठत्** = पार करके स्थित है। **दशाङ्गुलम्** = दस अङ्गुल परिमाण में।

हिन्दी अनुवाद— यह परम पुरुष विराट् परमेश्वर हजारों (अनन्त) सिर वाला, हजारों आँखों वाला और हजारों पैरों वाला है। वह भूमि को चारों ओर से व्याप्त करके दस अंगुल प्रमाण में ब्रह्माण्ड को पार करके स्थित है। अर्थात् वह परम् पुरुष ब्रह्माण्ड को भीतर और बाहर से व्याप्त किये हुए है।

संहिता-पाठः

2. पुरष एवेदं सर्व यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति।।

पद-पाठः

पुरुषः। एव। इदम्। सर्वम्। यत्। भूतम्। यत्। च। भव्यम्।
उत। अमृतऽत्वस्य। ईशानः। यत्। अन्नेन। अतिऽोहति।।2।।

अन्वय—इदम् सर्वम् पुरुषः एव। यत् भूतम् यत् च भव्यम्। उत अमृतत्वस्य ईशानः यत् अन्नेन अतिरोहति।

शब्दार्थ— भूतम् = हो चुका है। **भव्यम्** = होगा। **अमृतत्वस्य** = देवताओं का, अमरत्व का। **ईशानः** = स्वामी है। **अन्नेन** = अन्न से, भोग्य पदार्थो से। **अतिरोहति** = बढ़ता है।

हिन्दी अनुवाद— यह सब कुछ दृश्यमान वर्तमान जगत् पुरुष ही है। जो कुछ हो चुका है, अर्थात् भूतकालीन और जो कुछ होगा अर्थात् भविष्यत् कालीन जगत् भी पुरुष ही है और वह पुरुष देवताओं का अथवा अमरत्व का स्वामी है। जो पुरुष अन्न अर्थात् प्राणियों के भोग्य पदार्थों के कारण बढ़ता है अर्थात् इस दृश्यमान जगत् रूप अवस्था को प्राप्त होता है।

संहिता-पाठः

3. एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वो भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।।

पठ-पाठः

एतवान्। अस्य। महिमा। अतः। ज्यायान्। च। पुरुषः।
पादः। अस्य। विश्वा। भूतानि। त्रिऽपात्। अस्य। अमृतम्। दिवि।।

अन्वय—एतावान् अस्य महिमा। पुरुषः च अतः ज्यायान्। विश्वा भूतानि अस्य पादः। अस्य त्रिपात् अमृतम् दिवि।

शब्दार्थः—एतावान् = इतनी। **ज्यायान्** = अधिक विराट् है। **पादः** = चौथाई अंश। **विश्वा** = सम्पूर्ण। **भूतानि** = प्राणी। **त्रिपात्** = तीन चौथाई। **अमृतम्** = अविनाशी रूप से। **दिवि** = द्युलोक में।

हिन्दी अनुवाद— इतनी इसकी महिमा है, अर्थात् भूत-भविष्यत्-वर्तमान कालत्रयवर्ती यह समग्र जगत् इसकी महिमा मात्र है, इसका स्वरूप नहीं। और इसलिये यह पुरुश तो इससे भी अधिक विराट् ही है। सम्पूर्ण प्राणी अर्थात् यह समग्र जगत् तो इसका केवल पाद (चौथाई अंश) है। इसके तीन पाद (तीन चौथाई अंश) अविनाशी रूप से द्युलोक में अर्थात् स्वप्रकाश रूप में अवस्थित रहते हैं।

संहिता-पाठ

4. त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।
ततो विष्वङ्व्यक्रामत् साशनानशने अभि।।

पद-पाठः

त्रिऽपात्। ऊर्ध्वः। उत्। ऐत्। पुरुषः।
पादः। अस्य। इह। अभवत्। पुनरिति।
ततः। विष्वङ्। वि। अक्रामत्।
साशनानशने इति। अभि।।4।।

अन्वय— त्रिपात् पुरुषः ऊर्ध्व उदैत्। अस्य पादः इह पुनः अभवत्। ततः साशनानशने अभि विष्वङ् व्यक्रामत्।

शब्दार्थ— त्रिपात् = तीन पदों वाला। **ऊर्ध्वः** = जगत् से ऊपर। **उदैत्** = उठा हुआ है। **इह** = इस भौतिक जगत् के रूप में। **पुनः** = बार-बार। **अभवत्** = होता है। **विष्वङ्** = विविध रूपों वाला। **वि अक्रामत्** = व्याप्त करके स्थित है। **साशनानशने** = भोजन करने वाले और भोजन न करने वाले चेतन और अचेतन।

हिन्दी अनुवाद— संसार से ऊपर तीन पादों वाला यह विराट् पुरुष इस जगत् से ऊपर उठा हुआ है अर्थात् विश्व के गुण-दोषों से रहित है। इसका एक पाद इस भौतिगत जगत् के रूप में बार-बार होता है, अर्थात् इसमें सृष्टि की

उत्पत्ति और प्रलय होते रहते हैं। इसके बाद अर्थात् सृष्टि उत्पन्न होने पर भोजन करने वाले और भोजन न करने वाले अर्थात् चेतन अचेतन जगत् को लक्ष्य करके विविध रूपों वाला पुरुष व्याप्त करके स्थित है।

संहिता-पाठः

5. तस्माद् विरालजायत विराजो अधि पुरुष।

स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः।।

पद-पाठः

तस्मात् विऽराट्। अजायत। विऽराजः। अधि। पुरुषः।

सः। जातः। अति। अरिच्यत। पश्चात्। भूमिम्। अथो इति। पुरः ।।5।।

अन्वय— तस्मात् विराट् अजायत। विराजः अधि पुरुषः। सः जातः अत्यरिच्यत। पश्चात् भूमिम् अथो पुरः।

शब्दार्थ— विराट् = ब्रह्माण्ड देह, व्यक्त जगत्। **अधिपुरुष** = जीवात्मा। **अत्यरिच्यत** = सबसे आगे बढ़ गया। **पुरः** = शरीरों को।

हिन्दी अनुवाद— उस आदिपुरुष से विराट् (ब्रह्माण्ड देह, व्यक्त जगत्) उत्पन्न हुआ। ब्रह्माण्ड देह का आश्रय लेकर उससे पुरुष (जीवात्मा) उत्पन्न हुआ। वह उत्पन्न होते ही सबसे आगे बढ़ गया अर्थात् पशु, पक्षी, मनुष्य आदि के रूप में चेतनता को प्राप्त करके अन्य जगत् से बढ़कर था। पश्चात् उस पुरुष ने भूमि और शरीरों को बनाया।

संहिता-पाठः

6. यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत्।

वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धवि।।

पद-पाठः

यत्। पुरुषेण। हविषा। देवाः। यज्ञम्। अतन्वत।

वसन्तः। अस्य। आसीत्। आज्यम्। ग्रीष्मः। इध्मः। शरत्। हविः ।।6।।

अन्वय— यत् देवाः पुरुषेण हविषा यज्ञम् अतन्वत वसन्तः अस्य आज्यम् आसीत्, ग्रीष्मः इध्मः, शरत् हविः।

शब्दार्थ— पुरुषेण हविषा = पुरुष रूप हवि के द्वारा। **अतन्वत** = किया। **आज्यम्** = घृत। **इध्मः** = ईंधन। **हविः** = हवन।

हिन्दी अनुवाद— जब, अर्थात् सृष्टि के रचना क्रम के इस प्रकार प्रारम्भ होने पर देवताओं ने सृष्टि के क्रम को आगे बढ़ाने के लिए पुरुष हवि द्वारा यज्ञ को (सृष्टि रचना रूपी यज्ञ को मानसिक यज्ञ को) किया अर्थात् आगे सृष्टि की रचना का आरम्भ किया तो वसन्त ऋतु इस यज्ञ का घृत था, ग्रीष्म ईंधन हुआ और शरद् ऋतु हवि बनी। अर्थात् विभिन्न ऋतुयें उत्पन्न हुईं।

संहिता-पाठः

7. तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।

तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये।।

NOTES

पद-पाठः

तम्। यज्ञम्। बर्हिषि। प्र। औक्षन्। पुरुषम्। जातम्। अग्रत:।

तेन। देवा:। अयजन्त। साध्या:। ऋषय:। च। ये ।।7।।

अन्वय— अग्रत: जातम् यज्ञम् तम् पुरुषम् बर्हिषि प्रौक्षन्। तेन देवा: ये च साध्या: ऋषय: च अयजन्त।

शब्दार्थ— बर्हिषि = मानसिक यज्ञ में, यज्ञ की वेदी पर। **प्रौक्षन्** = जल छिड़का। **अग्रत:** = सबसे पहले। **अयजन्त** = यजन किया। **साध्या:** = सृष्टि-उत्पत्ति के साधनभूत प्रजापति।

हिन्दी अनुवाद— सबसे पहले अर्थात् सृष्टि से पूर्व उत्पन्न हुये, यजनीय या यज्ञ रूप उस पुरुष रूप पशु पर यज्ञ की वेदी पद देवताओं ने जल छिड़का अर्थात् उसको जल छिड़क कर पवित्र किया। उस प्रोक्षित पुरुष रूप पशु से देवताओं ने साध्य अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति के साधनभूत प्रजापति आदियों ने और मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने यजन किया।

संहिता-पाठः

8. तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत: संभृतं पृषदाज्यम्।

पशून्तांश्चक्रे वायव्यानारण्यान्ग्राम्याश्च ये।

पद-पाठः

तस्मात्। यज्ञात्। सर्वऽहुत:। सम्ऽभृतम्। पृषत्ऽआज्यम्।

पशून् तान्। चक्रे। वायव्यान्। आरण्यान्। ग्राम्या:। च। ये ।।8।।

अन्वय— सर्वहुत: तस्मात् यज्ञात् पृषदाज्यम् संभृतम्। वायव्यान्, ये, च ग्राम्या: तान् पशून चक्रे।

शब्दार्थ—सर्वहुत:—जिसमें सभी कुछ आहुत कर दिया जाता है। **संभृतम्** = उत्पन्न हुआ। **पृषदाज्यम्** = दही से युक्त घी। **वायव्यान्** = वायु में विचरण करने वाले। **आरण्यान्** = जंगलों में रहने वाले। **ग्राम्यान्** = गाँवों में रहने वाले।

हिन्दी अनुवाद— जिस यज्ञ में सभी कुछ अथवा सब का आत्मरूप पुरुष आहुत कर दिया जाता है, ऐसे उस यज्ञ से दही से युक्त घी उत्पन्न हुआ अर्थात् बनाया गया और उसने वायु या अन्तरिक्ष में विचरने वाले पशु अर्थात् पक्षी, जंगलों में रहने वाले हिरण आदि पशु और जो गाँवों में रहने वाले अश्व, गौ आदि पशु हैं, वे भी बनाये।

संहिता-पाठः

9. तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋच: सामानि जज्ञिरे।

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।।

पद-पाठः

तस्मात्। यज्ञात्। सर्वऽहुत:। ऋच:। सामानि। जज्ञिरे।

छन्दांसि। जज्ञिरे। तस्मात्। यजु:। तस्मात्। अजायत।।9।।

अन्वय—सर्वहुत: तस्मात् यज्ञात् ऋच: सामानि जज्ञिरे। तस्मात् छन्दांसि तस्मात् यजु: अजायत।

शब्दार्थ— ऋचः = ऋग्वेद। **सामानि** = सामवेद। **जज्ञिरे** = उत्पन्न हुये। **छन्दांसि** = गायत्री आदि छन्द। **यजुः** = यजुर्वेद।

हिन्दी अनुवाद— जिस यज्ञ में सभी कुछ अर्थात् सबका आत्मरूप पुरुष आहुत कर दिया जाता है, ऐसे उस यज्ञ से ऋग्वेद और सामवेद उत्पन्न हुये। उससे गायत्री आदि छन्द उत्पन्न हुये, उससे यजुर्वेद उत्पन्न हुआ।

संहिता-पाठः

10. तस्मादश्वा अजायन्त ये केचोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः।

पद-पाठः

तस्मात्। अश्वाः। अजायन्त। ये। के। च। उभयादतः।
गावः। ह। जज्ञिरे। तस्मात्। तस्मात्। जाताः। अजावयः।।10।।

अन्वय—तस्मात् अश्वाः अजायन्त। ये के च उभयादतः। तस्मात् ह गावः जज्ञिरे। तस्मात् अजावयः जाताः।

शब्दार्थ—अजायन्त = उत्पन्न हुये। **उभयादतः** = ऊपर नीचे दोनों ओर दान्तों वाले। **अजावयः** = भेड़ें और बकरियाँ।

हिन्दी अनुवाद— उस यज्ञ से घोड़े उत्पन्न हुये और जो घोड़ों के अतिरिक्त ऊपर-नीचे दोनों और दान्तों वाले गधे, खच्चर आदि पशु हैं, वे उत्पन्न हुये। उस यज्ञ से गौयें उत्पन्न हुईं और उस यज्ञ से बकरियाँ और भेड़ें उत्पन्न हुईं।

संहिता-पाठः

11. यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्य कौ बाहू का उरू पादा उच्येते।

पद-पाठः

यत्। पुरुशम्। वि। अदधुः। कतिध। वि। अकल्पयन्।
मुखम्। किम्। अस्य। कौ। बाहू इति। कौ।
उरू इति। पादौ। उच्येते इति।।11।।

अन्वय— यत् पुरुषम् व्यदधुः, कतिधा व्यकल्पयन्? अस्य मुखम् किम् कौ बाहू, कौ उरू पादौ उच्येते?

शब्दार्थ— व्यदधुः = विभाजित किया। **कतिधा** = कितने रूपों में। **व्यकल्पयन्** = विविध प्रकार से कल्पित किया। **ऊरू** = जांघें। **उच्येते** = कहे जाते हैं।

हिन्दी अनुवाद—प्रजापति के प्राण रूप देवताओं ने जब उस विराट् रूप पुरुष को विभाजित किया तो उसको कितने रूपों में विविध रूप से कल्पित किया? इस पुरुष का मुख कौनसा था, कौन-सी भुजायें थीं, कौनसी जंघायें थीं और कौन से पैर कहे जाते हैं?

12. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।।

पद-पाठः

ब्राह्मण:। अस्य। मुखम्। आसीत्। बाहू इति। राजन्य:। कृत:।

उरू इति। तत्। अस्य। यत्। वैश्य:। पत्ऽभ्याम्। शूद्र:। अजायत।।12।।

अन्वय— अस्य मुखम् ब्राह्मण: आसीत्। बाहू राजन्य: कृत:। अस्य यद् उरू तद् वैश्य:। पद्भ्याम् शूद्र: अजायत।

शब्दार्थ— अस्य = इस पुरुष का। **राजन्य:** = क्षत्रिय। **उरू** = जाँघें। **पद्भ्याम्** = पैरों से।

हिन्दी अनुवाद— इस पुरुष का मुख ब्राह्मण हुआ अर्थात् ब्राह्मण इसके मुख से उत्पन्न हुए। भुजाओं को क्षत्रिय बनाया गया, अर्थात् क्षत्रिय इसकी भुजाओं से उत्पन्न हुये। जो इसकी जाँघें थीं वे वैश्य इस पुरुष की जाँघों से उत्पन्न हुये और इसके पैरों से शूद्र उत्पन्न हुये।

संहिता-पाठः

13. चन्द्रमा मनसो जातश् चक्षो: सूर्यो अजायत।

मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत।।

पद-पाठः

चन्द्रमा:। मनस:। जात:। चक्षो:। सूर्य:। अजायत।

मुखात्। इन्द्र:। च। अग्नि। च। प्राणात्। वायु:। अजायत।।13।।

अन्वय— मनस: चन्द्रमा: जात:, चक्षो: सूर्य: अजायत, मुखात् इन्द्र: च अग्नि: च, प्राणात् वायु: अजायत।

शब्दार्थ—मनस: = मन से। **जात:** = उत्पन्न हुआ। **चक्षो:** = आँख से। **अजायत** = उत्पन्न हुआ।

हिन्दी अनुवाद— इस प्रजापति रूप पुरुष के मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ, आँख से सूर्य उत्पन्न हुआ, मुख से इन्द्र और अग्नि उत्पन्न हुये और प्राण से वायु उत्पन्न हुआ।

संहिता-पाठः

14. नाभ्या आसीद्न्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौ: समवर्तत।

पद्भ्यां भूमिर्दिश: श्रोत्रात् तथा लोकाँ अकल्पयन्।।

पद-पाठः

नाभ्या:। आसीत्। अन्तरिक्षम्। शीर्ष्ण:। द्यौ:। सम्। अवर्तत।

पत्ऽभ्याम्। भूमि:। दिश:। श्रोत्रात्। तथा। लोकान्। अकल्पयन्।।14।।

अन्वय— नाभ्या: अन्तरिक्षम् शीर्ष्ण: द्यौ: समवर्तत। पद्ध्याम् भूमि:, श्रोत्रात् दिश: तथा लोकान् अकल्पयन्।

शब्दार्थ— नाभ्या = नाभि से। **शीर्ष्णो:** = सिर से। **समवर्तत** = उत्पन्न हुआ। **अकल्पयन्** = रचना की।

हिन्दी अनुवाद— उस प्रजापति रूप परम पुरुश की नाभि से अन्तरिक्ष लोक बना, सिर से द्युलोक उत्पन्न हुआ, दोनों पैरों से भूमि उत्पन्न हुई और कानों से दिशायें उत्पन्न हुई। इस प्रकार उस पुरुष से देवताओं ने लोकों की रचना की।

NOTES

संहिता-पाठः

15. सप्तास्यासन् परिधयस् त्रिः सप्त समिधः कृताः।

देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्।

पद-पाठः

सप्त। अस्य। आसन्। परिऽधयः। त्रिः। सप्त। सम्ऽइधः। कृताः।

देवाः। यत्। यज्ञम्। तन्वानाः। अबध्नन्। पुरुशम्। पशुम्।।15।।

अन्वय— यज्ञं तन्वानाः यत् देवाः पुरुषम् पशुम् अबन्ध्नन्, अस्य परिधयः स्पत आसन्, त्रिः सप्त समिधः कृताः।

शब्दार्थ— तन्वानाः = सम्पादन करते हुये। **अबध्नन्** = बाँधा।

हिन्दी अनुवाद— सृष्टि उत्पत्ति रूप मानस यज्ञ का सम्पादन करते हुये जब देवताओं ने विराट् पुरुष रूपी पशु को बाँधा, अर्थात् स्वीकार किया तो इस यज्ञ की सात परिधियाँ और इक्कीस समिधायें बनाई गई।

संहिता-पाठः

16. यज्ञेन यज्ञमयजनत देवास् तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।

ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः।।

पद-पाठः

यज्ञेन। यज्ञम्। अयजन्त। देवाः।

तानि। धर्माणि। प्रथमानि। आसन्।

ते। ह। नाकम्। महिमानः। सचन्त।

यत्र। पूर्वे। साध्याः। सन्ति। देवाः।।16।।

अन्वय— देवाः यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त। तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्। महिमानः ते ह नाकं सचन्त, यत्र पूर्वे साध्याः देवाः सन्ति।

शब्दार्थ— यज्ञेन = संकल्प रूप मानस यज्ञ के द्वारा। **यज्ञम्** = परम पुरुष यज्ञ रूप प्रजापति का। **अयजन्त** = यजन किया था। **धर्माणि** = नियम, सृष्टि उत्पत्ति के विधान। **प्रथमानि** = सबसे मुख्य। **नाकम्** = दिव्य स्वर्ग को। **महिमान** = महिमा को प्राप्त करने वाले। पूर्वे प्राचीन काल के। **साध्याः** = सिद्धि को प्राप्त करने वाले। **सचन्त** = प्राप्त करते हैं।

हिन्दी अनुवाद— देवताओं ने उस संकल्प रूप मानस यज्ञ के द्वारा उस यज्ञ रूप परम पुरुष प्रजापति का यजन (पूजन) किया था। उससे उत्पन्न हुये.उनके वे धर्म (नियम या सृष्टि उत्पत्ति के विधान) सबसे मुख्य हुये। महिमा को प्राप्त करने वाले वे देवता उस दिव्य स्वर्ग को प्राप्त करते हैं, जहाँ प्राचीन काल में सिद्धि को प्राप्त करने वाले देवता रहते हैं।

5. कितव (अक्ष) सूक्त

मण्डल 10 **सूक्त 34**

ऋषि—कवषऐलूष

देवता—अक्षकृषिप्रशंसा **देवता**— अक्षकृषिप्रशंसा **छन्दः** — सातवें मन्त्र में जगती शेष सब में त्रिष्टुप्।

संहिता-पाठः

1. प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः।

सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभादको जागृविर्मह्यमच्छान्।

पद-पाठः

प्रावेपाः। मा। बृहतः। मादयन्ति।

प्रवातेऽजाः। इरिणे। वर्वृतानाः।

सोमस्यऽइव। मौजऽवतस्य। भक्षः।

विऽभीदकः। जागृविः। मह्यम्। अच्छान्।।1।।

अन्वय— बृहतः प्रवातेजाः इरिणे वर्वृतानाः प्रावेपाः मा मादयन्ति। मौजवतस्य सोमस्य भक्षः इव जागृविः विभीदकः मह्यम् अच्छान्।

संस्कृत व्याख्या— बृहतः प्रवातेजाः प्रवणे देशे जाताः इरिणे आस्फारे वर्वृतानाः प्रवर्तमानाः प्रावेपाः कम्पनशीला अक्षाः मां मादयन्ति हर्षयन्ति। अपि च जागृविः जागरणस्य कर्ता विभीदकः विभीतकस्य विकारोऽक्षः मह्यं माम् अच्छान् अत्यर्थं मादयति। तत्र दृष्टान्तः सोमस्य इव यथा सोमस्य मौजवतः मूजवति पर्वते जातस्य भक्षः पान। मादयति।

शब्दार्थ—प्रावेपाः = फैंके जाते हुय, कम्पनशील। **मा** = मुझको। **बृहतः** = बड़े आकार के। **मादयन्ति** = मस्त कर देते हैं। **प्रवातेजाः** = पहाड़ों के ढालू स्थानों पर या अधिक तेज वायु वाले स्थानों पर उत्पन्न हुये। **इरिणे** = जुआ खेलने के पट्ट पर। **वर्वृतानाः** = फैलाये जाते हुये। **सोमस्य** = सोम के। **भक्षः इव** = पान के समान। **विभीदकः** = विभीतक का पासा। **जागृविः** = दिन रात जागने वाला। **अच्छान्** = अत्यधिक उन्मादित करता है।

हिन्दी अनुवाद— बड़े आकार के, पहाड़ों के ढालू स्थानों पर या अधिक तेज वायु वाले स्थानों पर उत्पन्न हुये, जुआ खेलने के पट्ट पर फैलाये जाते हुये, फैंके जाते हुये विभीतक के बने हुये जुआ खेलने के पासे मुझको मस्त कर देते हैं। मुञ्जवान् पर्वत पर उत्पन्न होने वाले सोम का पान जिस प्रकार मदोन्मत्त कर देता है, उसी प्रकार दिन-रात जगाने वाला पास मुझको अत्यधिक उन्मादित करता है।

संहिता-पाठः

2. न मा मिमेथ न जिहील एषा शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत्।

अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामंप जायामरोधम्।।

पद-पाठः

न। मा। मिमेथ। न। जिहीले। एषा।

शिवा। सखिऽभ्य:। उत। मह्यम्। ह्य आसीत्।

अक्षस्य। अहम्। एकऽपरस्य। हेतो:।

अनुव्रताम्। अप। जायाम्। अरोधम्।।2।।

अन्वय—एषा मा न मिमेथ न जिहीले सखिभ्य: उत मह्यम् शिवा आसीत्। एकपरस्य अक्षस्य **हेतो:** अहम् अनुव्रताम्। जायाम् अप अरोधम्।

संस्कृत व्याख्या— एषा मम जाया माम् मा न मिमेथ च न चुक्रोध न जिहीले न लज्जितवती च। सखिभ्य: अस्मन्मित्रेभ्य: शिवा सुखकरी आसीत् उत अपि च मह्यम् शिवा आसीत्। एवं च एकपरस्य एक: अक्ष: एव परं प्रध ाानं यस्य तस्य अक्षस्य हेतो: कारणद् अहम् अनुव्रताम् अनुकूलां जायां पत्नीम् अप अरोधं परित्यक्तवान् अस्मि।

शब्दार्थ—मिमेथे = क्रोध करती थी। **जिहीले** = लज्जित करती थी। **शिवा** = सुख देने वाली। **सखिभ्य:** = मित्रों के लिये। **अक्षस्य** = जुये के। **एकपरस्य** = एकमात्र। **अनुव्रताम्** = पतिव्रता। **जायाम्** = पत्नी को। **अप अरोध ाम्** = छोड़ दिया है।

हिन्दी अनुवाद— यह मेरी पत्नी मुझ पर क्रोध नहीं करती थी और मुझे लज्जित नहीं करती थी। यह मेरे मित्रों और मेरे लिये सुख देने वाली थी। एकमात्र जुये के कारण से मैंने इस पतिव्रता पत्नी को छोड़ दिया है।

संहिता-पाठः

3. द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि न नाथितो विन्दते मर्डितारम्।

अश्वस्येव जरतो वस्न्यस्य नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम्।।

पद-पाठः

द्वेष्टि। श्वश्रू:। अप। जाया। रुणद्धि।

न। नाथित:। विन्दते। मर्डितारम्।

अश्वस्यऽइव। जरत:। वस्न्यस्य।

न। अहम्। विन्दामि। कितवस्य। भोगम्।।3।।

अन्वय—श्वश्रू: द्वेष्टि जाया अपरुणद्धि। नाथित: मर्डितारम् न विन्दते। वस्न्यस्य जरत: अश्वस्य इव अहम् कितवस्य भोगम् न विन्दामि।

संस्कृत-व्याख्या— श्वश्रू: जायाया: माता द्वेष्टि कितवं निन्दति जाया पत्नी अप रुणद्धि नाथित: याचमान: कितव: मर्डितारं धनदानेन सुखयितारं जनं न विन्दते लभते। एवं विचिन्त्य कितव: कथयति अहम् कितव: जरत: वृद्धस्य वस्न्यस्य मूल्यार्हस्य अश्वस्य इव कितवस्य भोगं न विन्दामि न लभे।

शब्दार्थ— द्वेष्टि = द्वेष करती है। **श्वश्रू:** = सास। **अपरुणद्धि** = विरूद्ध हो जाती है। **नाथित:** = याचना करता हुआ। **विन्दते** = प्राप्त करता है। **मर्डितारम्** = सुख देने वाले को। **अश्वस्य** = घोड़े का। **जरत:** = बूढ़े। **वस्न्यस्य**

= बहुमूल्य। **कितवस्य** = जुआरी होने के।

हिन्दी अनुवाद— जुआरी की सास उससे द्वेष करती है और उसकी पत्नी उसके विरूद्ध हो जाती है। याचना करने पर भी जुआरी सुख देने वाले व्यक्ति को प्राप्त नहीं करता। जिस प्रकार बहुमूल्य किन्तु बूढ़े घोड़े का मूल्य प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार मैं जुआरी होने के भोगों को प्राप्त नहीं करता हूँ।

संहिता-पाठः

4. अन्ये जायां परिं मृशन्त्यस्य यस्यागृधद्वेदने वाज्यअक्षः।

पिता माता भ्रातर एनमाहुर्न जीनीमो नयता बद्धमेतम्।।

पद-पाठः

अन्ये। जायाम्। परि। मृशनित। अस्य।

यस्य। अगृधत्। वेदने। वाजी। अक्षः।

पिता। माता। भ्रातरः। एनम्। आहुः।

न। जानीमः। नयत। बद्धम्। एतम्।।4।।

अन्वय— यस्य वेदने वाजी अक्षः अगृधत, अस्य जायाम् अन्ये परिमृशन्ति। पिता माता भ्रातरः एनम् आहुः न जानीमः बद्धम् एतम् नयत।

संस्कृत-व्याख्या— यस्य कितवस्य वेदने धने वाजी धनवान् अक्षः देवः अगृधत् अभिकाङ्क्षां करोति अस्य कितवस्य जायां भार्याम् अन्ये प्रतिकितवाः परिमृशन्ति वस्त्रकेशाद्याकर्षणेन संस्पृशन्ति। किं च पिता, माता, भ्रातरः च एनं कितवम् आहुः वदन्ति, न जानीमः न वयमेनं जानीमः। बद्धं रज्जवा संयतम् एतम् एनं नयत यथेष्टा देशं प्रापयत।

शब्दार्थ— **अन्ये** = दूसरे जुआरी। **परिमृशन्ति** = अपमानित करते हैं। **अगृधत्** = ललचाने लगता है। **वेदने** = ध न पर। **बाजी** = बलवान्। **अक्षः** = जुए का पासा। **एनम्** = इसके विषय में। **बद्धम्** = बंधा हुआ।

हिन्दी अनुवाद— जिस पुरुष के धन पर बलवान जुए का पास ललचाने लगता है, अर्थात् जो अपनी सम्पत्ति को जुए में लगाने लगता है, इस जुआरी की पत्नी को दूसरे जीतने वाले जुआरी वस्त्र केश आदि खींच कर अपमानित करते हैं। जुआरी के पकड़ लिये जाने पर उसके माता, पिता और भाई इसके विषय में कहते हैं कि हम इसको नहीं जानते, बंधे हुये इसको ले जाओ।

संहिता-पाठः

5. यदादीध्ये न दविषाण्येभिः परायद्भ्योऽव हीये सखिभ्यः।

न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रतँ एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव।

पद-पाठः

यत्। आऽदीध्ये। न। दविषाणि। एभिः।

परायत्ऽभ्यः। अव। हीये। सखिऽभ्यः।

निऽउप्ताः। च। बभ्रवः। वाचम्। अक्रत।

एमि। इत्। एषाम्। निःऽकृतम्। जारिणीऽइव।।5।।

अन्वय— यत् आदीध्ये एभिः न दविषाणि परायद्भयः सखिभ्यः अवहीये। बभ्रवः न्युप्ताः च वाचम् अक्रत, एषाम् निष्कृतम् जारिणी इव एमि इत्।

संस्कृत-व्याख्या— यत् यदा आदीध्ये अहं ध्यायामि एभिः अक्षैः न दविषाणि न दूषये न परितपामि अथवा न देविष्यामीत्यर्थः परायद्भ्यः स्वयमेव परागच्छभ्यः सखिभ्यः अवहीये अवहितो भवामि, किं च बभ्रवः बभ्रुवर्णाः, न्युप्ताः कितवैर्निक्षिप्ताः अक्षाः वाचं शब्दम् अक्रत कुर्वन्ति तदा एषाम् अक्षाणां निष्कृतं स्थानं जारिणी इव स्वैरिणी वनिता इव एमि इत् गच्छाम्येव। अक्षव्यसनेनाभिभूतः भवामि इति भावः।

शब्दार्थ— यत् = जब। **आदीध्ये** = विचार करता हूँ। **दविषाणि** = खेलूँ, दूषित करूं, दुःखी होऊँ। **परायद्भ्यः** = जुए के स्थान की ओर जाते हुए। अवहीये = अक्षपट्ट पर फैंके जाते हुए। बभ्रवः = भूरे रंग के। अक्रत = करते हैं। एमि इत् = पहुँच ही जाता हूँ। निष्कृतम् = स्थान पर। जारिणी = व्यभिचारिणी स्त्री।

हिन्दी अनुवाद— जब मैं यह विचार करता हूँ कि पासों से न खेलूँ और इस प्रकार का निश्चय करके जुए के स्थान की ओर जाते हुए मित्रों से छिप जाता हूँ, और इस समय जब भूरे रंग के और अक्ष पट्ट पर फैंके जाते हुये पासे शब्द करते हैं, उस समय इस स्थान पर अर्थात् जुएखाने में व्यभिचारिणी स्त्री के समान मैं पहुँच ही जाता हूँ।

संहिता-पाठः

6. सभामेति कितवः पृच्छमानो जेष्यामीति तन्वा3 शूशुजानः।

अक्षासो अस्य वि तिरन्ति कामं प्रतिदीव्ने दधत आ कृतानि।।

पद-पाठः

सभाम्। एति। कितवः। पृच्छमानः।

जेष्यामि। इति। तन्वा। शूशुजानः।

अक्षासः। अस्य। वि। तिरन्ति। कामम्।

प्रतिऽदीव्ने। दधतः। आ। कृतानि।।6।।

अन्वय— तन्वा शूशुजानः जेष्यामि इति पृच्छमानः कितवः सभाम् एति। प्रतिदीव्ने कृतानि आदधतः अक्षासः अस्य कामम् वि तिरन्ति।

संस्कृत व्याख्या— तन्वा शरीरेण शूशुजानः दीप्यमानः कितवः जेष्यामि विजयं करिष्यामि इति गर्वयुक्तः पृच्छमानः सभाम् अन्वेषयन् अक्षस्य निष्कृतम् एति गच्छति। तत्र प्रतिदीव्ने प्रतिद्वन्द्विने कितवाय कृतानि देवनोपयुक्तकर्माणि आदधतः जायार्थं मर्यादया दधतः अक्षासः अस्य कितवस्य कामम् इच्छां वितिरन्ति वर्धयन्ति।

शब्दार्थ—सभाम् = जुआ खेलने की सभा को। **कितवः** = जुआरी। **पृच्छमानः** = पूछता हुआ। **तन्वा** = शरीर से। **शूशुजानः** = चमकता हुआ। **वितिरन्ति** = बढ़ा देते हैं। **कृतानि** = दावों को।

हिन्दी अनुवाद— अपने शरीर से चमकता हुआ अर्थात् सुन्दर रूप से सजा धजा, मैं सबको जुए में जीत लूँगा। इस प्रकार से जुएखाने को पूछता हुआ जुआरी जुआ खेलने की सभा में जाता है। वहाँ प्रतिद्वन्द्वी जुआरी के साथ दाँवों को लगाते हुये पासे उसकी इच्छा को बढ़ा देते हैं।

संहिता-पाठः

7. अक्षास इदङ्कुशिनो नितोदिनो निकृत्वानस्तपनास्तापयिष्णवः।

कुमारदेष्णा जयतः पुनर्हणो मध्वा संपृक्ताः कितवस्य बर्हणा।।

पद-पाठः

अक्षासः। इत्। अङ्कुशिनः। निऽतोदिनः।

निऽकृत्वानः। तपनाः। तापयिष्णवः।

कुमारऽदेष्णाः। जयतः। पुनःऽहनः।

मध्वा। सम्ऽपृक्ताः। कितवस्य। बर्हणा।।7।।

अन्वय—अक्षासः इत् अङ्कुशिनः नितोदिनः निकृत्वानः तपनाः तापयिष्णवः। जयतः कितवस्य कुमारदेष्णाः, पुनः मध्वा सम्पृक्ताः बर्हणा हनः।

संस्कृत-व्याख्या— अक्षासः अक्षाः इत् निश्चयेन इडकुशिनः अङ्कुशवन्तः नितोदिनः नितोदितवन्तः निकृत्वानः पराजये निकर्तनशीलाः तपनाः संतापकाः तापयिष्णवः कुटुम्बस्य संतापशीलाश्च भवन्ति। जयतः कितवस्य कुमारदेष्णाः धनदानेन कुमाराणां दातारः पुनः च तदनन्तरं च मध्वा मधुना सम्पृक्ताः बर्हणा सर्वस्वहरणेन हनः हन्तारो भवन्ति।

शब्दार्थ— इत् = निश्चय ही। **अङ्कुशिनः** = अङ्कुश वाले होते हैं। **नितोदिनः** = चाबुक से युक्त होते हैं। **निकृत्वानः** = जड़मूल से बरबाद करने वाले हैं। **तपनाः** = सन्ताप देने वाले हैं। **तापयिष्णवः** = कुटुम्ब को दुःख देने वाले हैं। **कुमारदेष्णाः** = पुत्रों को देते हैं। **जयतः** = जीतने वाले के। **पुनः** = फिर। **हनः** = मारने वाले होते हैं। **मध्वा** = शाहद से। **संपृक्ताः** = सने हुये। **बर्हणा** = सर्वस्व हरण करके।

हिन्दी अनुवाद— जुए के पास निश्चय ही अङ्कुश वाले होते हैं। अर्थात् जिस प्रकार अङ्कुश हाथी पर शासन करता है उसी प्रकार वे जुआरी पर शासन करते हैं। चाबुक से युक्त होते हैं। जिस प्रकार चाबुक गाय बैल आदि को चलाता है, उसी प्रकार वे जुआरी को चलाते हैं। जड़मूल से बरबाद करने वाले हैं। जुआरी को सन्ताप देने वाले और उसके कुटुम्ब को दुःख देने वाले हैं। जीतते हुये जुआरी को वे धन देकर पुत्रों को देते हैं, परन्तु फिर शहद से सने हुये ये पुनः सर्वस्व हरण करके इसको मारने वाले होते हैं।

संहिता-पाठः

८. त्रिपञ्चाशः क्रीलति व्रात एषां देव इव सविता सत्यधर्मा।

उग्रस्य चिन्मन्यवे ना नमन्ते राजा चिदेभ्यो नम इत्कृणोति।।

पद-पाठः

त्रिऽपञ्चाशः। क्रीलति। व्रातः। एषाम्।

देवःऽइव। सविता। सत्यऽधर्मा।

उग्रस्य। चित्। मन्यवे। न। नमन्ते।

राजा। चित्। एभ्यः। नमः। इत्। कृणोति।।8।।

अन्वय—सत्यधर्मा सविता देवः एषाम् त्रिञ्चाशः व्रातः क्रीडति। उग्रस्य चित् मन्यवे न नमन्ते। एभ्यः राजा चित् नमः इत् कृणोति।

संस्कृत-व्याख्या—एषाम् अक्षाणां त्रिपञ्चाशः व्रात संघः क्रीडति आस्फारे विहरति, सत्यधर्मा सविता सर्वस्य जगतः प्रेरकः देवः सूर्य इव। किं च उग्रस्य चित् क्रूरस्यापि मन्यवे क्रोधाय न नमन्ते न प्रह्वीभवन्ति न वशे वर्तन्ते इत्यर्थः। राजा चित् ईश्वरोऽपि एभ्यः नमः इत् नमस्कारमेव कृणोति करोति।

NOTES

शब्दार्थ— **त्रिपञ्चाशः** = 53 संख्या का। **क्रीडति** = खेलता है। **व्रातः** = समूह। **सविता** = सबका प्रेरक सूर्य। **सत्यधर्मा** = सत्य नियमों वाला। **उग्रस्य** = भयानक। **मन्यवे** = क्रोधी। **नमन्ते** = झुकते हैं। **चित्** = भी। **नमः** = नमस्कार। **कृणोति** = करता है।

हिन्दी अनुवाद— सत्य नियमों वाले सबके प्रेरक सूर्य देवता के समान इन पासों का 53 संख्या का समूह अक्षपट्ट पर खेलता है। ये पासे क्रोधी भयानक पुरुष के आगे भी नहीं झुकते। इन पासों के लिये राजा भी नमस्कार ही करता है।

संहिता-पाठः

9. नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्त सहन्ते।

दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तो हृदय निर्दहन्ति।।

पद-पाठः

नीचाः। वर्तन्ते। उपरि। स्फुरन्ति।

अहस्तासः। हस्तऽवन्तम्। सहन्ते।

दिव्याः। अङ्गाराः। इरिणे। निऽउप्ताः।

शीताः। सन्तः। हृदयम्। निः। दहन्ति।।9।।

अन्वय—नीचा वर्तन्ते उपरि स्फुरन्ति। अहस्तासः हस्तवन्तम् सहन्ते। दिव्याः अङ्गराः इरिणे न्युप्ताः शीता सन्तः हृदयम् निर्दहन्ति।

संस्कृत-व्याख्या—नीचाः नीचैः स्थले वर्तन्ते तथापि उपरि पराजयाद् भीतानां हृदयस्योपरि स्फुरन्ति। अहस्तासः हस्तरहिता अपि हसतवन्तं हस्तयुक्तं जनं सहन्ते पराजयकरणेन अभिभवन्ति। दिव्या दिवि भवा अङ्गरा अङ्गारसदृशाः अक्षाः इरिणे इन्धनरहिते आस्फारे न्युप्ताः प्रक्षिप्ताः शीताः शीतलस्पर्शाः सन्तः हृदयं निर्दहन्ति पराजयजनितसन्तापेन भस्मीकुर्वन्ति।

शब्दार्थ— **नीचाः** = नीचे। **वर्तन्ते** = डाले जाते हैं। **उपरि** = ऊपर। **स्फुरन्ति** = जुआरियों के हृदयों को उछाल देते हैं। **अहस्तासः** = हाथों से रहित होते.हुये। **हस्तवन्तम्** = हाथ वाले को। **सहन्ते** = दबा देते हैं। **दिव्याः** अनोखे। **अङ्गाराः** = अङ्गारों के सदृश। **इरिणे** = अक्ष पट्ट पर। **न्युप्ताः** = फैंके जाते हुये। **निर्दहन्ति** = जला देते हैं।

हिन्दी अनुवाद— ये पासे नीचे अक्षपट्ट पर डाले जाते हैं, परन्तु ऊपर जुआरियों के हृदय को उछाल देते हैं। हाथों से रहित होते हुये भी हाथ वाले जुआरी को दबा देते हैं। अनोखे अङ्गारों के सदृश ये पासे अक्षपट्ट पर फैंके जाते हुये स्पर्श में शीतल होते हुये भी हृदय को जला देते हैं।

संहिता-पाठः

10. जाया तप्यते कितवस्यं हीना माता पुत्रस्य चरतः क्व स्वित्।

ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तुमुप नक्तमेति।।

NOTES

पद-पाठः

जाया। तप्यते। कितवस्य। हीना।

माता। पुत्रस्य। चरतः। क्व। स्वित्।

ऋणऽवा बिभ्यत्। धनम्। इच्छमानः।

अन्येषाम्। अस्तम्। उप। नक्तम्। एति।।10।।

अन्वय— क्व स्वित् चरतः कितवस्य हीना जाया तप्यते। पुत्रस्य माता। ऋणावा बिभ्यद्धनम् इच्छमानः अन्येषाम् अस्तम् नक्तम् उप एति।

संस्कृत-व्याख्या— क्व स्वित् क्वापि चरतः निर्वेदाद् गच्छतः कितवस्य जाया भार्या हीना परित्यक्ता सती तत्यते दुःखिता भवति। माता जननी अपि पुत्रस्य तप्यते। ऋणावा ऋणवान् कितवः बिभ्यद्धनं स्तेयजनितं धनम् इच्छमानः कामयमानः अन्येषां ब्राह्मणादीनाम् अस्तं गृहं नक्तम् उप एति चौर्यार्थं रात्रौ उपगच्छति।

शब्दार्थ— तप्यते = संतप्त होती है। **हीना** = बिछड़ी हुई। **चरतः** = घूमते हुये। **क्वस्वित्** = कहीं भी। **ऋणावा** = कर्जदार होता हुआ। **बिभ्यत् धनम्** = चोरी के धन को। **इच्छमानः** = चाहता हुआ। **अस्तम्** = घर में। **नक्तम्** = रात्रि में।

हिन्दी अनुवाद— हार कर घर से भाग कर कहीं भी घूमते हुये जुआरी की बिछड़ी हुई पत्नी दुखी होती है। उस जुआरी पुत्र की माता दुःखी होती है। कर्जदार होता हुआ वह चोरी के धन को चाहता हुआ दूसरे के घर में रात के समय चोरी के लिये आता है।

संहिता-पाठः

11. स्त्रियम्। दृष्ट्वाय। कितवम्। ततापा।

अन्येषाम्। जायाम्। सुऽकृतम्। च। योनिम्।

पूर्वाह्णे। अश्वान्। युयुजे। हि। बभ्रून्।

सः। अग्नेः। अन्ते। वृषलः। पपाद।।11।।

अन्वय— कितवम् स्त्रियम् अन्येषाम् जायाम् सुकृतम् च योनिम् दृष्ट्वाय ततापा। पूर्वाह्णे हि बभ्रून् अश्वान् युयुजे। वृषलः सः अग्नेः अनते पपाद।

संस्कृत-व्याख्या—कितवम् कितवः स्त्रियं स्वपत्नीं अन्येषां परेषां जाया धर्मपत्नीं सुकृतं सुष्ठु सम्पादितं च योनिं गृहं दृष्ट्वाय दृष्ट्वा तताप दुःखितो भवति। पूर्वाह्णे प्रातःकाले बभ्रून् बभ्रुवर्णान् अश्वान् व्यापकानक्षान् युयुजे युनक्ति पुनः वृषलः वृषलकर्मा सः कितवः अग्नेः अन्ते समीपे पपाद शीतार्तः सन् शेते।

शब्दार्थ— स्त्रियम् = पत्नी को। **दृष्ट्वाय** = देखकर। **तताप** = दुःखी होता है। **सुकृतम्** = सुन्दर सजाये गये। **योनिम्** = घर को। **पूर्वाह्णे** = दिन के पहले भाग में। **युयुजे** = जोतता है। **बभ्रून्** = भूरे रंग के। **वृषलः** = नीच आचरण करता हुआ। **अन्ते** = समीप। **पपाद** = पड़ा रहता है।

हिन्दी अनुवाद— जुआरी अपनी पत्नी को, दूसरों की स्त्रियों को और उनके सुन्दर सजाये गये घर को देखकर दुःखी होता है। दिन के पहले भाग में वह निश्चय से भूरे रंग के पासों को दाँव पर लगाता है या घोड़ों को जोतता है और तदनन्तर नीच आचरण करता हुआ वह अग्नि के समीप पड़ा रहता है। अर्थात् अग्नि के पास पड़े-पड़े रात बिताता है।

अपनी पत्नी की दीन अवस्था को देखकर उसको मन में दु:ख होता है और जब वह यह देखता है कि दूसरों की पत्नियाँ सुखी सजी धजी हैं तथा उनके सजे हुये सम्पन्न घर है, तो उसे दु:ख होता है।

संहिता-पाठः

12. यो व: सेनानीर्महतो गणस्य राजा व्रातस्य प्रथमो बभूव।

तस्मै कृणोमि न धना रुणध्मि दशाहं प्राचीस्तदृतं वदामि।

पद-पाठः

य:। व:। सेनाऽनी:। महत:। गणस्य।

राजा। व्रातस्य। प्रथम:। बभूव।

तस्मै। कृणोमि। न। धना। रुणध्मि।

दश। अहम्। प्राची:। तत्। ऋतम्। वदामि।।12।।

अन्वय—व: महत: गणस्य य: सेनानी: बभूव, व्रातस्य प्रथम:, राजा, तस्मै अहम् दश प्राची: कृणोमि, धना न रुणध्मि, तत् ऋतम् वदामि।

संस्कृत-व्याख्या— हे अक्षा: व: युष्माकं महत: गणस्य संघस्य य: अक्ष: सेनानी: नेता बभूव भवति, व्रातस्य च प्रथम: मुख्य: राजा ईश्वर: भवति, तस्मै अक्षाय अहं कृणोमि अञ्जलि कृणोमि, तदनन्तरं धना धनानि न रुणध्मि सम्पादयामि। अहं दश दशसंख्याका: अङ्गुलय: प्राची: प्राङ्मुखीकरोमि तद् अहम् ऋतं सत्यं वदामि।

शब्दार्थ—महत: = महान्। **गणस्य** = समुदाय का। **सेनानी:** = नायक। **प्रथम:** = प्रमुख। **रुणध्मि** = सम्पादित करता हूँ। **दश** = दस अङगुलियाँ। **प्राची:** = सामने की ओर। **ऋतम्** = सत्य।

हिन्दी अनुवाद— हे पासो! तुम्हारे महान् 53 संख्या वाले समुदाय का जो नायक है और जो तुम्हारे समूह में से मुख्य राजा है, उसके लिये मैं दस अंगुलियों को सामने करके हाथ जोड़ता हूँ। उनके लिये मैं धनों को सम्पादित नहीं करता। यह मैं सत्य कहता हूँ।

संहिता-पाठ

13. अक्षैर्मा दीव्य: कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमान:।

तत्रा गाव: कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्य:।।

पद-पाठः

अक्षै:। मा। दीव्य:। कृषिम्। इत्। कृषस्व।

वित्ते। रमस्व। बहु। मन्यमान:।

तत्र। गाव:। कितव। तत्र। जाया।

तत्। मे। वि। चष्टे। सविता। अयम्। अर्य:।।13।।

अन्वय— कितव! अक्षै: मा दीव्य:। कृषिम् इत् कृषस्व। वित्ते बहु मन्यमान: रमस्व। तत्र गाव:, तत्र जाया। अयम् सविता: अर्य: तत् मे वि चष्टे।

संस्कृत-व्याख्या— हे कितव! बहु मन्यमान: मदीये वचने विश्वासं कुर्वन् त्वम् अक्षै: मा दीव्य: द्यूतं मा कुरु, कृषिमित् कृषिमेव कृषस्व कुरु, वित्ते कृष्या सम्पादिते धने रमस्व रति कुरु। तत्र कृषौ गाव: भवन्ति, तत्र जाया भवति, तत् तदेव सविता सर्वस्य प्रेरक: अयं दृष्टिगोचर: अर्य: ईश्वर: मे मह्यम् विचष्टे विविध्माख्यातवान्।

शब्दार्थ— मा दीव्य: = जुआ मत खेलो। **कृषिम्** = खेती। **उत** = ही। **रमस्व** = आनन्द प्राप्त करो। **मन्यमान:** = समझते हुये। **विचष्टे** = बताया है। **सविता** = संसार का प्रेरक। **अर्य:** = स्वामी।

हिन्दी अनुवाद— हे जुआरी! पासों से जुआ मत खेलो। खेती ही करो। खेती द्वारा प्राप्त धन को बहुत समझते हुये उसी में आनन्द प्राप्त करो। उसी में तुमको गौ आदि भोग्य पदार्थ प्राप्त होंगे और उसी में तुमको पत्नी अर्थात् दाम्पत्य सुख प्राप्त होगा। इस संसार के प्रेरक सबसे स्वामी ईश्वर ने यह बात मुझको बताई है।

संहिता-पाठः

14. मित्रं कृणुध्व खलु मृलता नो मा नो घोरेण चरताभि धृष्णु।

नि वो नु मन्युर्विशतामरातिरन्यो बभ्रूणां प्रसितौ नु वस्तु।।

पद-पाठः

मित्रम्। कृणुध्वम्। खलु। मूलत। न:।

मा। न:। घोरेण। चरत। अभि। धृष्ण।

नि। व:। नु। मन्यु:। विशताम्। अराति:।

अन्य:। बभ्रूणाम्। प्रऽसितौ। नु। अस्तु।।14।।

अन्वय— मित्रं कृणुध्वम् खलु न मृलत। न: धृष्णु घोरेण मा अभिचरत। व: मन्यु: नु अराति: नि विशताम्। अन्य: नु बभ्रूणाम् प्रसितौ अस्तु।

संस्कृत-व्याख्या— हे अक्षा:। यूयं मित्रं कृणुध्वम् अस्मासु मैत्रीं कुरुत। खलु न: अस्मान् मृलत सुखयत च। न: अस्मान् धृष्णु धृष्णुना घोरेण असह्येन भयङ्कररूपेण मा अभिचरत मा गच्छत। व: युष्माकं मन्यु: क्रोध: नु निश्चयेन अराति: अस्माकं शत्रु: निविशतां तिष्ठतु। अस्मच्छत्रुषु तिष्ठतु। अस्मच्छत्रुषु तिष्ठतु। अन्य: कश्चित् शत्रु: नु क्षिप्रं बभ्रूणां बभुवर्णानां युष्माकं प्रसितौ बन्धने अस्तु भवतु।

शब्दार्थ— मित्रं कृणुध्वम् = मित्रता कर लो। **मृलत** = सुखी करो। **घोरेण** = भयानक रूप से। **अभिचरत** = आचरण करो। **धृष्णु** = दबाने वाला। **मन्यु:** = क्रोध। **निविशताम्** = प्रवेश करे। **अराति:** = शत्रुओं में। **बभ्रूणाम्** = भूरे रंग के पासों के। **प्रसितौ** = बन्धन में। **नु** = शीघ्र ही।

हिन्दी अनुवाद— हे पासो! तुम हमसे मित्रता कर लो। निश्चय से हमें सुखी करो। हमारे प्रति दबाने वाले और भयानक आचरण को मत करो। तुम्हारा क्रोध निश्चय से हमारे शत्रुओं में प्रवेश करे और कोई दूसरा हमारा शत्रु ही शीघ्र तुम्हारे भूरे रंग के पासों के बन्धन में पड़े।

ऋग्वैदिक देवता

ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त का एक अपना देवता है, जिसमें उस देवता की स्तुति की गई है। यास्क ने देवता का अर्थ किया है— ''देवा दानाद् द्योतनाद् दीपनाद् वा''। पदार्थों को देने वाले, प्रकाशित होने वाले अथवा प्रकाशित करने वाले को देवता कहा जाता है। ऋग्वेद में देवताओं की कुल संख्या 33 है। यास्क ने देवताओं को तीन प्रकार का बताया है— पृथिवी स्थानीय, अन्तरिक्ष स्थानीय और द्युस्थानीय। अनेक विद्वान विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों को

देवता कहते हैं। कुछ आलोचकों ने अग्नि आदि देवतावाचक शब्दों का अर्थ परमेश्वर किया है तथा उसमें विभिन्न शक्तियों की कल्पना की है। बृहद्देवता और निरुक्त में एक ही महादेवता परमात्मा को माना गया है। ऋग्वेद के प्रमुख देवता निम्न हैं-

1. **अग्नि**— प्रभाव और विस्तार की दृष्टि से अग्नि को ऋग्वेद में दूसरा स्थान प्राप्त है। 200 सूक्तों में अग्नि की स्तुति की गई है। वैदिक मन्त्रों में अग्नि की तीन प्रमुख विशेषताएँ बताई हैं— (क) नेतृत्व शक्ति से सम्पन्न होना, (ख) यज्ञ की आहुतियों को ग्रहण करना और (ग) तेज एवं प्रकाश का अधिष्ठाता होना। अग्नि को 'जातवेदा:' कहा गया है, अर्थात् वह ज्ञान का आगार है और उपासना करने वालों का कल्याण करता है। अग्नि की उपासना बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। भारत, फारस और ग्रीस में इसकी उपासना समान रूप से होती रही थी।

   अग्नि की जिह्वा द्वारा देवता हवियों का उपभोग करते हैं। दीप्यमान मूर्धा से, ज्वालाओं से, यह सब दिशाओं में विचरण करता है। यह देवताओं का मुख है। इसकी लपटें चम्मच हैं। इससे प्रार्थना की जाती है कि वह हव्य का भोजन करे। सोमरस का पान करने के लिये इसको बुलाया जाता है। इसका शरीर ज्योतिष्मान् है। यह पुरोहित है, यज्ञ का देव, ऋत्विक् है, नेता है, श्रेष्ठ रत्नों को धारण करने वाला है। यह सूर्य और बिजली के समान चमकता है। यह रात्रि में लुप्त होता है और अन्धकार को भगा देता है। इसका रास्ता काला है। जब यह जंगलों को जलाता है तो उन्हें उसी प्रकार साफ कर देता है, जैसे नाई दाढ़ी को। इसकी लपटों की ध्वनि समुद्र की गर्जनाओं के समान है। इसका लाल रंग का धुँआ आकाश तक उठता है और ऐसा प्रतीत होता है जैसे आकाश को थामने के लिये खम्बा हो। इसे धूमकेतु (धुयें की पताका वाला) भी कहा गया है। इसका रथ सोने के समान चमकता है और दो या अधिक लाल घोड़ों द्वारा खींचा जाता है।

   अग्नि देवताओं को रथ पर बैठा कर यज्ञ भूमि में लाता है। वह द्यौस् का पुत्र है। उसको जल का पुत्र भी कहा गया है। इन्द्र और अग्नि जुड़वाँ भाई हैं। अग्नि सूखी अरणियों से उत्पन्न होता है, जो उसकी माता हैं। सूखी समिधाओं से उत्पन्न होने वाला अग्नि उत्पन्न होते ही अपने माता-पिता का वध कर देता है। अग्नि को दस कन्याओं से उत्पन्न भी कहा गया है। ये दस कन्यायें मनुष्य की दस अंगुलियाँ हैं। इसको 'सहस् पुत्र' भी कहा जाता है, क्योंकि अग्नि को उत्पन्न करने के लिये मनुष्य को जोर लगाना पड़ता है। प्रात: काल के समय अग्नि का बालरूप होता है।

   जिस प्रकार ऋतु और युद्ध के कार्यों का अधिष्ठाता इन्द्र है, उसी प्रकार आर्यों के गृह-कृत्यों का अधिष्ठाता अग्नि है। यह तज का रूप है और घर के कार्यों को निष्पन्न कराता है।

   अग्नि कार्यों का प्रमुख देव है और उसके बिना कोई धार्मिक कृत्य सम्पन्न नहीं होता।

2. **इन्द्र**— इन्द्र ऋग्वेद का सबसे महान् देवता है। इन्द्र की स्तुति 1027 सूक्तों में की गई है। अपने गुणों के कारण इन्द्र आर्यों का जातीय और राष्ट्रीय देवता बन गया तथा वह सभी देवों का राजा हुआ। ऋग्वेद की ऋचाओं के अनुसार इन्द्र के तीन विशेष गुण कहे गये हैं— महाने कार्यों के करने की शक्ति, अतुल पराक्रम और दूसरों को युद्ध में जीतना।

   इन्द्र के सहायकों के नाम भी ऋग्वेद में आते हैं। द्यौ इन्द्र का पिता है, अग्नि और पूषा उसके भाई हैं और इन्द्राणी उसकी पत्नी है। मरुत् गण उसके सहायक हैं। शची नामक शक्ति का स्वामी होने के कारण इन्द्र को शचीपति, कर्मों की शक्ति रखने के कारण शतक्रतु एवं मरुतों की सहायता पाने के कारण मरुत्वान् कहा गया है।

इन्द्र का प्रमुख शत्रु वृत्र है। वह वर्षा रोकने वाला है। इन्द्र सोमपान करके और मरुतों की सहायता पाकर वृत्र पर आक्रमण करता है। इस युद्ध से द्युलोक और पृथ्वीलोक काँप उठते हैं, पहाड़ नष्ट हो जाते हैं तथा उनसे जल के झरने बहने लगते हैं। इन्द्र ने दैत्यों के पुरों को नष्ट करके पुरभित् उपाधि धारण की थी। यह मेघ रूपी पहाड़ों में निवास करने वाले दैत्यों को मार देता है और वहाँ से जल को इसी प्रकार से मुक्त करता है, जैसे कोई गायों को घेर से मुक्त करता है।

इन्द्र बहुत पराक्रमी है। उसने हिलते हुए पहाड़ों को स्थिर करके उनकी रक्षा की और आकाश और पृथिवी को स्थिर किया तथा उनको पैफलाया। इन्द्र अपने उपासकों की रक्षा करता है, सहायतां करता है और उनको धन-धान्य से पूर्ण करता है, अत: वह मघवा कहलाता है। इन्द्र उषा के रथ को हिलाने वाला हैं। वह सूर्य के घोड़ों को रोक लेता है और सोम को जीत लेता है।

वैदिक गाथाओं में इन्द्र और वृत्र प्रबल शत्रु बताये गये हैं। ऐतिहासिक दृष्टि के अनुसार वृत्र एक असुर है, जो वृष्टि का अवरोधक है। उसको मारने के लिये इन्द्र अपने वज्र को तीक्ष्ण करता है। इन्द्र का सम्बन्ध अन्य सभी देवताओं से किसी न किसी रूप में वेदों में कहा गया है। अन्य वेदों में भी उसके कुछ गुण एवं रूप बताये गये हैं। देवताओं का रूप मूर्त और अमूर्त दोनों ही प्रकार का निर्दिष्ट है।

इन्द्र का वरुण के साथ बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था। जब इन्द्र विजय करता हुआ आगे बढ़ता था तो वह विजित प्रदेशों में नियमों और व्यवस्था की स्थापना करता था। वरुण का यह नियम था कि इन्द्र जीतता चले तथा वह अधिकार, नियमों और व्यवस्था को बनावे। इन्द्र का बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति के साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध था।

ऋषि दयानन्द का कहना है कि इन्द्र की यह कल्पना धार्मिक जगत् की आलंकारिक कल्पना हैं। इन्द्र प्राण है और वरुण इन्द्रियाँ हैं। वह असुर रूपी आसुरी भावों को पराजित करता है। ऋग्वेद में स्वर्ण, रजत आदि कान्तिमान् पदार्थों को भी इन्द्र कहा है। इसीलिये निरुक्तकार यास्क कहते हैं– ''या च का च बलकृति: इन्द्रकर्मैव तत्'' अर्थात् जो भी बल और दीप्ति के कार्य हैं, वे सब इन्द्र के कार्य हैं।

इन्द्र आर्यो का सबसे महान् देवता रहा। इसीलिये ऋग्वेद के लगभग चौथाई सूक्तों में इन्द्र की स्तुति है। इसकी प्रतिष्ठा आर्यो के जातीय और राष्ट्रीय देवता के रूप में हुई है। मेक्डोनल के अनुसार आर्यो के भारत में आने से पूर्व ही इन्द्र को राष्ट्रीय देवता के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी।

3. **उषस्–** उषा के वर्णनों में ऋग्वेद के कवियों ने अपनी अलौकिक प्रतिभा को अभिव्यंजित किया है। ऋग्वेद के 20 सूक्तों में उषा की स्तुति गाई गई हैं वह सौन्दर्य की देवी है, उसके उदय होने पर आकाश का कोना-कोना जगमगा जाता है तथा विश्व हर्ष के अतिरेक से भर जाता है। उषा सूर्य की प्रेयसी है। वह एक नर्तकी के समान सजी हुई और चमकीलें वस्त्र पहने हुये पूर्व दिशा में अपना आकर्षक रूप प्रकट करती है। सूर्य एक रसिक युवक के समान उसका अनुगमन करता है।

उषा प्रत्येक प्राणी को अपने कार्य में प्रवृत्त कर देती है। चिड़ियाँ आकाश में उड़ने लगती है और मनुष्य अपने कार्यो में लग जाते हैं। नियमों का पालन कराने में वह सदा तत्पर है। देवताओं के उपासकों को वह प्रात:काल जगा देती है, उनको भजन में प्रवृत्त करती है और देवताओं को सोमपान में लगाती है।

उषा का रथ चमकदार है और उसमें लाल रंग के घोड़े जुते हैं, जिनसे वह खींचा जाता है। सूर्य की प्रात:कालीन किरणों घोड़े हैं। उषा का सूर्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह सूर्य की प्रेयसी है तथा सूर्य एक रसिक युवक के समान उसके पीछे-पीछे जाता है। कहीं-कहीं सूर्य को उसका पुत्र भी बताया गया है। उस कान्तिमान् पुत्र को गोद में उठाकर वह उदित होती है।

NOTES

कुछ स्थानों पर उषा को रात्रि की छोटी बहन भी कहा गया है तथा दोनों का साथ-साथ वर्णन है। आकाश में उत्पन्न होने के कारण उषा को स्वर्ग की पुत्री भी कहा गया है। उषा का अग्नि के साथ भी सम्बन्ध मिलता है। अग्नि उषा का प्रेमी है।

जब उषा अग्नि को जलाती है, तब अग्नि उससे मिलने के लिये लपटों को ऊपर उठाता है। उषा का सम्बन्ध अश्विनीकुमारों से भी कहा गया है।

उषा अपने भक्तों को धन, पुत्र, यश आदि प्रदान करती है, अत: उसको 'मघोनी' भी कहा गया है। उषा शब्द की निष्पत्ति ''वस्'' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है निवास करना। उषा में ज्योतिष्मान् पदार्थ निवास करते हैं।

4. **पुरुष—** सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऋग्वेद में 6-7 सूक्त हैं। इनमें पुरुष सूक्त बहुत प्रसिद्ध हैं। इस सूक्त में सृष्टि के पदार्थों की रचना का वर्णन किया गया है।

सृष्टि का मूल रूप से रचना करने वाला पुरुष है, जिसके सभी अंग सृष्टि के विभिन्न अंग बन जाते हैं। सृष्टि की रचना एक यज्ञ का रूप है, जिसमें पुरुष की बलि दी जाती है।

इस सूक्त में विराट् पुरुष के स्वरूप का वर्णन किया गया है। 'भगवदगीता' के 11वें अध्याय में विराट् पुरुष पर इसी सूक्त का प्रभाव पड़ा है। सांख्य दर्शन में पुरुष बहुलता को भी सम्भवत: यहीं से लिया गया होगा। कुछ विद्वानों का मत है कि इस सूक्त की रचना कुछ अर्वाचीन है, क्योंकि इसमें एक परम पुरुष की उपासना की गई है और एकदेवतावाद का प्रतिपादन किया गया है।

यह विराट् पुरुशं हजारों सिरों, आँखों और पैरों वाला है और उसने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को व्याप्त कर रखा है। वह भूत और भव्य का स्वामी है। उस पुरुष से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारों वर्ण उत्पन्न हुये; वसन्त आदि ऋतुयें उत्पन्न हुईं ऋक् यजुस् और साम उत्पन्न हुए। चारों वर्ण इस पुरुष के चार अंग हैं। सूर्य चक्षु है, वायु प्राण है, अग्नि मुख है और मन चन्द्रमा है। स्वर्ग या नरक की प्राप्ति इस पुरुष रूप यज्ञ द्वारा होती है। पुरुष सूक्त के अनुसार भौतिक जगत् वृक्ष, पशु, तृण, सूर्य, चन्द्र आदि की सृष्टि मनुष्य की सृष्टि से पहले हुई। इस पुरुष ने एक चरण में पृथिवी लोक की रचना की और तीन चरणों को ऊपर रखा।

ऋषियों द्वारा इस पुरुष यज्ञ का विस्तार हुआ था। इस सूक्त का रहस्य यही है कि आत्मज्ञान के द्वारा जीवन को सफल बनाना चाहिये।

5. **वरुण—** इन्द्र और अग्नि के बाद देवताओं में वरुण का महत्व है। वरुण की स्तुति 12 सूक्तों में की गई है। ऋग्वेद में वरुण का मुख्य रूप शासक का है। वह विश्व का राजा या सम्राट् है, जो प्रशासन करता है तथा नियमों का संचालन करता है। वरुण जनता के पाप-पुण्यों तथा सत्य-असत्य का हिसाब रखता है। उसके गुप्तचर विश्वभर में घूमते रहते हैं। वरुण के पाश की महिमा का वेदों में बहुत अधिक वर्णन है। वह पाश पापियों को बाँध ा लेता है; परन्तु जो पश्चाताप करते हैं, उनके प्रति वह दयालु होना भी पाया जाता है। पाप कर्म को देखते ही वह क्रुद्ध हो जाता है और नियम भंग करने वालों को कठोर दण्ड देता है। परन्तु लो लोग भूल से गलती करते हैं या नियम भंग करने के बाद उसके प्रति आत्म-समर्पण करते हैं, उनको वह क्षमा कर देता है। वरुण सूक्तों में स्थान-स्थान पर पापों को क्षमा करने की प्रार्थना की गई है।

ऋग्वेद के वरुण सूक्तों में वरुण का बाह्य रूप उज्ज्वल दिया गया है। उसके मुख, आँखों, भुजाओं और पैरों का वर्णन है। सूर्य उसके नेत्र हैं, जिनसे वह सबको देखता है। वह दूरदर्शी और हजारों आँखों वाला है। वह कुशा पर बैठता और सुनहरा वस्त्र पहनता है। उसका रथ सूर्य के समान दीप्तिमान है तथा उसमें घोड़े जुते हुए

हैं। अपने प्रासाद में बैठा हुआ वह प्रशासन और कार्य नियन्त्रण करता है। उसके गुप्तचर विश्व भर में फैले रहते हैं। वरुण का एक दूत सुनहरे पंखों का है, जो वस्तुत: सूर्य है।

वरुण ब्रह्माण्ड का सम्राट है उसने स्वर्ग और पृथिवी लोक को अपनी शक्ति से धारण किया हुआ है। वह जनता से शारीरिक और चरित्रगत नियमों का पालन करवाता है। वरुण ने सूर्य की रचना की, अग्नि और जल का निर्माण किया तथा पर्वतों पर सोमवल्ली को उत्पनन किया। वरुण रात्रि और दिन का अधिष्ठाता है। और जलों का नियमन करता है। वायु उसके आदेश में रहकर ध्वनि करती है, चन्द्रमा उसी के आदेश मानते हैं, नदियाँ उसकी आज्ञा से बहती हैं, समुद्र उसके नियन्त्रण में रहकर वेला का उल्लंघन नहीं करता और मेघ उसके आदेश से बरस कर पृथ्वी को सींचते हैं। वह आकाश में उड़ने वाले पक्षियों की गति को पहचानता है, समुद्र में चलने वाले जहाजों को जानता है और कोई भी उसकी दृष्टि से ओझल नहीं है। वह अन्य सभी देवताओं से बढ़कर है। वह 'धृतव्रत' है अर्थात् संसार को नियमों में चलाने का व्रत धारण किये हुये है।

6. **मित्र—** ऋग्वेद के देवताओं में मित्र का वरुण के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। केवल एक स्थान पर (ऋग्वेद के तीसरे मण्डल की 59वीं ऋचा) मित्र का स्वतन्त्र रूप से वर्णन है, अन्य सभी स्थानों पर इसकी स्तुति वरुण के साथ की गई है। उषा के आगे रहने वाला अग्नि मित्र का जन्मदाता है, जो पूर्णरूप से दीप्त होकर स्वयं मित्र संज्ञा को धारण कर लेता है।

मित्र के कार्य प्राय: सविता जैसे हैं। यह शब्दों द्वारा मनुष्यों को नियन्त्रित करना है, निर्निमेष आँखों से कृषकों को देखता है और उनको कृषि करने के लिये प्रेरणा देता है। किन्हीं-किन्हीं मन्त्रों में उसको प्रकाश का देवता भी कहा गया है। मित्र शब्द की रचना ''मिद्'' धातु से होती है, जिसका अर्थ है—सुहृद् होना। मित्र के स्वभाव और कार्य इसी के अनुरूप हैं। वह बहुत दयालु और शक्तिशाली है।

अथर्ववेद में और ब्राह्मण-ग्रन्थों में मित्रत्रा और वरुण के भेद बताये गये हैं मित्रा का सम्बन्ध दिन के साथ है और वरुण का रात्रि के साथ।

7. **सोम—** सोम ऋग्वेद का एक प्रमुख देवता है। इसकी स्तुति 120 सूक्तों में की गई है। ऋग्वेद का सारा नवम् मण्डल सोम की स्तुति से भरा हुआ है। सूक्तों की संख्या के आधार पर अग्नि के बाद सोम का स्थान आता है। ऋग्वेद के वर्णनों के अनुसार सोम एक वनस्पति होती थी, जो मुञ्जवान् पर्वत पर उगती थी। इसका रस अत्यधिक शक्तिप्रद एवं स्फूर्तिदायक था। विशिष्ट यज्ञों के अवसरों पर देवताओं को अर्पित करके इसका पान किया जाता था। इन्द्र को सोमरस के पान करने का बहुत शौक था। सोमरस को विशिष्ट विधियों द्वारा तैया किया जाता है।

8. **पूषन्—** पूषा की स्तुति ऋग्वेद के आठ सूक्तों में की गई है। इनमें से पाँच सूक्त छठे मण्डल के हैं। पूषा का वर्णन सोम के साथ आता है। ''पूषन्'' शब्द का अर्थ है— पोषण करने वाला। वह सूर्य की पोषण शक्ति का प्रतीक है। पूषा को चराचर का स्वामी तथा मार्गों का रक्षक बताया गया है।

ऋग्वेद में पूषा की मनुष्य-आकृति का विशेष परिचय नहीं मिलता। परन्तु उसके पैर तथा दाहिने हाथ का वर्णन मिलता है। पूषन् के सुन्दर जुल्फों वाले कश हैं तथा दाढ़ी है। उसके पास सुनहरी तलवार है तथा हाथों में सोने की माला तथा अंकुश हैं। पूषा के रथ में घोड़ों के स्थान पर बकरे जोते जाते हैं। वह प्रत्येक प्राणी को प्रेम की दृष्टि से देखता है और दलिया या जब उषा अग्नि को जलाती है,.तब अग्नि उससे मिलने के लिये लपटों को ऊपर उठाता है। उषा का सम्बन्ध अश्विनीकुमारों से भी कहा गया है।

उषा अपने भक्तों को धन, पुत्र, यश आदि प्रदान करती है, अत: उसको 'मघोनी' भी कहा गया है। उषा शब्द की निष्पत्ति ''वस्'' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है निवास करना। उषा में ज्योतिष्मान् पदार्थ निवास करते हैं।

9. **द्यावापृथिवी—** ऋग्वेद में द्युलोक और पृथिवी लोक की एक युगल देवता के रूप में कल्पना की गई है। द्यौ: के स्थान पर द्यावापृथिवी पद का प्रयोग अधिक हुआ है। द्यावापृथिवी को रोदसी नाम से भी पुकारा गया है। द्युलोक की पिता के रूप में तथा पृथिवी लोक की माता के रूप में कल्पना है। ये दोनों बहुत बुद्धिमान् हैं और पिता के समान सबकी रक्षा करते हैं।

द्यावापृथिवी महान् देवता हैं। वे कभी वृद्ध नहीं होते। वे विस्तृत और लम्बे चौड़े हैं। सबको भोजन, धन, यश और स्थान देते हैं। ये सम्पूर्ण भूमण्डल की रक्षा करते हैं और आचरणों तथा नियमों का पालन करते हैं। ये शरीर के पोषक तत्व को बढ़ाते हैं।

द्यावापृथिवी, इन दोनों देवताओं को परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध हैं। दोनों सदा एक साथ रहते हैं तथा एक-दूसरे पर समान अधिकार रखते हैं। अन्य युगल देवताओं की अपेक्षा यह युगल अधिक घनिष्ठ है।

10. **हिरण्यगर्भ—** वेदों में पुरुष से हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति प्रदर्शित की गई है। पुरुष में जो 'विराट्' उत्पन्न होता है वही हिरण्यगर्भ है। हिरण्यगर्भ को प्रजापति भी कहा गया है। पुराणों में इसी को ब्रह्मा कहा गया है।

हिरण्यगर्भ और प्रजापति कहीं तो पर्यायवाची है, कहीं हिरण्यगर्भ को प्रजापति से और कहीं प्रजापति से हिरण्यगर्भ को श्रेष्ठ बताया गया है। वास्तव में दोनों एक ही हैं। हिरण्यगर्भ सूक्त में इन दोनों की स्तुति की गई है।

सृष्टि के आदि में सबसे पहले हिरण्यगर्भ की सृष्टि हुई थी। यह उत्पन्न हुई सम्पूर्ण सृष्टि का स्वामी था। उसने इस पृथिवी और द्युलोक को धारण किया हुआ था और अपने तेज से अन्तरिक्ष में टिका हुआ था। देवलोक और पृथिवीलोक के प्राणी अपने रक्षा के लिये उसी को पुकारते हैं। प्राण शक्ति को और बल को देने वाला वही है। हिरण्यगर्भ पर्वतों की ऊँचाई और समुद्रों की गहराई को जानता है। द्युलोक उसका सिर है तथा पृथिवी पैर है। हिरण्यगर्भ देवता कर्मफल का प्रदान करने वाला है। इसी हिरण्यगर्भ के आधार पर वेदान्त दर्शन के ''सर्व खल्विदं ब्रह्म'' सूक्त का विकास हुआ था।

हिरण्यगर्भ-सूक्त में 10 मन्त्र हैं। 9 मन्त्रों की समाप्ति ''कस्मै देवाय हविषा विधेम'' से हुई है तथा दसवें मन्त्र ''प्रजापते न त्वदेतानि'' में इसका उत्तर दिया गया है।

11. **अदिति—** अदिति शब्द का अर्थ है— सीमाओं के बन्धनों से रहित। 'दा बन्धने' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय करके 'दिति' शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रकार 'दिति' शब्द का अर्थ है—जो सीमाओं के बन्धनों से बँधी है। न + दिति = अदिति। सीमाओं के बन्धनों से रहित देवता 'अदिति' है। इसलिये 'ऋग्वेद' में बन्धनों से मुक्ति के लिये 'अदिति' देवता की उपासना की गई है।

अदिति के गुणों के सम्बन्ध में दो बातें कही गई हैं— 1. यह सीमाओं के बन्धनों में रहित है, असीम है। 2. अदिति अविनश्वर अन्तरिक्ष ज्योति है तथा इसको ज्योतिष्मती कहा गया है। उषा को अदिति का घर (अदितेरनीकम्) कहा गया है, और यह 'परम् व्योमन्' में निवास करती है।

दक्ष का अदिति के साथ विशेष सम्बन्ध बताया गया है। एक स्थान पर अदिति को दक्ष की माता तथा दूसरे स्थान पर इसको दक्ष की पुत्री (दुहिता) कहा गया है। अदिति दक्ष की पुत्री थी तथा उससे देवता उत्पन्न हुए थे (ऋग्वेद 10.72.5)।

अदिति को देवताओं की माता कहा गया हैं, परन्तु सभी देवता उसके पुत्र नहीं थे। जो देवता अदिति के पुत्र हैं, वे आदित्य कहलाते हैं। आदित्यों की संख्या नियत नहीं है। कहीं तो पाँच, कहीं छः, कहीं सात और कहीं आठ आदित्य कहे गये हैं। उत्तरवर्ती साहित्य में बारह आदित्यों की गणना की गई है।

ऋग्वेद 2.27.1 में छः आदित्य परिगणित किये गये हैं— मित्र, अर्यमा, भग, वरुण, दक्ष और अंश। कुछ आलोचकों का विचार है कि इनमें से कुछ देवता— वरुण, मित्र और अर्यमा अदिति की कल्पना से भी पूर्व के हैं। अदिति की कल्पना के पश्चात् आदित्यों में इनकी गणना कर ली गई। वरुण, मित्र और अर्यमा देवताओं की कल्पना वैदिक युग से भी पूर्व हो चुकी होगी, जिनको इन्डोआर्यन युग से सम्बन्धित किया जाता है। भग, दक्ष और अंश देवता बाद में आदित्यों में सम्मिलित किये गये।

ऋग्वेद 10.72.9 में अदिति के सात पुत्र कहे गये हैं। सायण ने इनको इस प्रकार परिगणित किया है— मित्र, वरुण, घाता, अर्यमा, अंश, भग और विवस्वान्। ऋग्वेद् 10.72.8 में अदिति के आठ पुत्र कहे गये हैं, तथा इनमें मार्तण्ड को और सम्मिलित किया गया है। वस्तुतः अदिति के आठ पुत्र थे। सात को उसने देवताओं में सम्मिलित कर दिया। आठवें पुत्र को, जो मार्तण्ड था, अदिति ने सुदूर अन्तरिक्ष में प्रज़ा के जीवन-मृत्यु का विधान करने के लिये नियुक्त कर दिया। उत्तरवर्ती युग में यह मार्तण्ड ही सूर्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

सभी देवता अदिति के पुत्र नहीं हैं। सामान्यतः ऋग्वेद में अग्नि, इन्द्र आदि देवताओं की गणना आदित्यों में नहीं की गई। अग्नि को 'सहस्रः पुत्रः' तथा इन्द्र को 'शवसः पुत्रः' कहा गया है। परन्तु कुछ ऋचाओं में (ऋग्वेद 8.52.7 और 8.18.3) इन्द्र की गणना भी आदित्यों में कर दी गई। ये आदित्य अन्तरिक्ष स्थानीय देवता हैं।

12. **बृहस्पति**— ऋग्वेद के ग्यारह सूक्तों में बृहस्पति देवता की उपासना स्वतन्त्र रूप से की गई है। इसके अतिरिक्त उसकी दो सूक्तों में उपासना इन्द्र के साथ है। इस देवता को बृहस्पति तथा ब्रह्मणस्पति दो नामें से पुकारा गया है। बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति शब्दों का अर्थ है— बृहतां ब्रह्मणसां वा पतिः। अर्थात् जो स्तोताओं द्वारा उच्चरित किये जाते हुए महान् स्रोतों का स्वामी है, उनको सुनकर स्तोताओं को उचित फल प्रदान करने वाला है, वह बृहस्पति या ब्रह्मणस्पति है।

बृहस्पति देवता का इन्द्र आदि देवताओं के सदृश एक सतत रूप दृष्टिगोचर नहीं होता। यह देवता एक ओर जहाँ युद्ध करता है; असुरों, राक्षसों और दुष्टों को दण्डित करता है, और उन पर विजय प्राप्त करता है, वहीं दूसरीं ओर पुरोहित का कार्य भी करता है एवं स्तोतों की रचना करने वाला है। पीटर्सन का विचार है कि बृहस्पति देवता में ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों की चरित्रगत विशेषतायें हैं।

बृहस्पति के भौतिक रूप के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा गया है, वह बहुत कम है। तथापि जो कहा गया है, वह अन्य देवताओं के समान ही है। यह देवता स्वर्णिम वर्ण का है, इसकी पृष्ठ कृष्ण है तथा तीक्ष्ण श्रृङ्ग हैं। इसके हाथ में धनुष बाण और परशु रहते हैं। इसके घोड़े रक्त वर्ण के हैं। यह मन्त्रों का प्रेरक है।

बृहस्पति को वज्र का धारण करने वाला (वज्रिन्) भी कहा गया है। वह युद्धों में इन्द्र की सहायता करता है, परन्तु उसकी अपेक्षा अधिक शान्त, दृढ़ और प्रतिरोधी है। उसने बल के प्रतिरोध को तोड़ दिया था। ऋक्वन् गुण उसकी स्तुति करते हैं तथा वह गणपति कहलाता है। बृहस्पति के सौन्दर्य और महत्व के समक्ष पर्वत भी झुक गया था और उसने गौओं के लिये मार्ग को मुक्त कर दिया था।

13. **मरुत्**— मरुत् अकेला देवता नहीं है, अपितु देवों के एक समूह का नाम मरुत् है। इसलिये इनका प्रयोग सदा बहुवचन में होता है। मरुतों की स्तुति 42 सूक्तों में है। ये 33 सूक्तों में स्वतन्त्र रूप में, 7 सूक्तों में इन्द्र के

साथ और एक-एक सूक्त में अग्नि और पूषा के साथ वर्णन किये गये हैं। मरुत देवता आँधियों के देवता हैं और वृष्टि कराते हैं। वे बड़े प्रभावशाली और शक्तिशाली हैं तथा इन्द्र के सहायक हैं। विपत्तियों से रक्षा करने के लिये और रोगों के निवारण के लिये ऋग्वेद में इनसे प्रार्थना की गई है।

सभी मरुतगण समवयस्क हैं और एक साथ उदित होते हैं। ये रुद्र और पृश्नि के पुत्र कहे गये हैं। पृश्नि एक गौ का नाम है। एक स्थान पर मरुतों को वायु का पुत्र भी कहा गया है। मरुत् पृथिवी पर बढ़ते हैं और आकाश में पलते हैं। रोदसी इनके रथ पर विराजमान रहती है, जो कि सम्भवत: इनकी पत्नी हैं।

मरुत् बड़े पराक्रमी देवता हैं। ये पहाड़ों को हिला देते हैं और द्युलोक एवं पृथिवी लोक इनके भय से काँपते हैं। ये सूर्य को ढक लेते हैं और वृक्षों को जंगली हाथियों के समान गिरा देते हैं। इन्द्र के ये विशेष सहायक हैं तथा वृत्र के वध के समय उसकी सहायता करते हैं और दैत्य का स्वयं भी संहार करते हैं। वृत्र को मार कर वे गौओं का उद्धार करते हैं ये गायक भी हैं। इन्द्र द्वारा दैत्यों का वध करने पर ये उसकी प्रशंसा के गीत गाते हैं तथा सोम रस निकालते हैं।

मरुतों को सामन्यत: आँधी एवं जल-प्रलय का देवता कहा गया है। परन्तु वे अपने भक्तों की रक्षा करते हैं और उनके रोगों का निवारण करते हैं। उनकी प्रधान औषधि जल है।

14. **विष्णु**— ऋग्वेद के पहले मण्डल के 154 सूक्त में विष्णु की स्तुति की गई है। सर्वानुक्रमणी के अनुसार 6 ऋचाओं में विष्णु की स्तुति है। ऋग्वेद में यद्यपि इनका उतना महत्वपूर्ण वर्णन हीं है, तथापि आगे चलकर इन्होंने आर्य देवताओं में सबसे प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया।

विष्णु शब्द 'विष्लृ व्याप्तौ'' धातु से बनता है, जिसका अर्थ है— व्यापनशील होना। व्यापनशील होने से ये सूर्य के वाचक हुये, जिसका अर्थ है—तीनों लोकों को प्रकाशित करने वाला।

विष्णु को उरुक्रम और उरुगाय भी कहा गया है। उरुक्रम शब्द का अर्थ है महान् शक्तिशाली एवं उरुगाय शब्द का अर्थ है अनेक प्राणियों से स्तुति किया जाने वाला अथवा विशाल कीर्ति वाला या अनेक देशों में जाने वाला अथवा शत्रुओं को रूला देने वाला। उरुगाय शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में 121 बार हुआ है।

विष्णु को संसार का रक्षक एवं अनन्त शक्तिसम्पन्न कहा गया है। पाश्विक शक्ति की अपेक्षा उनकी बौद्धिक शक्ति प्रबल है। इसलिये वह सब देवताओं में सबसे अधिक चतुर है।

विष्णु को इन्द्र का छोटा भाई भी कहा गया है। विष्णु शब्द का अर्थ क्रियाशील भी है। यह सभी देवताओं में सबसे अधिक क्रियाशील है तथा उनकी सहायता करता है। वृत्र के वध के समय विष्णु ने इन्द्र का साथ दिया था तथा वहाँ उनका मरुतों से भी सम्पर्क हुआ।

विष्णु को परम पद का अधिष्ठाता कहा गया है। उनका परम पद उच्चलोक है, जहाँ मधु का उत्स है और बड़े सींगों वाली चंचल गायें रहती हैं। ये गायें सूर्य की किरणें भी हो सकती हैं। पुराणों के अनुसार विष्णुलोक को गोलोक कहा गया है। विष्णु के भक्त इस लोक को जाते हैं और उत्तम पदार्थो का भोग करते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार विष्णु वह शक्ति है, जो इन्द्रियों और आत्मा को उनके कर्मों के अनुसार नियुक्त करती है। इस प्रकार विष्णु शरीर के अधिष्ठातृ देवता हैं।

15. **सूर्य**— ऋग्वेद के वर्णनों के अनुसार लोकों को प्रकाशित करने वाले सूर्य ही सूर्य देवता हैं। इसलिये सूर्य देवता की स्तुति में भौतिक सूर्य की विशेषतायें कहीं गई हैं। सूर्य का चमकदार घेरा उपासकों के लिये विशेष आकर्षण है। सूर्य को मित्रावरुण का नेत्र कहा गया है। यह नेत्र दूरद्रष्टा और सर्वद्रष्टा है। यह स्थावरों और

जंगमों को गति प्रदान करता है। सूर्य के रथ में एक या सात घोड़े जुते होते हैं। इसके एक घोड़े का नाम एतग्व है और सात घोड़े हरित कहलाते हैं। सूर्य का पिता उठाकर द्युलोक का अधिष्ठाता बना दिया था। सूर्य को आकाश में उड़ने वाला पक्षी या अनेक रंगों वाला अश्व भी कहा गया है। यह बादलों में छिपा हुआ मित्रावरुण का आयुध और इन्द्र का पवि (वज्र) है। यह अन्धकार को दूर करता है और उसको कैंचुली के समान परे फेंक देता है। सूर्य शब्द की उत्पत्ति स्व: से हुई है, जिसका अर्थ है– प्रकाश। अवेस्ता में सूर्य के तीव्रगामी अश्वों का वर्णन है तथा इसको अहुरमज्द का नेत्र भी कहा गया है।

16. **सविता–** सविता देवता का सूर्य देवता से बहुत अधिक साम्य है तथा कभी-कभी दोनों देवताओं को एक ही मान लिया गया है। तथापि इसका रूप सूर्य से पृथक् कहा गया है। सविता शब्द की निष्पत्ति 'सु' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है– उत्पन्न करना, गति देना, प्रेरणा देना या प्राण देना। सविता के कार्य भी इन्हीं अर्थों के अनुरूप हैं।

सविता का स्वरूप आलोकमय तथा स्वर्णिम है। उसके नेत्र, हाथ और जीभ सभी स्वर्णिम है। उसका वाहन रथ सुवर्ण की आभा वाला है और रथ के धुरे सोने की तरह चमकीले हैं। उसके रथपर सुनहरी यष्टियाँ हैं तथा यह मोतियों से सज्जित हैं। रथ को दो या अधिक लाल या सफेद घोड़े खींचते हैं। इस रथ पर बैठकर यह सारे विश्व में घूमता है।

सविता दिन और रात का स्वामी है। वह सुवर्णम्य भुजाओं सदृश किरणों से आकाश को व्याप्त करता हुआ आकाश में उदित होता है। प्रदोष तथा प्रत्यूष दोनों से इसका सम्बन्ध है। यह दु:स्वप्नों का नाशक है और दुर्भाग्य को दूर भगाता है। वह यजमानों की रक्षा करता है, मनुष्य को पाप से रहित करता है, राक्षसों तथा यातुधानों को दूर भगाता है। वह नियमों का सम्यक् पालन करता है। जल और वायु उसके आश्रित हैं। अन्य देवता उसके नेतृत्व को स्वीकार करते हैं तथा कोई भी उसकी इच्छा का उल्लंघन नहीं कर सकता। पवित्र गायत्री मन्त्र में सविता की महत्ता गाई गई है।

17. **वाक्–** ऋग्वेद में वाक् की वाणी की देवी के रूप में स्तुति की गई है। इसमें वे सभी विशेषतायें हैं जो वाणी में होती हैं। वाक् को ब्रह्म से उत्पन्न हुई एक महान् शक्ति के रूप में वर्णित किया गया है। सर्वानुक्रमणी के अनुसार वाक् के पिता का नाम ऋम्भण ऋषि था।

वाक् ब्रह्म का ही एक रूप है। वह देवताओं की प्रेरक है और उनको कर्त्तव्य के पालन में सहायता देती है। वह अपने भक्तों को अपने तेज से ऋषि, ब्राह्मण और विद्वान बना देती है। वाणी की महत्ता को प्राप्त करने के लिये वाक् शक्ति का विकास करने के लिये वाक् सूक्त का पाठ करना चाहिये। इस सूक्त में वाणी के प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपों का वर्णन किया गया है।

18. **यम–** यम प्राणों का देवता है और वह मृतात्मा को मार्ग दिखाता है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के चौदहवें से लेकर अठारहवें सूक्त तक मृत्यु तथा भावी जीवन से सम्बन्धित पारलौकिक मन्त्र हैं। इनमें पहले सूक्त में यम देवता है। इन सूक्तों के अतिरिक्त तीन अन्य सूक्तों में तथा एक यम-यमी सूक्त में यम देवता को सम्बोधित किया गया है।

वैदिक मन्त्रों के अनुसार यम के पिता विवस्वान् हैं तथा त्वष्टा की पुत्री सरण्यू उसकी माता है। यम मृतात्माओं का देवता है। मनुष्यों के मरने के बाद वह जीवों की गति के मार्ग का निर्देशन करता है। यम का सम्बन्ध वरुण, बृहस्पति और अग्नि से भी है। अग्नि से उसका विशेष सम्बन्ध है क्योंकि वह मृत आत्माओं को यम तक पहुँचाता है। इस कारण अग्नि को यम का मित्र एवं पुरोहित कहा गया है। यम का पितरों, विशेष रूप से अङ्गिरस से सम्बन्ध है। यम प्रेतात्माओं पर शासन करता है।

यम जीवों के कर्मों का निर्णय करता है। वह पुण्य आत्माओं को प्रकाश वाले स्थानों पर भेजता है। यहाँ पितृगणों की सेवा पुत्रों द्वारा की जाती है। पितरों कई श्रेणियाँ हैं। यथा– अङ्गिा, विरूप, नवग्वा अथर्वा, भृगु, वसिष्ठ आदि। शरीर के पंचभूतों में मिल जाने पर जीवात्मा विभिन्न लोकों में भ्रमण करता रहता है।

एक वर्णन के अनुसार यम का निवास सुदूर अन्तरिक्ष में है। यहाँ अन्य देवता भी निवास करते हैं। यहाँ वह मधुर ध्वनियों से घिरा रहता है। यम के लिये सोम का अभिषत्व किया जाता है तथा घृत की आहुति दी जाती है। वह यज्ञ स्थल पर स्वयं आकर अपने भाग को ग्रहण करता है। यम की प्रार्थना इसलिये की जाती है कि वह जीव को बढ़ावे तथा देवताओं तक ले जावे।

यम ने सबसे पहले परलोक की खोज की थी। उसके द्वारा प्राचीन पितरों के स्थान तक पहुँचा जा सकता है। मृत्यु यम का मार्ग है। उल्लू और कबूतर यम के दूत हैं तथा दो चतुरक्ष, दीर्घघोण तथा सारमेय श्वान उसके सेवक हैं। वे मार्ग की रक्षा करते हैं और मृतक को यम के पास ले जाते हैं।

यम शब्द का अर्थ युगल भी है। यम-यमी सूक्त में यम और यमी परस्पर वार्तालाप करते हैं। ये दोनों जुड़वा उत्पन्न हुये थे तथा सदा साथ रहते थे। कुछ विद्वान् यम-यमी को पति-पत्नी तथा कुद भाई-बहन मानते हैं।

कुछ विद्वानों का कहना है कि यम नाम प्राण वायु का है। इसके निरोध को प्राणायाम कहते हैं और यह हठयोग का आधार है।

19. रुद्र — ऋग्वेद में रुद्र देवता का वर्णन बहुत अधिक नहीं किया गया और उसका वर्णन कुछ ही ऋचाओं में है, तथापि रुद्र को अत्यधिक शक्तिशाली एवं भयंकर रूप में चित्रित किया गया है।

रुद्र के बाह्यरूप का मनोहारी वर्णन मिलता है। उसके सुन्दर होठ हैं, जुल्फों वाले केश हैं, रंग भूरा है, आकृति मसृण और कान्तिमान् है। रुद्र मध्याह्नकालीन सूर्य के समान चमकता है। वह सोने के आभूषणों को धारण करता है और गले में चमकदार निष्ट (हार) को पहिनता है। उसके पास विशेष आयुध हैं। वह वज्र को ध ारण करता है तथा बिजली की सी चमक वाले बाणों को अपने पास रखता है।

ऋग्वेद में रुद्र को मरुतों का पिता एवं स्वामी कहा गया है। रुद्र ने इनको पृश्नि नाम की गौओं के थनों से उत्पन्न किया था। जगत् का विनाश करने में यह रुद्र शूकर के तुल्य है। यह शूकर लाल रंग का स्वर्ग का शूकर है और उसको 'अरुष' कहते हैं। वह शूकर विशालकाय है।

रुद्र शक्तिशाली से भी अधिक शक्तिशाली है, शीघ्रगामी है और फुर्तीला है। कोई देवता उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता। वह संसार का स्वामी और पिता है, उदार, आशुतोष और शिव है। वह जगत् के पापों और पुण्यों का निरीक्षण करता है। ऋचाओं में रुद्र के भयानक बाणों का वर्णन है। उसका क्रोध किसी की परवाह न करने वाला, न बदलने वाला, सहन न किया जा सकने वाला और बीभत्स है। रुद्र को देवों का अधिदेव कहा गया है और प्रार्थना की गई है कि वह हमें न मारे और न हानि पहुँचावे।

रुद्र के द्रोह से बचने के लिये अनेक प्रार्थनायें की गई हैं और यह प्रार्थना की गई कि वह रुद्र गौओं तथा मनुष्यों को मारने वाले वज्र से हमारी रक्षा करे। रुद्र केवल भयानक और दण्ड देने वाला ही नहीं है, अपितु कष्टों से बचाता भी है और दया का दान भी करता है।

रुद्र को स्वास्थ्य का देवता भी कहा गया है। उसके पास स्वास्थ्य प्रदान करने की विशेष शक्तियाँ हैं तथा रोगों को दूर करने वाले हजारों औषधियाँ हैं। औषधियों के लिये जलाष एवं जलाषभेषज शब्दों के प्रयोग वैदिक मन्त्रों में आते हैं।

ऋग्वेद में रुद्र की भौतिक शक्तियों के सम्बन्ध में विशेष तो नहीं कहा गया, परन्तु प्राकृतिक वर्णनों से वह आँधी उठाने वाला समझा जा सकता है। उसका दुखद रूप नर-पशु-वृक्ष आदि को ध्वंस करने वाली बिजली के समान दिखाई देता है। उसका रूप एक ओर जहाँ कठोर है, वहीं दूसरी ओर कोमल भी है।

20. अश्विन्— ये देवता सदा युगल में उपस्थित होते हैं तथा 'अश्विनौ' इस द्विवचन में इनका प्रयोग किया जाता है। इन्द्र अग्नि और सोम के अनन्तर इनका महत्व सबसे अधिक है। इनकी स्तुति 50 सूक्तों में की गई है। ये देवता प्रकाश, प्राकृतिक आनन्द और कामपूर्ति के साधन प्रस्तुत करते हैं।

वेदमन्त्रों में अश्विनी देवताओं के रूप का विस्तृत वर्णन किया गया है। अश्विनी देवता दो अलग-अलग भाई हैं। कहीं-कहीं उनको जुड़वा भाई भी बताया गया है। ये युवा हैं, प्राचीन हैं, चमकदार हैं और कान्तिमान् हैं। सुनहरी चमक, सौन्दर्य और कमल की मालाओं से वे सदा विभूषित रहते हैं। उनका मार्ग स्वर्णमय (हिरण्यवर्तनी) है। उनके अंग दृढ़ हैं, स्फूर्तिशाली हैं और वे गरुड़ के समान वेगगामी हैं। उनमें अदृश्य शक्तियाँ हैं और उनकी बुद्धि असीम है। उनको दस्र (आश्चर्यपूर्ण) तथा नासत्य (सत्य से पूर्ण) कहा गया है।

अश्विनी देवताओं को शहद से बहुत अधिक प्रेम है। उन्होंने चमड़े की 100 गोणियाँ भरकर शहद इकट्ठा किया था तथा शहद के 100 घड़े भर कर रखे थे। उनका रथ शहद के रंग का है, वह शहद के अङ्कुश से होकर जाता है और शहद के समान धीरे-धीरे चलता हैं वे मधुमक्खियों को शहद प्रदान करते हैं।

अश्विनी देवता स्वर्ग के पुत्र हैं। उनको विवस्वान् और त्वष्टा की पुत्री सरण्यू का पुत्र भी कहा गया है। सरण्यू शब्द का अर्थ सूर्य और उषा का उदय काल है। अश्विनी देवताओं को पूषा का पुत्र भी बताया गया है। उषा को उनकी बहन कहा गया है। ऋग्वेद में सूर्य की पुत्री सूर्या के विवाह के प्रसंग में इन देवताओं का वर्णन आया है। सूर्या ने इनका वरण किया था और वह इनके रथ पर स्वयं आरूढ़ हुई थी। ये विवाह करने के लिये सूर्या के घर आते हैं और उसको प्रजनन शक्ति प्रदान करते हैं।

अश्विनी देवता को सोमरस के प्रति अनुराग है। उषा और सूर्य के समान इनका सोमपान के लिए आवाहन किया जाता है। वे अत्यधिक बुद्धिमान्, शान्तिमय और दयालु हैं। ये अपने उपासकों तथा भक्तों की रक्षा करते हैं।

21. सरित्— ऋग्वेद के भौगोलिक वर्णनों में 'सप्तसिन्धू' पद का प्रयोग बहुत अधिक किया गया है। इस सप्तसिन्धु प्रदेश के चारों ओर चार समुद्र थे। इसका अर्थ है कि ऋग्वेद संहिता के संकलन के समय इस देश में सात प्रमुख नदियाँ प्रवाहित होती थीं। ये सात प्रमुख नदियाँ इस प्रकार थीं— गंगा, यमुना, दृषद्वती, सरस्वती, सिन्धु, विपाश् और शुतुद्री। इन नदियों के अतिरिक्त परुष्णी, असिक्नी, मरुद्वधा, वितस्ता, आर्जीकिया और सुषोमा नामक नदियों का उल्लेख भी मिलता है। ऋग्वेद 10.75.1 में लिखा है कि नदियाँ सात-सात करके तीन प्रकार से द्यु, पृथिवी और आकाश में चलीं। इससे प्रतीत होता है कि नदियों के सात-सात करके तीन वर्ग रहे होंगे।

नदियों में सिन्धु और सरस्वती का उल्लेख विस्तृत हैं। इनमें भी सरस्वती को धार्मिक दृष्टिकोण से अधिक महत्व दिया गया है। इसके तीर पर तप, यज्ञ एवं आध्यात्मिक चिन्तन हुआ करते थे। वसिष्ठ ऋषि ने ऋग्वेद 7.95 सूक्त में इस नदी की स्तुति की है। सम्भवत: किसी समय यह एक विशाल नदी रही होगी तथा यह राजस्थान को पार करके समुद्र में मिलती थी। वर्तमान समय में यह सूख चुकी है।

वर्तमान समय की सतलज नदी वैदिक युग में शुतुद्री के नाम से प्रसिद्ध थी तथा इस समय की व्यास नदी को ऋग्वेद में विपाश् कहा गया है। यास्क के अनुसार पहले किसी समय इस नदी का नाम उरुञ्जीरा था।

सारांश :

इस इकाई में आपने क्रमशः अग्नि सूक्त, इन्द्र सूक्त, उषस् (उषा) सूक्त, पुरुष सूक्त तथा कितव (अक्ष) सूक्त का अध्ययन किया है। अग्नि सूक्त में अग्निदेव के स्वरूप का वर्णन करते हुए उनकी महत्ता का वर्णन किया गया है। इन्द्र सूक्त में ऋषि ने इन्द्र की स्तुति करते हुए उसे प्रजापालक तथा दैत्यों का संहारक बताया है। इन्द्र ही जल वर्षा करके अन्न के उत्पादन में सहायक हैं, अन्न से ही सभी प्राणियों का पालन होता है। इसीलिए ऋग्वेद में इन्द्र को महान देवता माना गया है। उषस् सूक्त में उषा देवी की स्तुति करते हुए ऋषि ने उसे सौन्दर्य की देवी, सूर्य की प्रेयसी तथा प्राणिमात्र को कार्य में प्रवृत्त करने वाली बताया है। पुरुष सूक्त में सृष्टि की रचना करने वाले परम पुरुष परमेश्वर के विराट स्वरूप का वर्णन किया गया है। अक्ष सूक्त के माध्यम से मनुष्यों को एक महत्वपूर्ण सामाजिक संदेश दिया गया है। ऋषि ने अक्ष देवता की स्तुति करते हुए व्यंग्यात्मक वर्णन के माध्यम से मनुष्यों को द्यूतक्रीड़ा (जुए के खेल) की बुराइयों का परिचय देते हुए उससे बचने का उपदेश किया है।

अभ्यास-प्रश्न :

1. अग्नि सूक्त के आधार पर अग्निदेव के स्वरूप का वर्णन कीजिए।
2. अग्निदेव के विभिन्न महत्वपूर्ण कार्यों की विवेचना कीजिए।
3. इन्द्र सूक्त द्वारा इन्द्र के स्वरूप की क्या विशेषताएँ बतायी गयी हैं?
4. वैदिक देवताओं में इन्द्र देव को महान देवता क्यों माना गया है?
5. सृष्टि की रचना में पुरुष देवता की भूमिका का वर्णन कीजिए।
6. विराट पुरुष के स्वरूप की महत्ता को स्पष्ट कीजिए।
7. उषादेवी के स्वरूप एवं समाजोपयोगी कार्यों का वर्णन कीजिए।
8. अक्ष सूक्त में निहित सामाजिक संदेश की विवेचना कीजिए।
9. पुरुष सूक्त के किन्हीं दो मंत्रों की हिन्दी-व्याख्या कीजिए।
10. अक्ष सूक्त के किन्हीं दो मंत्रों की संस्कृत-व्याख्या कीजिए।

2 अथर्ववेद, सामवेद एवं यजुर्वेद (सूक्त संग्रह) एवं निरुक्त

इकाई में सम्मिलित है :

- अध्ययन के उद्देश्य
- प्रस्तावना
- अथर्ववेद के महत्वपूर्ण सूक्तों की व्याख्या
- सामवेद के महत्वपूर्ण सूक्तों की व्याख्या
- यजुर्वेद के महत्वपूर्ण सूक्तों की व्याख्या
- निरुक्त का अर्थ एवं वेदांगों में इसका स्थान
- निरुक्त के प्रथम अध्याय के महत्वपूर्ण पादों की व्याख्या
- सारांश
- अभ्यास-प्रश्न

अध्ययन के उद्देश्य :

प्रस्तुत इकाई अथर्ववेद, सामवेद एवं यजुर्वेद के महत्वपूर्ण सूक्तों का वर्णन करती है। इस इकाई में निरुक्त के प्रथम अध्याय के महत्वपूर्ण पादों की व्याख्या भी की गयी है। इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त छात्र :

- साम्मनस्य सूक्त की विषय-वस्तु से परिचित हो सकेंगे।
- तक्मनाशन सूक्त की शिक्षाओं से अवगत हो सकेंगे।
- काल सूक्त में वर्णित काल के स्वरूप एवं महत्व को जान सकेंगे।
- शत्रुनाशन सूक्त में वर्णित सूर्य एवं इन्द्र की विशेषताओं से परिचित हो सकेंगे।
- वेदों के सभी अंगों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण वेदांग निरुक्त का महत्व समझ सकेंगे।
- आचार्य यास्क द्वारा निरुक्त शास्त्र में की गयी वैदिक मंत्रों की व्याख्या समझ सकेंगे।

प्रस्तावना :

वेद विश्व-साहित्य की अमूल्य निधि हैं। विश्व के प्राचीनतम साहित्य में वेदों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। प्राचीन भारतीय आर्यों की संस्कृति, धर्म, दर्शन एवं जीवन के उदात्त पक्षों का वर्णन वेद ही प्रस्तुत करते हैं। ऋग्वेद को सबसे प्राचीन तथा महत्वपूर्ण वेद माना जाता है। अनेक वैदिक साहित्यशास्त्री तो अथर्ववेद, सामवेद तथा यजुर्वेद की संहिताओं को ऋग्वेद की संहिताओं पर ही आधारित मानते हैं। प्रथम इकाई में आपने ऋग्वेद की संहिताओं में वर्णित अग्नि, इन्द्र, उषस्, पुरुष तथा अक्ष सूक्तों का अध्ययन किया है। यह इकाई क्रमशः अथर्ववेद, सामवेद तथा यजुर्वेद के महत्वपूर्ण सूक्तों का वर्णन करती है। इस इकाई में कुछ महत्वपूर्ण वैदिक देवताओं की स्तुति भी प्रस्तुत की गयी है। इस इकाई में साम्मनस्य सूक्त, तक्मनाशन सूक्त, काल सूक्त तथा शत्रुनाशन सूक्त की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। तत्पश्चात् अन्य महत्वपूर्ण सूक्तों की व्याख्या भी प्रस्तुत की गयी है।

यह इकाई हमें आचार्य यास्क के निरुक्त शास्त्र का भी परिचय प्रदान करती है। निरुक्त एक निर्वचन-प्रधान शास्त्र है जिसमें आचार्य यास्क ने बहुत-से वैदिक मंत्रों की व्याख्या की है। आचार्य सायण के अनुसार, अर्थज्ञान के लिए स्वतंत्र रूप से जहाँ पदों का समूह कहा गया है, वहीं निरुक्त है। निरुक्त के प्रथम अध्याय के अंतर्गत केवल निरुक्त की भूमिका बताई गयी है। वेदों को समझने के लिए हमें वेदांग शास्त्रों को समझना अनिवार्य है। वेदांग छः हैं- (1) शिक्षा, (2) कल्प, (3) व्याकरण, (4) छन्द, (5) ज्योतिष तथा (6) निरुक्त। अतः निरुक्त शास्त्र का अध्ययन वैदिक साहित्य के ज्ञान के लिए अत्यावश्यक है।

सूक्त संग्रह

साम्मनस्य सूक्तम्

1—7 अथर्वा । चन्द्रमाः, सांमनस्यम् । अनुष्टुप्,
5 विराड्जगती, 6 प्रस्तारपंक्तिः, 7 त्रिष्टुप् ।

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ।।1।।

पदार्थ—(सहृदयम्) एकहृदयता, (सांमनस्यम्) एकमनता और (अविद्वेषम्) निर्वैरता (वः) तुम्हारे लिये (कृणोमि) मैं करता हूँ । (अन्यो अन्यम्) एक दूसरे को (अभि) सब ओर से (हर्यत) तुम प्रीति से चाहो (अघ्न्या इव) जैसे न मारने योग्य, गौ (जातम्) उत्पन्न हुए (वत्सम्) बछड़े को प्यार करती है, ।।1।।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ।।2।।

पदार्थ—(पुत्रः) कुल शोधक पवित्र, बहुरक्षक वा नरक से बचाने वाला पुत्र सन्तान, (पितुः) पिता के (अनुव्रतः) अनुकूल व्रती होकर (मात्रा) माता के साथ (संमनाः) एक मन वाला (भवतु) होवे । (जाया) पत्नी (पत्ये) पति से (मधुमतीम्) जैसे मधु में सनी और (शन्तिवाम्) शांति से भरी (वाचम्) वाणी (वदतु) बोले ।।2।।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारंभूत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भुत्वा वाचं वदत भद्रया ।।3।।

पदार्थ—(भ्राता) भ्राता (भ्रातरम) भ्राता से (मा द्विक्षत्) द्वेष करे (उत) और (स्वसा) बहिन (स्वसारम्) बहिन से भी (मा) नहीं (सम्यञ्च:) एक मत वाले और (सव्रता:) एक व्रती (भूत्वा) होकर (भद्रया) कल्याणी रीति से (वाचम्) वाणी (वदत) बोलो ।।3।।

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः ।
तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ।।4।।

पदार्थ—(येन) जिस (वेद पथ) से (देवा:) विजय चाहने वाले पुरुष (न) नहीं (वियन्ति) विरुद्ध चलते हैं (च) और (नो) न कभी (मिथ:) आपस में (विद्विषते) विद्वेष करते हैं । (तत्) उस (ब्रह्म) वेद पथ को (व:) तुम्हारे (गृहे) घर में (पुरुषेभ्य:) सब पुरुषों के लिए (संज्ञानम्) ठीक-ठीक ज्ञान का कारण (कृण्म:) हम करते हैं ।।4।।

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः । अन्यो
अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि ।।5।।

पदार्थ—(ज्यायस्वन्त:) बड़ों का मान रखने वाले (चित्तिन:) उत्तम चित्त वाले, (संराधयन्त:) समृद्धि [धन धान्य की वृद्धि] करते हुए और (सधुरा:) एकधुरा होकर (चरन्त:) चलते हुए तुम लोग (मा वि यौष्ट) अलग अलग न होओ, और (अन्यो अन्यस्मै) एक दूसरे से (वल्गु) मनोहर (वदन्त:) बोलते हुए (एत) आओ । (व:) तुमको (सध्रीचीनान्) साथ-साथ गति [उद्योग वा विज्ञान] वाले और (संमनस:) एक मन वाले (कृणोमि) मैं करता हूँ ।।5।।

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ।।6।।

पदार्थ— (व:) तुम्हारी (प्रपा) जलशाला (समानी) एक हो, और (अन्नभाग:) अन्न का भाग (सह) साथ-साथ हो, (समाने) एक ही (योक्त्रे) जोते में (व:) तुमको (सह) साथ-साथ (युनज्मि) मैं जोड़ता हूँ । (सम्यञ्च:) मिलकर गति [उद्योग वा ज्ञान] रखने वाले तुम (अग्निम्) अग्नि [ईश्वर वा भौतिक अग्नि] को (सपर्यत) पूजो (इव) जैसे (अरा:) अरे [पहिये के दंडे] (नाभिम्) नाभि [पहिये के बीच वाले काठ] में (अभित:) चारों ओर से [सटे होते है] ।।6।।

सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान् ।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसा वो अस्तु ।।7।।

पदार्थ—(संवननेन) यथावत् सेवन वा व्यापार से (व: सर्वान्) तुम सबको (सध्रीचीनान्) साथ-साथ गति (उद्योग वा ज्ञान) वाले, (संमनस:) एक मन वाले और (एकश्नुष्टीन्) एक भोजन वाले (कृणोमि) मैं करता हूँ । (देवा: इव) विजय चाहने वाले पुरुषों के समान (अमृतम्) अमरपन (जीवन की सफलता) को (रक्षमाणा:) रखते हुए तुम (बने रहो) । (सायं प्रात:) सायंकाल और प्रात: काल में (सौमनस:) चित्त की प्रसन्नता (व:) तुम्हारे लिए (अस्तु) होवे ।।7।।

तक्मनाशन सूक्तम्

1–14 भृग्वङ्गिरां: । तक्मनाशन: । अनुष्टुप्, 1 भुरिक् त्रिष्टुप् 2 त्रिष्टुप्, 5 विराट् पथ्याबृहती ।

अग्निस्तक्मानमप बाधतामित: सोमो ग्रावा वरुण: पूतदक्षा: ।
वेदिर्बर्हि समिध: शोशुचाना अप द्वेषांस्यमुया भवन्तु ।।1।।

पदार्थ— (अग्नि:) ज्ञानवान्, (सोम:) तत्त्व मथन करने वाला, (ग्रावा) सूक्ष्मदर्शी, (वरुण:) वरणयोग्य, (पूतदक्षा:) पवित्र बल करने वाला, (शोशुचाना) बहुत जलते हुए (समिध:) इन्धन के समान (बर्हि।:) प्रकाशमान (वेदि:) पंडित (इत:) यहाँ से (तक्मानम्) दु:खित जीवन करने हारे ज्वर को (अप बाधताम्) निकाल देवे । (द्वेषांसि) हमारे सब अनिष्ट (अमुया) उधर (अप भवन्तु) हट जावें ।।1।।

अयं यो विश्वान् हरितान् कृणोष्युच्छोचयन्नग्निरिवाभिदुन्वन् ।
अधा हि तक्मन्नरसो हि भूया अधा न्यङ्ङधराङ् वा परेहि ।।2।।

पदार्थ—(अयम्) यह (य:) जो तू (विश्वान्) सब (मनुष्यों) को (उच्छोचयन्) शोक में डालता हुआ, और (अग्नि: इव) अग्नि के समान (अभिदुन्वत्) तपाता हुआ, (हरितान्) पीला (कृणोषि) कर देता है । (अध) सो (हि) इसलिए (तक्मन्) हे दु:खित जीवन करने हारे ज्वर ! तू (हि) अवश्य (अरस:) निर्बल (भूया:) हो जा । (अध) और (वा) अथवा (न्यङ्) नीच स्थान से (अधराङ्) नीच स्थान को (परा इहि) चम्पत हो जा ।।2।।

य: परुष: पारुषे योऽवध्वंस इवारुण: ।
तक्मानं विश्वधावीर्याधराञ्चं परा सुवा ।।3।।

पदार्थ—(य:) जो (परुष:) निठुर (पारुषेय:) निठुर से उत्पन्न हुए (अरुण:) रक्तवर्ण (अवध्वंस: इव) नीचे गिरने वाले राक्षसादि के समान है । (विश्वधावीर्य) हे सब प्रकार सामर्थ्य वाले वैद्य ! (तक्मानम्) उस दु:खित जीवन करने वाले ज्वर को (अधराञ्चम्) नीचे देश में (परा सुव) दूर गिरा दे ।।3।।

अधराञ्चं प्र हिणोमि नम: कृत्वा तक्मने ।
शकम्भरस्य मुष्टिहा पुनरेतु महावृषान् ।।4।।

पदार्थ—(तक्मने) दु:खित जीवन करने वाले ज्वर को (नम:) नमस्कार (कृत्वा) करके (अधराञ्चम्) नीचे देश को (प्र हिनोमि) मैं भेजता हूँ । (शकम्भरस्य) शक्ति धारण करने वाले पुरुष का (मुष्टिहा) मुष्टि से मारने वाला (ज्वर) (महावृषान्) बड़ी वृष्टि वाले देशों को (पुन:) लौटकर (एतु) चला जावे ।।4।।

ओको अस्य मूजवन्त ओको अस्य महावृषा: ।
यावज्जातस्तक्मं स्तावानसि बल्हिकेषु न्योचर: ।।5।।

पदार्थ—(अस्य) इसका (ओक:) घर (मूजवन्त) मूंज आदि घास वाले पर्वत हैं, और (अस्य) इसका (ओक:) घर (महावृषा:) महावृष्टि वाले देश हैं । (तक्मन्) हे दु:खित जीवन करने हारे ज्वर ! (यावत्) जब से (जात:) तू उत्पन्न हुआ है, (तावान् = तावात्) तब से तू (बल्हिकेषु) हिंसा वाले देशों में (न्योचर:) नित्य संगति वाला (असि) है ।।5।।

तक्मन् व्याल वि गद व्यङ्ग भूरि यावय ।
दासो निष्टक्वरीमिच्छ तां वज्रेण समर्पय ।।6।।

पदार्थ—(तक्मन्) हे ज्वर ! (व्याल) हे सर्प ! हे धूर्त ! (व्यङ्ग) हे कुरूप ! (विगद) तू बोल, (भूरि) बहुत दूर (यवय) चला जा (निष्टक्वरीम्) ठठोल, निर्लज्ज (दासीम्) दासी (नीच स्त्री) को (इच्छ) ढूँढ और (ताम्) उसको (वज्रेण) अपने वज्र से (समर्पय) मार गिरा ।।6।।

तक्मन् मूजवतो गच्छ बल्हिकान् वा परस्तराम् ।
शूद्रामिच्छ प्रफर्व्य1तां तक्मन् वोव धूनुहि ।।7।।

पदार्थ—(तक्मन्) हे ज्वर ! (मूजवत:) मूंज वाले पहाड़ों और (बल्हिकान्) हिंस वाले देशों को, (वा) अथवा (परस्तराम्) और परे (गच्छ) चला जा । (प्रफर्व्यम् = प्रफर्वरीम्) इधर-उधर घूमने वाली (शूद्राम्) शूद्रा स्त्री को (इच्छ) ढूंढ़, और (तान्) हिंसकों को (तक्मन्) हे ज्वर ! (वीव) विशेष कर के ही (धूनुहि) कंपा दे ।।7।।

महावृषान् मूजवतो वन्ध्वद्धि परेत्य ।
प्रैतानि तक्मने ब्रूमो अन्यक्षेत्राणि वा इमा ।।8।।

पदार्थ—(परेत्य) दूर जाकर (महावृषान्) बड़ी वृष्टिं वाले देशों और (मूजवत:) मूंज वाले पहाड़ों (बन्धु = बन्धून्) अपने बन्धुओं को (अद्धि) खा ले । (एतानि) इन और (इमा = इमानि) इन (अन्यक्षेत्राणि) अन्य निवास स्थानों को (तक्मने) ज्वर के लिए (वै) अवश्य (प्रब्रूम:) हम बताये देते हैं ।।8।।

अन्यक्षेत्रे न रमसे वशी सन मृडयासि न: ।
अभूदु प्रथस्तक्मा स गमिष्यति बल्हिकान् ।।9।।

पदार्थ—(अन्यक्षेत्रे) दूर देश में (न) इस समय (वशी) वश में करने वाला (सन्) होकर (रमसे = रमस्व) तू ठहर, और (न:) हमें (मृडयासि) सुख दे । (तक्मा) ज्वर (प्रार्थ:) चालू (उ) अवश्य (अभूत्) हो गया है (स:) वह (बल्हिकान्) हिंसा वाले देशों को (गमिष्यति) चला जायगा ।।9।।

यत् त्वं शीतोऽथो रूर: सह कासावेपय: ।
भीमास्ते तक्मन् हेतयस्ताभि: स्म परि वृङ्ग्ध न: ।।10।।

पदार्थ—(यत्) जिस कारण (शीत:) शीत (अथो) और (रूर:) क्रूर (त्वम्) तूने (कासा = कासेन) (सह) खांसी के साथ (हमें) (अवेपय:) कंपा दिया है । (तक्मन्) हे दु:खित जीवन करने वाले ज्वर ! (ते) तेरी (हेतय:) चोटें (भीमा:) भयानक हैं, (ताभि:) उनसे (न:) हमको (स्म) अवश्य (परि वृङ्ग्धि) छोड़ दे ।।10।।

मा स्मै तान्त्सखीन् कुरुथा बलासं कासमुद्युगम् ।
मा स्मातोऽर्वाङैः पुनस्तत् त्वा तक्मन्नुप ब्रुवे ।।11।।

पदार्थ—(बलासम्) बल गिराने वाले सन्निपात, कफ आदि (कासम्) कुत्सित शब्द करने वाली खांसी और (उद्युगम्) सुख रोकने वाले, क्षयी रोग, (एतान्) इनको (सखीन्) अपना मित्र (मा स्मै कुरुथ:) कभी मत बना

! (अतः) उस स्थान से (पुनः) फिर (अवाङ्) हमारे सम्मुख होकर (मा स्म आ ऐः) कभी मत आ । (तत्) यह बात (तक्मन्) हे ज्वर ! (त्वा) तुझ से (उप ब्रुवे) मैं कहे देता हूँ 1 ।।11।।

NOTES

तक्मन् भ्रात्रा बलासेन स्वस्रा कासिकया सह ।
पाप्मा भ्रातृव्ये सह गच्छामुमरणं जनम् ।।12।।

पदार्थ—(तक्मन्) हे ज्वर ! (भ्रात्रा) अपने भ्राता (बलासेन) बल गिराने वाले सन्निपात, कफ आदि (स्वस्रा) अपनी बहिन (कासिकया सह) कुत्सित खांसी के साथ, (भ्रातृव्येण) अपने भतीजे (पाप्मा = पाप्मना) चर्म रोग के (सह) साथ (अमुम) उस (अरणम्) न भाषण करने योग्य निन्दित (जनम्) जन के पास (गच्छ) चला जा ।।12।।

तृतीयकं वितृतीयं सदन्दिमुत शारदम् ।
तक्मानं शीतं रूर ग्रैष्मं नाशय वार्षिकम् ।।13।।

पदार्थ—(हे वैद्य !) (तृतीयकम्) तिजारी, (विस्तृतीयम) चौथिया आदि अतरिया, (सदन्दिम्) सदा फूटन करने वाले, निरन्तर (उत्) और (शारदम्) शरद् ऋतु में आने वाले, (शीतम्) शीत् (रूरम्) क्रूर, (ग्रैष्मम्) ग्रीष्म में आने वाले, (वार्षिकम्) वर्षा में होने वाले (तक्मानम्) दुःखित जीवन करने वाले ज्वर को (नाशय) मिटा दे ।।13।।

गन्धारिभ्यो मूजवद्भ्योऽङ्गेभ्यो मगधेभ्यः ।
प्रैष्यन् जनमिव शेवधिम् तक्मानं। परि दद्मसि ।।14।।

पदार्थ—(गन्धारिभ्यः) हिंसा पहुंचाने वाले, (मूजवद्भ्यः) मूंज आदि घास वाले, (अङ्गेभ्यः) अप्रधान और (मगधेभ्यः) दोष धारण करने वाले देशों के लिए (जनम् इव) पामर पुरुष के समान, (शेवधिम्) सोने के आधार (तक्मानम्) दुःखित जीवन करने वाले ज्वर को (प्रैष्यन् = प्रैष्यन्त) आगे बढ़ते हुए (परि दद्मसि) हम त्यागते हैं ।।14।।

काल सूक्तम्

1—10 भृगुः । कालः । अनुष्टुप्; 1—4 त्रिष्टुप्, 5 निचृत् पुरस्ताद् बृहती ।

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः ।
तमा रोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ।।1।।

पदार्थ—(सप्तरश्मिः) सात प्रकार की किरणों वाले सूर्य (के समान प्रकाशमान), (सहस्राक्षः) सहस्रों नेत्रवाला, (अजरः) बूढ़ा न होने वाला, (भूरिरेताः) बड़े बल वाला (कालः) काल (समयरूपी) (अश्वः) घोड़ा (वहति) चलता रहता है । (तम्) उस पर (कवयः) ज्ञानवान् (विपश्चितः) बुद्धिमान् लोग (आ रोहन्ति) चढ़ते हैं, (तस्य) उस (काल) के (चक्रा) (चक्र घूमने के स्थान) (विश्वा) सब (भुवनानि) सत्ता ले हैं ।।1।।

सप्त चक्रान् वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतं न्वक्षः ।
स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत् कालः स ईयते प्रथमो नु देवः ।।2।।

पदार्थ—(एषः कालः) यह काल (समय) (सप्त) (तीनकाल और चार दिशाओं रूपी) सात (चक्रान्) पहियों को (वहति) चलाता है, (अस्य) इस की (सप्त) (वे ही) सात (नाभीः) नाभि (पहिये के मध्य स्थान) हैं, और (अक्षः) (इसका) धुरा (नु) निश्चय करके (अमृतम्) अमरपन है। (सः) वह (इमा) इस (विश्वा) सब (भुवनानि) सत्तावालों को (अञ्जत्) प्रकट करता हुआ (है), (सः कालः) वह काल (नु) निश्चय करके (प्रथमः) पहिला (देवः) देवता (दिव्य पदार्थ) (ईयते) जाना जाता है ।।2।।

पूर्णः कुम्भोऽधि काल आहितस्तं वै पश्यामो बहुधा नु सन्तः ।
स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ् कालं तमाहुः परमे व्योमन् ।।3।।

पदार्थ—(काले अधि) काल (समय) के ऊपर (पूर्णः) भरा हुआ (कुम्भः) घड़ा (सम्पत्तियों का कोश) (आहितः) रक्खा है, (तम्) उस (घड़े) को (वै) निश्चय करके (सन्तः) वर्तमान हम (नु) ही (बहुधा) अनेक प्रकार (पश्यामः) देखते हैं। (सः) वह (काल) (इमा) इन (विश्वा) सब (भुवनानि) सत्ता वालों के (प्रयङ) सामने चलता हुआ है, (तम्) उस (कालम्) काल को (परमे) अति ऊँचे (व्योमन्) विविध रक्षा स्थान (ब्रह्म) में (वर्तमान) (आहुः) वे (बुद्धिमान् लोग) बताते हैं ।।3।।

स एव सं भुवनान्याभरत् स एव सं भुवनानि पर्यैत् ।
पिता सन्नभवत् पुत्र एषां तस्माद् वै नान्यत् परमस्ति तेजः ।।4।।

पदार्थ—(सः एव) उस ने ही (भुवनानि) सत्ताओं को (सम्) अच्छे प्रकार (आ) सब ओर से (अभरत्) पुष्ट किया है, (सः एव) उसने ही (भुवनानि) सत्ताओं को (सम्) अच्छे प्रकार (परि ऐत्) घेर लिया है। वह (एषाम्) इन (सत्ताओं) का (पिता) पिता (पिता-समान) (सन्) पहिले होकर (पुत्रः) (पुत्र-समान) (अभवत्) (पीछे) हुआ है, (तस्मात्) उस से (परम्) बड़ा (अन्यत्) दूसरा (तेजः) तेज (सृष्टि के बीच) (वै) निश्चय करके (न) नहीं (अस्ति) है ।।4।।

कालोऽमूं दिवमजनयत् काल इमाः पृथिवीरुत ।
काले ह भूतं भव्य चेषितं ह वि तिष्ठतै ।।5।।

पदार्थ—(कालः) काल (समय) ने (अमूम्) उस (दिवम्) आकाश को (उत) और (कालः) काल ने (इमाः) इन (पृथवीः) पृथ्वियों को (अजनयत्) उत्पन्न किया है। (काले) काल में (है) ही (भूतम्) बीता हुआ (च) और (भव्यम्) होने वाला (इषितम्) प्रेरित हुआ (ह) ही (वि) विशेष करके (तिष्ठते) ठहरता है ।।5।।

कालो भूतिमसृजत काले तपति सूर्यः ।
काले ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्वि पश्यति ।।6।।

पदार्थ—(कालः) काल (समय) ने (भूतिम्) ऐश्वर्य को (असृजत्) उत्पन्न किया है, (काले) काल में (सूर्यः) सूर्य (तपति) तपता है। (काले) काल में (ह) ही (विश्वा) सब (भूतानि) सत्तायें हैं, (काले) काल में (चक्षुः) आँख (वि) विविध प्रकार (पश्यति) देखती हैं ।।6।।

काले मनः काले भूतानि प्राणः काले नाम समाहितम् ।
कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः ।।7।।

पदार्थ—(काले) काल में (मनः) मन, (काले) काल में (प्राणः) प्राण, (काले) काल में (नाम) नाम (समाहितम्) संग्रह किया गया है। (आगतेन) आये हुए (कालेन) काल के साथ (इमाः) यह (सर्वाः) सब (प्रजाः) प्रजाएँ (नन्दन्ति) आनन्द पाती हैं ।।7।।

काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम् ।
कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः ।।8।।

पदार्थ—(काले) काल (समय) में (तपः) तप (ब्रह्मचर्यादि), (काले) काल में (ज्येष्ठम्) श्रेष्ठ कर्म, (काले) काल में (ब्रह्म) वेदज्ञान (समाहितम्) संग्रह किया गया है। (कालः) काल (ह) ही (सर्वस्य) सबका (ईश्वरः) स्वामी है, (यः) जो (काल) (प्रजापतेः) प्रजापति (प्रजापालक मनुष्य) का (पिता) पिता (के समान पालक) (आसीत्) हुआ है ।।8।।

तेनेषितं तेन जातं तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम् ।
कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्ति परमेष्ठिनम् ।।9।।

पदार्थ—(तेन) उस (काल) द्वारा (इषितम्) प्रेरा गया (तेन) उस द्वारा (जातम्) उत्पन्न किया गया (तत) यह (जगत्) (तस्मिन्) उस (काल) में (उ) ही (प्रतिष्ठितम्) दृढ़ ठहरा है। (कालः) काल (ह) ही (ब्रह्म) बढ़ता हुआ अन्न (भूत्वा) होकर (परमेष्ठिनम्) सबसे ऊँचे ठहरे हुए (मनुष्य) को (बिभर्ति) पालता है ।।9।।

कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम् ।
स्वयंभूः कश्यपः कालात् तपः कालादजायत ।।10।।

पदार्थ—(अग्रे) पहिले (कालः) काल ने (प्रजाः) प्रजाओं को, और (कालः) काल ने (प्रजापतिम्) प्रजापति (प्रजापालक मनुष्य) को (असृजत) उत्पन्न किया है। (कालात्) काल से (स्वयम्भूः) स्वयम्भू (अपने आप उत्पन्न होने वाला) (कश्यपः) कश्यप (द्रष्टा परमेश्वर) और (कालात्) काल से (तपः) तप (ब्रह्मचर्य आदि नियम) (अजायत) प्रकट हुआ है ।।10।।

शत्रुनाशनम् सूक्तम्

1-3 सुकक्षः, 4 विश्वामित्रः । इन्द्रः । गायत्री ।

उद् घेदभि श्रुतामघं वृषभं नर्यापसम् । अस्तारमेषि सूर्य ॥1॥

(सूर्य) हे सूर्यो के सूर्य ! आप (घ) निश्चय से (इत्) अवश्य, (अभि) ऐसे उपासक के प्रति (उद् एषि) प्रत्यक्षरूप में उदित होते हैं, (श्रुतामघम्) जिसकी कि आध्यात्मिक-सम्पत्ति विश्रुत है, प्रसिद्ध है, (वृषभम्) और जो अन्यों पर उपदेशामृत की वर्षा करता है, तथा (नर्यापसम्) जिस के कर्म नर-नारियों के लिये हितकर हैं, (अस्तारम्) और जिसने अपने पाप-शत्रुओं को परास्त कर दिया है।

नव यो नवतिं पुरो बिभेद बाह्वो जसा । अहिं च वृत्रहावधीत् ॥2॥

(यः) जिस सूर्यों के सूर्य ने (बाह्वोजसा) निज ओजरूपी बाहुओं द्वारा (नवति नव) 99 (पुरः) पाप-गढ़ों को (बिभेद) छिन्न-भिन्न कर दिया है, उसी परमेश्वर ने, (वृत्रहा) जो कि पापों का विनाशक है, (अहिं च) पाप-सांपों का भी (अवधीत्) वध कर दिया है।

स न इन्द्रः शिवः सखाश्वावद् गोमद् यवमत् ।
उरुधारेव दोहते ॥3॥

(सः) वह (इन्द्रः) परमेश्वर (शिवः) कल्याणकारी है वह (नः) हमारा (सखा) वास्तविक सखा है । वह हमें (अश्वावत्) मानसिक (गोमत्) और ऐन्द्रियिक सम्पत्तियों के साथ-साथ (यवमत्) जौ आदि के रूप में शारीरिक सम्पत्तियां (उरुधारा इव) महाधाराओं के रूप में (दोहते) प्रदान करता है।

इन्द्र क्रतुविदं सुतं सोम हर्य पुरुष्टुत । पिबा वृषस्व तातृपिम् ॥4॥

सूक्त 8

1 भरद्वाजः, 2 कुत्सः, 3 विश्वामित्रः । इन्द्रः । त्रिष्टुप ।

एवा पाहि प्रत्नथा मन्दतु त्वां श्रुधि ब्रह्म वावृधस्वोत गीर्भिः ।
आविः सूर्यं कृणुहि पीपिहीषो जहि शत्रुरभि गा इन्द्र तृन्धि ॥1॥

(एवा=एवम्) इस प्रकार अर्थात् तृप्तिकारक आनन्दरस की वर्षा द्वारा और 33) (प्रत्नथा) अनादिकाल के सदृश आप (पाहि) हमारी रक्षा कीजिये । हमारा भक्तिरस (त्वा) आप को (मन्दतु) हर्षित करे, प्रसन्न करे । हमारी (ब्रह्म) ब्रह्मविषयक स्तुतियों को (श्रुधि) सुनिये । (उत) और (गीर्भिः) इन स्तुतियों के कारण (वावृधस्व) हमारी वृद्धि कीजिये । (सूर्यम्) हमारे तृतीय-नेत्र को (आविःकृणुहि) आविष्कृत कीजिये, प्रकट कीजिये । (इषः) हमारी अभिलाषाओं को (पीपिहि) प्रगति कीजिये या बढ़ाइये । हमारे (शत्रून्) कामादि शत्रुओं का (जहि) हनन कीजिये । (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (गाः) हमारी पार्थिव अभिलाषाओं को (अभितृन्धि) काट दीजिये । [पीपिहि=पि गतौ; प्यायी वृद्धौ । सूर्यम्=सखी **"तुषोजायत"** (यजु. 31/12) । गाः=**गौ पृथिवी (**निघ. 1/1) अर्थात् पार्थिव अभिलाषाएँ । तृन्धि=तृह् हिंसायाम् ।]

अर्वाङेहि सोमकामं त्वाहुरयं सुतस्तस्य पिबा मदाय ।
कुरूष्यर्था जठर आ वृषस्व पितेव नः शृणुहि हूयमानः ॥2॥

हे परमेश्वर ! (अर्वाङ् एहि) हमारी ओर कृपादृष्टि कीजिये । (सोमकामं त्वा आहुः) आप के सम्बन्ध में उपासक कहते हैं कि आप भक्तिरस की कामना करते हैं । (अयम्) यह भक्तिरस (सुतः) निष्पन्न हुआ है, (आप) इस का आप (मदाय) अपनी प्रसन्नता के लिये (पिब) पान कीजिये । (व्यवस्था) आप अतिविस्तारवाले हैं, सर्वगत हैं, (जठरे) वृद्धावस्था के कारण कठोर शरीरवाले उपासक पर (आ वृषस्व) आनन्दरस की वर्षा कीजिये । (हूयमानः) बुलाए जाने पर (शृणुहि) मेरी प्रार्थनाओं को सुनिये, (कर लिया) जैसे कि पिता सन्तानों की प्रार्थनाओं को सुनता है । [उरु अच्च् गतौ । जठरम्=**कठिनम्** (उणादि कोष, वैदिक मंत्रालय अजमेर, 5/38) ।]

आपूर्णा अस्य कलशः स्वाहा सेक्तेव कोशं सिसिचे पिबध्यै ।
समु प्रिया आबबृत्रन् मदाय प्रदक्षिणिदभि सोमास इन्द्रम् ॥3॥

(अस्य) इस उपासक का (कलशः) हृदय-कलश (आपूर्णः) भक्तिरस से पूरा भरा हुआ है, (स्वाहा) यह आहुतिरूप में आप के प्रति समर्पित है । (इव) जैसे (पिबध्यै) पीने के लिये (सेक्ता) दूध आदि का सींचनेवाला (कोक्षम्) अपने अन्नमय कोश को, शरीर को (सिसिचे) सींचता है, जैसे में उपासक भक्तिरस को आप पर सींचता हूं । (प्रियाः) आप के प्रिय (सोमास) भक्तिरस (मदाय) आप की प्रसन्नता के लिये (इन्द्रम् अभि) आप

परमेश्वर की ओर (सम् आववृत्रन्) सम्यक् रूप में प्रवृत्त हुए हैं । और इस उपासक ने आनन्दरस के रूप में (प्रदक्षिणित्) प्रकृष्ट दक्षिणा बात कर ली है । [प्रदक्षिणित्=प्र (प्रकृष्ट) + दक्षिणा+इत् (इण् गतौ, क्विप्, तुक्) वैदिक प्रयोग ।]

NOTES

सूक्त 9

1-2 नोधाः, 3-4 मेध्यातिथिः । इन्द्रः । 1-2 त्रिष्टुप्, 3-4 प्रगाथः (=बृहती+सतो बृहती) ।

तं वो दुस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः ।
अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे ॥1॥

हे उपासको ! (वः) तुम्हारे लिये, (दस्मम्) दुःखों का क्षण करने वाले, (ऋतीषहम्) आर्तियों अर्थात् पीड़ाओं और क्लेशों का पराभव करनेवाले, (वसोः) सम्पत्तियों तथा (अन्धसः) अन्नों से (मन्दानम्) तुम्हें तृप्त और प्रसन्न करनेवाले, (तम् इन्द्रम्) उस परमेश्वर के (अभि) प्रति (स्वसरेषु) प्रतिदिन (गीर्भिः) वेदवाणियों द्वारा (नवामहे) हम स्तुतिवचन उच्चारण करते हैं; (न) जैसे कि (वत्सम्) अपने-अपने बछड़े के प्रति प्रतिदिन (ध ेनवः) दूधभरी गौएं प्रीतिपूर्वक हम्भारती हैं । [अथवा (वः दस्मम्) तुम्हारे अज्ञान का क्षय करनेवाले ।]

द्युक्षं सुदानुं तविषीभिरावृतं गिरिं न पुरुभोजसम् ।
क्षुमन्तं वाजं शतिनं सहस्रिणं मक्षू गोमन्तमीमहे ॥2॥

(द्युक्षम्) द्युलोकनिवासी या सदा निज प्रकाश में निवास करनेवाले, (सुदानुम्) उत्तम-दानी, (तविषीभिः) नाना शक्तियों से (आवृतम्) घिरे हुए अर्थात् नाना शक्तियोंवाले, (गिरिं न) मेघ के सदृश (पुरुभोजसम्) सब की पालना, करनेवाले, (क्षुमन्तम्) सत्प्रेरणाओं के प्रदाता अथवा अन्नों के स्वामी, (वाजम्) बलस्वरूप, (शतिनं सहस्रिणम्) सैंकड़ों और हजारों लोकलोकान्तरों के स्वामी (गोमन्तम्) तथा वेदवाणी के स्वामी को (मक्षू) शीघ्र (ईमहे) हम प्राप्त होते हैं ।

तत् त्वा यामि सुवीर्यं तद् ब्रह्म पूर्वचित्तये ।
येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ ॥3॥

(यतिभ्यः) योगमार्ग पर यत्न करनेवाले यतियों के लिये, तथा (भृगवे) तप द्वारा कायिक और ऐन्द्रियिक मलों का भर्जन करनेवाले तपस्वीं-जन के लिये, (हिते धने) उनके हितकर मोक्षधन की प्राप्ति के निमित्त, हे परमेश्वर ! आप (येन) जिस सात्विकवीर्य और (येन) जिस ब्रह्मविद्या से सम्पन्न (प्रस्कण्वम्) महामेधावी सद्गुरु को, समय-समय पर (आविथ) भूमण्डल पर भेजते रहते हैं, (तत्) उस (सुवीर्यम्) सात्विकवीर्य की, तथा (तत्) उस (ब्रह्म) ब्रह्मविद्या की (त्वा यामि) प्रार्थना मैं आप से करता हूं । (पूर्वचित्तये) ताकि मुझे पूर्व चेतना प्राप्त हो सके ।

येना समुद्रमसृजो महीरपस्तदिन्द्र वृष्णि ते शवः ।
सद्यः सो अस्य महिमा न संनशे यं क्षोणीरनुचक्रदे ॥4॥

(येन) जिस सामर्थ्य से आपने (समुद्रम्) समुद्र का, और उस में (महीः अपः) महाराशिरूप में जलों का (असृजः) सर्जन किया है, (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (तत्) वह (वृष्णि) वर्षाकारी (शवः) सामर्थ्य (ते) आप का

ही है । (अस्य) इस परमेश्वर की (स:) वह (महिमा) महिमा (सद्य:) शीघ्र (संनशे न) नहीं समझी जा सकती, (यम्) जिस महिमा को (क्षोणी:) अन्तरिक्ष वर्षाकाल में (अनु चक्रदे) बार-बार गुंजाता रहता है ।

NOTES

सूक्त 10

मेध्यातिथि: । इन्द्र: । प्रगाथ: (=बृहतो+सतोबृहती) ।

उदु त्ये मधुमत्तमा गिर स्तोमास ईरते ।
सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथा इव ॥1॥

(उ) निश्चय से (त्ये) वे (मधुमत्तमा:) अत्यन्त मधुर (गिर:) स्तुतिवाणियां, तथा (स्तोमास:) सामगान, (उद् ईरते) हम उपासकों के हृदयों से उत्थित हो रहे हैं । ये स्तुतिवाणियां और सामगान (सत्राजित:) विक्षेपवृत्तियों पर वास्तव में विजय पाते हैं, (धनसा:) आध्यात्मिक विभूतियां प्रदान करते हैं, (अक्षितोतय:) इनके द्वारा पाई रक्षाएं क्षीण नहीं होतीं, और ये (रथा: इव) रथों के सदृश (वाजयन्त:) उद्देश्य की ओर वेग प्रदान करते हैं ।

कण्वा इव भृगव: सूर्य इव विश्वमिद्धीतमानशु: ।
इन्द्रं स्तोमेभिर्महयन्त आयव: प्रियमेधासो अस्वरन् ॥2॥

(सूर्या इव) सूर्य की किरणें जिस प्रकार जगत् को शुद्ध करती हैं, इसी प्रकार अपने कायिक ऐन्द्रियिक और मानसिक मलों का (भृगव:) भर्जन करनेवाले तपस्वीजन भी (कण्वा इव) निमीलित-नेत्र होकर ध्यान करनेवाले योगियों के समान (विश्वं धीतम्) ध्यानाभ्यास के सब फलों को (आनशु:) प्राप्त कर लेते हैं । परन्तु (प्रियमेधास:) उपासनायज्ञों के साथ प्रीति रखनेवाले (आयव:) सर्वसाधारण उपासक जन, (स्तोमेभि:) सामगानों द्वारा (इन्द्रं महयन्त: अस्वरन्) परमेश्वर की महिमा का स्वरपूर्वक गान ही करते रहते हैं ।

सूक्त 11

विश्वामित्र: । इन्द्र: । त्रिष्टुप् ।

इन्द्र: पूर्भिदातिरद् दासमर्कैर्विदद्वसुर्दयमानो वि शत्रून् ।
ब्रह्मजूतस्तन्वा वावृधानों भूरिदात्र आपृणद् रोदसी उभे ॥1॥

(इन्द्र:) परमेश्वर (पूर्भिद्) देहपुरियों का भेदन करता है अर्थात् मृत्यु की करता, तथा मोक्षावस्था के अधिकारियों के देहों का भेदन कर उन्हें मोक्ष प्रदान करता है । और (दासम्) क्षयकारी अविद्या आदि का (अर्के:) निज तीक्ष्ण प्रकाशों द्वारा (आतिरत्) तिरोधान अर्थात् विनाश करता है । (विदद्वसु:) प्राकृतिक और आध्यात्मिक सम्पत्तियों का दाता परमेश्वर (शत्रून्) उपासकों के प्रतिबन्धकों का (वि दयमान:) विशेषतया हनन करता है । (तन्वा) निज विस्तार से (वावृधान:) बढ़ा हुआ परमेश्वर (ब्रह्मजूत:) वैदिक स्तुतियों द्वारा प्रेरित होता है । उसने (भूरिदात्रे) प्रभूतदानी त्यागी व्यक्ति के लिये । (उभे रोदसी) दोनों भूलोक-द्युलोक (आपृणाद्) दानरूप में दे रखे हैं ।

मुखस्य ते तविषस्य प्र जूतिमियर्मि वाचममृताय भूषन् ।
इन्द्र क्षितीनामसि मानुषीणां विशां दैवीनामुत पूर्वयावा ॥2॥

हे परमेश्वर ! (मखस्य) यज्ञस्वरूप और (तविषस्य) बलस्वरूप (ते) आपके (जूतिम्) दिये वेग अर्थात् प्रेरणा को मैंने प्राप्त किया है । आप के प्रति (वाचम्) स्तुति-वचनों को (प्र इयर्मि) मैं प्रेरित करता हूं, (अमृताय) ताकि आप-अमृत को मैं पा सकूं । इस प्रकार मैं अपने आपको (भूषन्) विभूषित करता हूं । (इन्द्र) हे परमेश्वर ! आप (क्षितीनाम्) सब लोक-लोकान्तरों के, (मानुषीणां विशाम्) समग्र मानुष प्रजाओं के (उत) तथा (दैवीनां विशाम्) समग्र दैवत प्रजाओं के (पूर्वयावा) अग्रगन्ता अर्थात् अग्रणी (असि) हैं ।

इन्द्रो वृत्रमवृणोच्छर्धनीतिः प्र मायिनाममिनाद् वर्पनीतिः ।
अहन् व्यं समुशधग् वनेष्वाविर्धेना अकृणोद् राम्याणाम् ॥3॥

(शर्धनीतिः) बलप्रयोग की नीतिवाले (इन्द्रः) परमेश्वर ने (वृत्रम्) पाप-वृत्र पर (अवृणोत्) घेरा डाल दिया है; (वर्पनीतिः) प्रजा को रूपवान् करने की नीतिवाले परमेश्वर ने (मायिनाम्) छलकपटोंवाले प्रजाजनों के छलकपटरूपी वृत्रों का (अमिनात्) हनन किया है; (उशधग्) केवल निज कामना द्वारा दहन कर देनेवाले परमेश्वर ने कामादि के (व्यंसम्) अङ्गप्रत्यङ्ग का (अहन्) हनन कर दिया है; और (वनेषु राम्याणाम्) वनों में रहनेवाले प्रसादनीय वानप्रस्थ-उपासकों के प्रति परमेश्वर ने (धेनाः) अपनी वेदवाणियां (आविः अकृणोत्) प्रकट की हैं, उनके रहस्यार्थ प्रकट किये हैं।

इन्द्रः स्वर्षा जनयन्नहानि जिगायोशिग्भिः पृतना अभिष्टिः ।
प्रारोचयन्मनवे केतुमह्नामविन्दज्ज्योतिबृहते रणाय ॥4॥

(अहानि) दिनों को (जनयन्) उत्पन्न करता हुआ (इन्द्रः) परमेश्वर (स्वर्षाः) सुखों का प्रदान करता है । (अभिष्टिः) अभीष्ट साधक परमेश्वर (उशिग्भिः) मेधावी व्यक्तियों के द्वारा (पृतनाः) कामादि की सेनाओं पर (जिगाय) विजय पाता है । (मनवे) मनुष्य-जाति के लिये (अह्नां केतुम्) दिनों के झण्डे सूर्य को (प्रारोचयत्) परमेश्वर ने चमकाया है । और (बृहते रणाय) महारमणीयता प्रकट करने के लिये (ज्योतिः) महाज्योतिरूप सूर्य को (अविन्दत्) उसने अपनाया है ।

इन्द्रस्तुजो बर्हणा आ विवेश नृवद दधानो नर्या पुरूणि ।
अचेतयद् धिय इमा जरित्रे प्रेमं वर्णमतिरच्छुक्रमासाम् ॥5॥

(इन्द्रः) परमेश्वर (तुजः) उपासक-पुत्र की (बर्हणा) अविद्याविनाशिनी शक्ति के कारण उसके हृदय में (आ विवेश) प्रवेश पाता है । वह (नर्या) नरहितकारी (पुरूणि) प्रभूत सामग्री (दधानः) धारण किये हुए है, (नृवत्) जैसे कि कोई श्रेष्ठ नर परोपकारार्थ प्रभूत सामग्री धारण करता है । (जरित्रे) स्तोता के लिये परमेश्वर (इमाः धियः) इन सात्विक बुद्धियों को (अचेतयत्) जागरित करता है, और (आसाम्) इन बुद्धियों के (इमम्) इस (शुक्रं वर्णम्) सात्विक विशुद्ध स्वरूप को (अतिरत्) बढ़ाता है ।

महो महानि पनयन्त्यस्येन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि ।
वृजनेन वृजिनान्त्सं पिपेष मायाभिर्दस्यूरभिभूत्योजाः ॥6॥

उपासक जन (अस्य) इस (इन्द्रस्य) परमेश्वर के (महः महानि) महान् से महान् (पुरूणि) नानाविध (सुकृता कर्म) सत्कर्मों का (पनयन्ति) स्तवन करते हैं । (अभिभूत्योजाः) पराभवकारी ओज से सम्पन्न परमेश्वर ने (वृजनेन) निज स्वाभाविक बल द्वारा (मायाभिः) छलकपटों से युक्त (वृजिनान्) पापरूप (दस्यून्) क्षयकारी दुर्भावों और दुष्कर्मों को (सं पिपेष) सम्यक्तया पीस दिया है।

युधेन्द्रो मह्ना वरिवश्चकार देवेभ्यः सत्पतिश्चर्षणिप्राः ।
विवस्वतः सदने अस्य तानि विप्रा उक्थेभिः कवयो गृणन्ति ॥7॥

(सत्पतिः) सच्चे-रक्षक और (चर्षणिप्राः) प्रजाजनों को सुखों से भरपूर करनेवाले परमेश्वर ने (मह्ना युधा) आसुर शक्तियों के साथ महायुद्ध द्वारा (देवेभ्यः) दिव्य-उपासकों के लिये (वरिवः) वरणीय मोक्षधन (चकार) प्रकट कर दिया है । (विवस्वतः) सूर्य के (सदने) सदन अर्थात् इस पृथिवी पर, वा—(विवस्वतः) अज्ञानान्धकार को दूर करनेवाले परमेश्वर के हृदय-सदन में ध्यान लगाये (विप्राः कवयः) मेधावी-कवि उपासक (अस्य) इस परमेश्वर के (तानि) उन सत्कर्मों का (उक्थेभिः) सूक्तों द्वारा (गृणन्ति) स्तवन करते हैं । [**वरिवः=धन** (निघ. 2/10) ।]

सत्रासाहुं वरेण्यं सहोदां ससवांसं स्व रपश्च देवीः ।
ससान यः पृथिवीं द्यामुतेमामिन्द्रं मदन्त्यनु धीरणासः ॥8॥

(यः) जिसने हमारे लिये (पृथिवीम्) पृथिवी (उत) और (इमां द्याम्) यह द्युलोक (ससान) दिया है, उस (सत्रासाहम्) वस्तुतः पराक्रमशील, (वरेण्यम्) वरणीय, (सहोदाम्) बलप्रदाता, (स्वः) प्रकाश अथवा सूर्य और (देवीः अपः) दिव्यजलों के (ससवासम्) प्रदाता (इन्द्रम्) परमेश्वर की, (धीरणासः) आध्यात्मिक-प्रज्ञा में रमण करनेवाले उपासक (अनु) निरन्तर (मदन्ति) स्तुतियां करते हैं।

ससानात्याँ उत सूर्यं ससानेन्द्रः ससान पुरुभोजसं गाम् ।
हिरण्ययमुत भोगं ससान हत्वी दस्युन् प्रार्यं वर्णमावत् ॥9॥

(इन्द्रः) परमेश्वर ने हमें (अत्यान्) सतत-गतिशील श्वासप्रश्वास (ससान) दिये हैं, (उत) और (सूर्यम्) सूर्य (ससान) दिया है । तथा (पुरुभोजसम्) सब को पालनेवाली (गाम्) पृथिवी (ससान) दी है । (उत) और (हिरण्ययम्) सोना-चान्दी के सदृश (भोगम्) भोगसाधन (ससान) दिये हैं । तथा (दस्यून्) क्षयकारी काम आदि दुर्वासनाओं का (हत्वी) हनन करके (वर्णम्) वरण करने योग्य (आर्यम्) आस्तिकभावना की (प्र आवत्) परमेश्वर ने रक्षा की है ।

इन्द्र ओषधीरसनोदहानि वनस्पतीरसनोदन्तरिक्षम् ।
बिभेद वलं नुनुदे विवाचोऽथांभवद् दमिताभिक्रतूनाम् ॥10॥

(इन्द्रः) ईश्वर ने (ओषधीः) ओषधियां, (अहानि) और प्रकाशमय दिन (असनोत्) दिये हैं । (वनस्पतीन्) वनस्पतियां (अन्तरिक्षम्) और अन्तरिक्ष (असनोत्) दिये हैं । (वलम्) आवरण डालनेवाले कामादि को (बिभेद) परमेश्वर नें छिन्न-भिन्न किया है । (विवाचः) वेदविरुद्ध नास्तिकता का कथन करनेवाले नास्तिकों को) (नुनुदे) धकेल दिया है । (अथ) और (दमिता) नास्तिकता की भावनाओं को दबानेवाला, नियन्त्रित करनेवाला परमेश्वर (विवाचः) वेदविरुद्धभाषियों के (क्रतूनाम्) संकल्पों कर्मों और प्रज्ञाओं का (अभि अभवत्) पराभव करता है ।

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन् भरे नृतमं वाजसातौ ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम् ॥11॥

(अस्मिन्) इस (भरे) देवासुर-संग्राम में (वाजसातौ) बल की प्राप्ति के निमित्त, (शुनम्) सुखदायक, (मघवानम्) सम्पत्तिशाली, (नृतमम्) सर्वश्रेष्ठ नेता (इन्द्रम्) परमेश्वर का (हुवेम) हम उपासक आह्वान करते हैं ।

वह परमेश्वर (ऊतये) हमारी रक्षा के लिये (शृण्वन्तम्) हमारी प्रार्थनाओं को सुनता है, (उग्रम्) आसुर-भावनाओं के पराभव में उग्र है । (समत्सु) देवासुर-संग्रामों में (वृत्राणि) आसुर-भावनाओं का (घ्नन्तम्) हनन करता है, और (धनानाम्) उन की शक्तियों पर (संजितम्) विजय पाता है ।

NOTES

सूक्त 12

1—6 वसिष्ठः, 7 अत्रिः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

उदु ब्रह्माण्यैरयत श्रवस्येन्द्रं समर्ये महया वसिष्ठ ।
आ यो विश्वानि शवसा ततानोपश्रोता म ईवतो वचांसि ॥1॥

हे उपासकों ! तुम (श्रवस्या) श्रवण करने योग्य (ब्रह्माणि) ब्रह्म-प्रतिपादक वेदमन्त्रों का (उद् उ) उच्च स्वरों में (ऐरयत) गान किया करो । (वसिष्ठ) तथा हे प्राणसंयमी श्रेष्ठ उपासक ! तू (समर्ये) धनस्वामियों तथा वैश्यों की सभाओं में (इन्द्रम्) परमेश्वर की (महय) महिमा गाया कर, परमेश्वर-सम्बन्धी उपदेश दिया कर । (यः) जिस परमेश्वर ने कि अपने (यशसा) महायश द्वारा (विश्वानि) सब भुवनों को (आ ततान) सर्वत्र फैलाया है । वह (मे) मेरे (वचांसि) वचनों को (उप) समीप होने के कारण (श्रोता) सुनता है । मेरे हृदय में व्याप्त हुआ-हुआ सुनता है, (ईवतः) जो मैं कि उस परमेश्वर तक पहुंच चुका हूं ।

अयामि घोष इन्द्र देवजामिरिरज्यन्त यच्छुरुधो विवाचि ।
नहि स्वमायुश्चिकिते जनेषु तानीदंहांस्यति पर्ष्यस्मान् ॥2॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (घोषे) आर्तनादों के उठने पर, (यद्) जब मैं (देवजामिः) आप देव का बन्धु (अयामि) आप की शरण में आता हूं, तब (विवाचि) मेरी मौनावस्था में (शुरुधः) शोक-सन्ताप को रोकनेवाली मेरी चित्तवृत्तियां (इरज्यन्त) आप की परिचर्या में लग जाती हैं । (स्वमायुः) अपना अन्तर्नाद करनेवाला परमेश्वर (जनेषु) सर्वसाधारण जनों में (चिकिते नहि) प्रकट नहीं होता । क्योंकि उन सर्वसाधारण जनों में (तानि इत्) वे प्रसिद्ध (अंहांसि) पाप विद्यमान रहते हैं । हे परमेश्वर ! (अस्मान्) हम उपासकों को आप (अति पर्षि) भवसागर से पार कीजिये ।

युजे रथं गवेषणं हरिभ्यामुप ब्रह्माणि जुजुषाणमस्थुः ।
वि बाधिष्ट स्य रोदसी महित्वेन्द्रो वृत्राण्यप्रती जघन्वान् ॥3॥

(गवेषणम्) प्रभु की गवेषणा अर्थात् खोज करनेवाले (रथम्) मनोरथों को=मानसिक अभिलाषाओं को (हरिभ्याम्) कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियरूपी अश्वों समेत, (युजे) जब मैं परमेश्वर के साथ योगयुक्त करता हूं, तब (ब्रह्माणि) ब्रह्मस्तावक मेरे स्तुतिजाप, (जुजुषाणम्) उन का प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले परमेश्वर का (उप अस्थुः) उपस्थान करते हैं, उस के समीप उपस्थित हो जाते हैं । (स्यः) वह ही (इन्द्रः) परमेश्वर (महित्वा) निज महिमा द्वारा (रोदसी) भूलोक और द्युलोक का (वि बाधिष्ट) प्रलयकाल में विनाश कर देता है । वह ही (वृत्राणि) पाप-वृत्रों का (अप्रती=अप्रतीनि) बिना विरोध के (जघन्वान्) हनन कर देता है ।

आपश्चित् पिप्यु स्तर्योशन गावो नक्षन्नृतं जरितारस्त इन्द्र ।
याहि वायुर्न नियुतो नो अच्छा त्वं हि धीभिर्दयसे वि वाजान् ॥4॥

तदनन्तर (आप: चित्) उपासक की प्राणशक्तियां भी (पिप्यु:) आप्यायित हो जाती हैं, (न) जैसे कि (स्तर्य:) बांझ (गाव:) गौएं खा-खाकर, आप्यायित हो जाती हैं । तब (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (ते) आप के (जरितार:) स्तोता (ऋतम्) सत्यमार्ग को (नक्षन्) प्राप्त होते हैं । हे परमेश्वर ! (त्वम्) आप (धीभि:) अपने कर्मों द्वारा (वजान्) बलों का (वि दयसे) प्रदान करते हैं । (न:) हम (नियुत:) हजारों उपासकों के (अच्छ) संमुख (आ याहि) आप आइये । (न) जैसे कि (वायु:) अन्तरिक्षस्थ वायु हजारों प्राणियों को प्राप्त हो रही है ।

ते त्वा मदा इन्द्र मादयन्तु शुष्मिणं तुविराधसं जरित्रे ।
एको देवत्रा दयसे हि मर्तानस्मिञ्च्छूर सवने मादयस्व ॥5॥

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (ते) वे (मदा:) हर्षोत्पादक भक्तिरस (शुष्मिणम्) पापशोषक बलवान्, तथा (तुविराधसम्) महाधनी (त्वा) आप को (मादयन्तु) प्रसन्न करें, (जरित्रे) ताकि आप स्तोता का सफल-मनोरथ करें । (देवत्रा) देवों में आप ही (एक:) एक देव हैं, जो कि (हि) निश्चयपूर्वक (मर्तान्) मनुष्यों की (दयसे) रक्षा कर रहे हैं, उन पर दया कर रहे हैं । (शूर) हे पराक्रमशील ! (अस्मिन्) इस (सवने) भक्तियज्ञ में (मादयस्व) आप अपने भक्तों को भी आनन्दरस द्वारा प्रसन्न कीजिये, तृप्त कीजिये ।

एवेदिन्द्रं वृषणं वज्रबाहु वसिष्ठासो अभ्य र्चन्त्यर्कै: ।
स न स्तुतो धीरवद् धातु गोमद् यूयं पात स्वस्तिभि: सदा न: ॥6॥

हे परमेश्वर ! (वसिष्ठास:) आप में सदा बसनेवाले उपासक, (वृषणम्) आनन्दरसवर्षी, (बज्रबाहुम्) तथा न्यायवज्र द्वारा पापियों को विलोड़ित करनेवाले, (इन्द्रम्) आप परमेश्वर की (एव) ही (अर्कै:) स्तुतिमन्त्रों द्वारा (अभि अर्चन्ति) साक्षात् स्तुतियां करते हैं । (स्तुत: स:) हम उपासकों द्वारा स्तुति पाया हुआ वह परमेश्वर (धातु) हम में ऐसी आध्यात्मिक सम्पदा स्थापित करे, जो कि हमें (वीरवत्) उपासना में अधिक वीर बनाये, और (गोमत) हमारी इन्द्रियों को प्रशस्त करे । हे विभूतियों से सम्पन्न उपासको ! (यूयम्) आप (स्वस्तिभि:) कल्याणमार्गों द्वारा (न:) हमारी (सदा पात) सदा रक्षा करें ।

ऋजीषी वज्री वृषभस्तुराषाट् शुष्मी राजा वृत्रहा सोमपावा ।
युक्त्वा हरिभ्यामुप यासदुर्वाङ्माध्यन्दिने सवने मत्सदिन्द्र: ॥7॥

(ऋजीषी) ऋजु अर्थात् सत्यमार्ग चाहनेवाला, (वज्र) न्यायवज्र-धारी, (वृषभ:) आनन्दरसवर्षी, (तुराषाट्) शीघ्रकष्टहारी, (शुष्मी) बल-शाली, (राजा) ब्रह्माण्ड का स्वामी, (वृत्रहा) पापविनाशी, (सोमपावा) भक्तिरस की रक्षा करनेवाला (इन्द्र:) परमेश्वर (हरिभ्याम्) ऋक् और साम की विधियों द्वारा, (युक्त्वा) हम उपासकों को योगयुक्त करके, (अर्वाङ्) हमारी ओर (उपयासत्) हमारे समीप आये, और (माध्यन्दिने) मध्याह्न में अर्थात् युवाकाल की माध्यमिक आयु में किये गये (सवने) उपासना-यज्ञों में (मत्सत्) प्रसन्न होवे, और हमें प्रसन्न करे।

सूक्त 13

1 वामदेव:, 2 गोतम:, 3 कुत्स:, 4 विश्वामित्र: । 1 इन्द्राबृहस्पती, 2 मरुत:, 3-4 अग्नि: । 1-3 जगती, 4 त्रिष्टुप ।

इन्द्रश्च सोमं पिबतं बृहस्पतेऽस्मिन् यज्ञे मन्दसाना वृषण्वसू ।
आ वां विशन्त्विन्दव: स्वाभुवोऽस्मेरयिं सर्ववीरं नि यच्छतम् ॥1॥

(बृहस्पते) हे बृहती-सेना के पति ! आप (च) और (इन्द्र:) सम्राट् आप दोनों, जो कि (वृषण्वसू) प्रजाजनों पर वसुओं अर्थात् सम्पत्तियों की वर्षा करते हों (मन्दसाना) प्रजाजनों को सदा प्रसन्नता प्रदान करते हों, (अस्मिन्) इस (यज्ञे) उपासना-यज्ञ में सम्मिलित होकर, (सोमम्) भक्तिरस का (पिबतम्) पान किया करो। ताकि (स्वाभुव:) स्वाभावत: प्रकट हो जानेवाले (इन्दव:) हृदयों को क्लेदित कर देनेवाले, द्रवित कर देनेवाले भक्तिरस (वाम्) आप दोनों में भी (आ विशन्तु) प्रवेश पाएं । और आप दोनों (अस्मे) हम उपासकों को (रयिम्) ऐसी सम्पत्ति अर्थात् उत्साह (नि यच्छतम्) प्रदान करें, जिससे हम और (सर्ववीरम्) अन्य सब प्रजाजन धर्मवीर और राष्ट्रवीर बन जायें ।

आ वो वहन्तु सप्तयो रघुष्यदो रघुपत्वान: प्रजिंगात बाहुभि: ।
सीदता बर्हिरुरुव: सदस्कृतं मादयध्वं मरुतो मध्वो अन्धस: ॥2॥

(मरुत:) हे सैनिक योद्धाओ, या अधिकारियों ! (व:) आप को (रघुष्यद:) शीघ्रगामी रथ तथा (रघुपत्वान: सप्तय:) शीघ्रगामी अश्व (आ बहन्तु) उपासना-यज्ञों में लाया करें । आप (बाहुभि:) अपने बाहुबलों द्वारा (प्र जिगात) शत्रुओं पर विजय पाइये । (बर्हि:) कुशासनों पर (सीदत) आकर बैठियें । (व:) तुम्हारे लिये (उरु) यह महती (सद: कृतम्) यज्ञशाला रची गई है । और (मध्व:) मधुर (अन्धस:) भक्तिरसरूपी आध्यात्मिक-अन्न से (मादयध्वम्) अपनी आत्माओं को प्रसन्न कीजिये ।

इमं स्तोमर्महते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया ।
भद्रा हि न: प्रमतिरस्य संसद्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥3॥

(अर्हते) मान योग्य (जातवेदसे) तथा विज्ञ प्रधानमन्त्री के उपस्थित होने पर, इसके मान में हम (मनीषया) बुद्धिपूर्वक सोचकर, (इमम्) इस (स्तोमम्) प्रशस्तिपत्र को (सं महेम) तैयार करते हैं, इस प्रशस्तिपत्र को महिमायुक्त करते हैं । (इव) जैसे बुद्धिपूर्वक (रथम्) रथ का निर्माण करके उसे महिमायुक्त किया जाता है । (अस्य) इस प्रधानमन्त्री की (संसदि) संसद् में उपस्थिति होने पर (न:) हम प्रजाजनों के (प्रमति:) विचार (भद्रा) सुखदायी और कल्याणकारी हो जाते हैं । (अग्ने) हे राष्ट्र के अग्रणी ! (तव) आप के साथ (सख्ये) हम प्रजाजनों का सखिभाव अर्थात् मैत्री हो जाने पर (वयम्) हम प्रजाजन (मा रिषाम) आभ्यन्तर और बाहर आक्रमणों द्वारा विनष्ट और दु:खी नहीं होने पाते।

ऐभिरग्ने सरथं याह्यर्वाङ् नानारथं वा विभवो ह्यश्वा: ।
पत्नीवतस्त्रिंशतं त्रींश्च देवाननुष्वधमा वह मादयस्व ॥4॥

(अग्ने) हे राष्ट्राग्रणी प्रधानमन्त्री ! (एभि:) इन अधिकारियों के साथ आप (सरथम्) रथारूढ़ होकर (अर्वाङ्) इन प्रजाजनों की ओर (आयाहि) आइये । (नानारथम्) आपके अधिकार में नाना रथ हैं । (वा) तथा आप के पास (विभव:) प्रभूत सम्पतियाँ हैं! (अश्वा:) और नाना अश्व हैं । हे अग्रणी प्रधानमन्त्री ! (पत्नीवत:) सपत्नीक (त्रिंशतं त्रीन् च देवान्) 33 देवों को (आ वह) हम प्रजाजनों की ओर आने में प्रेरित किया कीजिये । और वे (अनु स्वधम्) अपनी-अपनी रुचि के अनुसार, प्रजा द्वारा सत्कार में समर्पित अन्न का ग्रहण करके (मादयध्वम्) अपने आप को प्रसन्न करें, तथा प्रजाजनों को भी प्रसन्न किया करें ।

प्रथम अनुवाक समाप्त ।।1।।

NOTES

सूक्त 14 राष्ट्राभिवर्धनम् सूक्तम्

1-4 सौभरिः । इन्द्रः । प्रगाथः (विषमा ककुप्+समा सतोबृहती)।

वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद् भरन्तोऽवस्यवः ।
वाजे चित्रं हवामहे ।।1।।

(वाजे) हे राष्ट्रों में बल की प्राप्ति के निमित्त, (अपूर्व्य) अपूर्व-शक्ति-सम्पन्न सम्राट् ! (चित्रम्) प्रशंसनीय तथा दर्शनीय (त्वाम्) आपका (भरन्तः) भरण-पोषण करते हुए , तथा (अवस्यवः) ग्राप से रक्षा चाहते हुए हम प्रजाजन, आपको (हवामहे) राज्यगद्दी पर बुलाते हैं । (न) जैसे कि कोई ग्रात्मरक्षार्थ (कच्चित्) किसी (स्थूरम्) शक्तिशाली व्यक्ति को बुलाता है ।

उपं त्वा कर्मन्नूतये स नो युवोग्राश्चक्राम् यो घृषत् ।
त्वामिद्ध्यवितारं ववृमहे सखाय इन्द्र सानसिम् ।।2।।

(कर्मन्) राष्ट्र-कर्म सम्बन्धी (ऊतये) रक्षा के लिये हे सम्राट ! हम प्रजाजन (त्वा) ग्रापको (उप) ग्रपने समीप (हवामहे) बुलाते हैं (मन्त्र 65) । (सः) वे ग्राप (युवा उग्रः) युवा है, ग्रौर रक्षा के लिये उग्रस्वभाववाले हैं । (यः) जो (धृषत्) हमें दबाता ग्रौर हम पर आक्रमण करता है, (चक्राम) उस पर ग्राप आक्रमण कीजिये । (त्वाम्) ग्राप (इत् हि) ही (ग्रवितारम्) रक्षक का (ववृमहे) हम वरण करते हैं । (इन्द्र) हे सम्राट् ! (सानसिम्) रक्षा प्रदान करनेवाले आपको (सखायः) ग्राप के सखा हम प्रजाजन वरण करते हैं ।

यो न इदमिदं पुरा प्र वस्य आनिनाय तमु व स्तुषे ।
सखाय इन्द्रमूतये ।।3।।

(सखायः) हे मित्रो ! (वः) तुम्हारी (ऊतये) रक्षा के निमित्त, मैं। तुम्हारा प्रतिनिधि, (तम् उ) उस ही (इन्द्रम) सम्राट के (स्तुषे) गुण कथंन करता हूं, (यः) जो कि (पुरा) पहिले भी (नः) हमें (इदम् इदम्) अमुक-अमुक नानाविध (वस्यः) राष्ट्र-सम्पत्तियां (प्र आनिनाय) प्रकर्ष-रूप में प्रदान करता रहा है ।

हर्यश्वं सत्पतिं चर्षणीसहुं हि ष्मा यो अमन्दत ।
आ तु नः वयति गव्यमश्व्यं स्तोतृभ्यो मघवा शतम् ।।4।।

(हर्यश्वम्) जिसके अश्वारोहियों ने शत्रुओं का परिहार किया है, (सत्पतिम्) जो सच्चा रक्षक है, (चर्षणीसहम्) प्रजाजनों में जो प्रभावशाली है, उसका हम (ववृमहे) वरण करते हैं (मन्त्र 66) । (सः हि स्म) यह वही है (यः) जिसने पहिले भी हमें अपने कार्यों द्वारा (ग्रमन्दत) प्रसन्न किया है । (मघवा) सम्पत्तिशाली (सः) वह सम्राट् (नः स्तोतृभ्यः) हम अपने प्रशंसकों के लिये (गव्यम् अश्व्यम्) गौग्रों अश्वों द्वारा मिलने वाले (शतम्) सैकड़ों प्रकार के सुख (ग्रा वयति) प्राप्त कराता है।

सूक्त 15

1-6 गोतमः । इन्द्रः त्रिष्टुप् ।

मंहिष्ठाय बृहते बृहद्रये सत्यशुष्माय तवसे मतिं भरे ।
अपामिंव प्रवणे यस्य दुर्धरं राधो विश्वायु शवम् अपावृतम् ।।1।।

(मंहिष्ठाय) महादानी, (बृहते) सर्वतो महान्, (बृहद्रये) महावेगी, (सत्यशुष्माय) सत्यबली, (तबसे) बलस्वरूप परमेश्वर के प्रति (मतिम्) मैं। मननीय स्तुतियां (भरे) भेंट करता हूँ । (प्रवणे) निम्न प्रदेश में बहते हुए (अपाम् इव) जलों के सदृश (यस्य राध:) जिसका धन (अपावृतम्) खुले रूप में बह रहा है, (दुर्धरम्) जो धन कि सदा धरा नहीं जा सकता, जो कि चञ्चल है, अ्रस्थायी है, (विश्वायु) जो कि सब मनुष्यों के लिये है, (शवसे) तथा बल की प्राप्ति के लिये है । [मंहिष्ठाय = मंहते: दानकर्मण: (निरु. 1।3।7) । विश्वायु = विश्व + आयु (= मनुष्य, निघं. 2।3)।]

अध ते विश्वमनु हासदिष्टय आपो निम्नेव सवंना हुविष्मतः ।
यत् पर्वते न समशीत हर्यत इन्द्रस्य वज्रः श्नथिताहिरण्ययः ।।2।।

(अध) तथा हे परमेश्वर ! (ते) आपके (इष्टये) यजनार्थ (विश्वम्) समग्र ब्रह्माण्ड (अनु) निरन्तर (हासत्) गति कर रहा है । (हविष्मत:) आत्मसमर्पणरूपी हविवाले उपासक के (सवना) उत्पन्न भक्तिरस आपके प्रति ऐसे प्रवाहित हो रहे हैं, (न) जैसे कि (आप:) जल (निम्ना = निम्नानि) नीचे की ओर प्रवाहित होते हैं । (न) जैसे (पर्वते) मेघ में (इन्द्रस्य) परमेश्वर का (हर्यत:) कान्तिमान् (वज्र:) विद्युद्-वज्र (समशीत) सोया रहता है, परन्तु मौके पर (श्नथिता) हिंसकरूप भी धारण कर लेता है, वैसे परमेश्वर का (हिरण्यय:) हितकर और रमणीय (वज्र:) न्यायवज्र भी (समशीत) सोया पड़ासा प्रतीत होता है, परन्तु समय-समय पर (श्नथिता) हिंस्ररूप भी धारण कर लेता है।

अस्मै भीमाय् नमसा समध्वर उषो न शुभ्र आ भरा पनीयसे ।
यस्य धाम श्रवसे नामेन्द्रियं ज्योतिरकारि हरितो नायसे ।।3।।

हे उपासक ! (अध्वरे) हिंसारहित उपासना-यज्ञ में, तू (भीमाय) कठोर न्याय की दृष्टि से भयानक, परन्तु (पनीयसे) न्यायवज्र के हितकर और रमणीय होने के कारण स्तुति-योग्य (अस्मै) इस परमेश्वर के प्रति, (नमसा) नमस्कारों द्वारा (सम्) सम्यक्रूप में (आ भर) भक्तिरस समर्पित कर । (न) जैसे कि (उषा:) उषा (शुभ्रे) दिन के शुभ्र हो जाने पर सूर्य के निमित्त आत्मसमर्पण कर देती है । (नाम) सब को नमानेवाला (यस्य) जिस परमेश्वर का (इन्द्रियं धाम) परमेश्वरीय निज तेज (श्रवसे) श्रवण योग्य है, विश्रुत है । उसने हम उपासकों में (ज्योत:) एक दिव्य ज्योति (अकारि) प्रकट कर दी है । (न) जैसे कि (हरित:) अन्धकार का हरण करने वाली सूर्यकिरणें (अयसे) आते समय (ज्योति:) उषारूपी ज्योति प्रकट कर देती है ।

इमे त इन्द्र वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो ।
नहि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सघत क्षोणीरिव प्रति नो हर्य तद्वचः ।।4।।

(पुरुष्टुत) हे महास्तुतिवाले (इन्द्र) परमेश्वर ! (इमे वयम्) ये हम उपासक (ते) आपके हैं, (ते) आप के ही हैं । (प्रभूवसो) हे प्रभूत सम्पत्तिवाले ! (ये) जो हम कि (त्वारभ्य) आपका अवलम्ब लेकर, आश्रय लेकर, (चरामसि) विचर रहे हैं । (गिर्वण:) हे वेदवाणियों द्वारा सम्यक् भजने योग्य ! (त्वत् अन्य:) आप से भिन्न कोई भी (गिर:) वेद वाणियों का (संघत्) संवरण करनेवाला, सम्यक् वरण करनेवाला, उन्हें स्वीकृत करनेवाला (नहि) नहीं है । (न:) हमारे (तद् वच:) उन स्तुति- प्रार्थना के वचनों को (प्रत हर्य) चाहनापूर्वक स्वीकार कीजिये , (क्षीणी: इव) जैसे कि आप पृथिवी आदि लोक-लोकान्तरो को चाहनापूर्वक अपना रहे हैं । [सघत् = षगे संवरणे।]

भूरि त इन्द्र वीर्यं तव स्मस्यस्य स्तोतुर्मघवन् काममा पृण ।
अनुते द्यौर्बृहती वीर्यं मम इयं च ते पृथिवी नेम ओजसे ।।5।।

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (ते) आपका (वीर्यम्) सामर्थ्य (भूरि) महान् है । (तव) आपके ही (स्मसि) हम हैं । (मघवन्) हे ऐश्वर्यशालिन् ! (अस्य स्तोतु:) इस स्तुतिकर्त्ता की (कामम्) मोक्ष-कामना को (आपृण) पूर्ण कर दीजिये । आपका बड़ा सामथर्य है । (बृहती द्यौ:) महान् द्युलोक (ते वीर्यम्) आपके सामर्थ्य का (अनु) अनुचर बना हुआ है । (मम) हे मेरे परमेश्वर ! (न) जैसे कि (इयम्) यह (ते) आपकी (पृथ्वी) पृथिवी आपकी अनुचरी बनी हुई है । (इमे) ये दोनों लोक (ओजसे) आपके ओज को लक्ष्य करके आपके अनुचर बने हुए हैं ।

त्वं तमिंन्द्र पर्वतं महामुरुं वज्रेण वज्रिन् पर्वशश्चकर्तिथ ।
अवासृजो निवृता: सर्तवा अप: सत्रा विश्वं दधिषे केवलं सह: ।।6।।

(वज्रिन् इन्द्र) हे वज्रधारी परमेश्वर ! आपने (वज्रण) विद्युद्रूपी वज्र द्वारा (महाम्) महान् और (उरुम्) विस्तारी (पर्वतम्) मेघ को (पर्वश:) टुकड़े-टुकड़े करके (चकर्तिथ) काट गिराया है । और (निवृता:) मेघ में नितरां घिरे हुए (अप:) जलों को (सर्तवै) सरण करने के लिये, बहने के लिये (अवासृज:) नीचे भूमि की ओर प्रकट कर दिया है । (सत्रा) यह सत्य है कि आप ही (विश्वम्) ब्रह्माण्ड का (दधिषे) धारण- पोषण कर रहे हैं । (सह:) यह सामर्थ्य (केवलम्) केवल आपका ही है ।

सूक्त 16

1-12 अयास्य: । बृहस्पति: । त्रिष्टुप् ।

उदप्रुतो न वयो रक्षमाणा वावदतो अभ्रियस्येव घोषा: ।
गिरभ्रजो नोर्मयो मदन्तो बृहस्पतिमभ्यर्का अनावन् ।।1।।

(रक्षमाणा:) अपनी रक्षा में तत्पर, (उदप्रुत:) जलों मं प्लुतियां लगानेवाले (वावदत: = वावदन्त:) कलरव करते हुए (वय:) पक्षी (न) जैसे (बृहस्पतिम्) मानो महाब्रह्माण्ड के अधिपति की (अनावन्) स्तुतियां करते हैं, तथा (वावदत:) कड़कते हुए (अभ्रियस्य) मेघस्थ-विद्युद्वज्र के (घोषा:) घोष (इव) जैसे मानो बृहस्पति की स्तुतियां करते हैं, और (गिरिभ्रज:) पर्वतों से गिरती हुई (ऊर्मय:) नादियों की लहरें (न) जैसे मानो बृहस्पति की स्तुतियां करती हैं, वैसे हमारे (मदन्त:) मादक (अर्का:) स्तुतिमन्त्र, महाब्रह्माण्ड के स्वामी की (अभि) साक्षात् (अनावन्) स्तुतियां करते हैं । [अभिप्राय यह है कि प्राकृतिक संसार भी मानो अपने प्रभु की स्तुतियां करता है । तब मनुष्यों को भी चाहिये कि अपने प्रभु की स्तुतियां करें]

सं गोभिंराङ्गिरसो नक्षमाणो भगइवेदर्यमणं निनाय ।
जने मित्रो न दम्पती अनक्ति बृहस्पते वाजयाशूँरिवाजौ ।।2।।

(आङ्गिरस:) प्राणायामाभ्यासी उपासक, (गोभि:) वेदवाणियों द्वारा (नक्षमाण:) प्रगति करता हुआ, (अर्यमणम्) कामादि अरियों को नियन्त्रण करने वाले परमेश्वर को अपनी ओर (सं निनाय) सम्यक् प्रकार से झुका लेता है, (इव) जैसे कि (भग:) भगवान् ने (अर्यमणम्) अन्धकाररूपी-अरि को नियमन करने वाले आदित्य को (सं निनाय) हमारी ओर झुकाया हुआ है । (जने) जन-समुदाय में (न) जैसे (मित्र:) मित्र (दम्पती) नवविवाहित

पति-पत्नी के गुणों को (अनक्ति) अभिव्यक्त करता है, वैसे ही प्राणायामाभ्यासी योगी, परमेश्वर के गुणों को जन समुदाय में अभिव्यक्त करता रहता है । और प्रार्थना करता है कि (बृहस्पते) हे महाब्रह्माण्ड के पति ! (वाजय) हम सब को बल प्रदान कीजिये, और प्रगतिशील कीजिये । (इव) जैसे कि बृहती सेना का पति (आजौ) युद्ध में (अशून्) शीघ्रगामी अश्वों को प्रगतिशील करता है ।

साध्वर्या अतिथिनीरिषिरा स्पार्हाः सुवर्णा अनवद्यरूपाः ।
बृहस्पतिः पर्वतेभ्यो वितूर्या निर्गाऊपे यवमिव स्थिविभ्यः ।।3।।

(साध्वर्याः) अन्तरिक्ष-स्थित मेघ के साथ रहने वाले, (अतिथिनीः) सदा गतिशील, (इषिराः) प्रजा द्वारा इष्ट, (स्पार्हाः) तथा स्पृहणीय, (सुवर्णाः) स्वच्छ, और (अनवद्यरूपाः) पवित्र (गाः) गतिशील जलों को, (पर्वतेभ्यः) मेघों से (वितूर्य) काट कर, (बृहस्पतिः) महाब्रह्माण्ड के पति परमेश्वर ने (निर् ऊपे) पृथिवी पर उपजाऊ रूप में भेजा है । (इव) जैसे कि (स्थिविभ्यः) क्षेत्र-स्थलों से काट कर किसान (यवम्) जौ आदि अन्न देते हैं ।

[अतिथिनीः = अत् सातत्यगमने + इथिन्+ङी (स्त्रियाम्) । इषिराः = इषु इच्छायाम् । गाः = गमनशील जल (उणा० कोश, पाद 2, सूत्र 67 पर महर्षि दयानन्द) । स्थिविः = क्षेत्रस्थल ? । साध्वर्याः = अध्वर = अन्तरिक्ष (निघं० 1।3); अध्वर्य = अध्वरीय = अन्तरिक्षस्थ । साध्वर्याः = अन्तरिक्षस्थ मेघ के साथी ।]

आ प्रुषायन्मधुन ऋतस्य योनिमवक्षिपन्नर्क उल्कामिव द्योः ।
बृहस्पतिरुद्धरन्नश्मनो गा भूम्या उद्नेव वि त्वचं विभेद ।।4।।

(आ प्रुषायन्) पृथिवी को सम्यक् रूप से जल द्वारा स्निग्ध करते हुए (बृहस्पतिः) बृहस्पति ने (मधुनः) मधुर (ऋतस्य) जल के (योनिम्) उत्पादक मेघ को (अवक्षिपन्) नीचे पृथिवी पर ऐसे फैंका, (इव) जैसे कि (अर्कः) सूर्य (द्योः) द्युतिमान् आकाश से या द्युलोक से (उल्काम्) दधकते पत्थर को फैंकता है । तथा (अश्मनः) आकाश में फैले मेघ से (गाः) जलों का (उद्धरन्) उद्धार करते हुए बृहस्पति अर्थात् वायु ने (त्वचम्) मेघ की त्वचा को (बिभेद) काट दिया । (इव) जैसे (उद्नः) बैल (भूम्याः) हल द्वारा भूमि की, या अपने सींगों द्वारा भूमि की (त्वचम्) त्वचा को, ऊपर के स्तर को (वि बिभेद) काट देता है ।

अपज्योतिषा तमो अन्तरिक्षादुद्नः शीपालमिव वात आजत् ।
बृहस्पतिरनुमृश्या बलस्याभ्रमिव वात आ चक्र आ गाः ।।5।।

(बृहस्पतिः) बृहती-पृथिवी के अधिपति (वातः) वायु ने (वलस्य) घेरनेवाले मेघ की शक्ति को (अनुमृश्य) मानो जांचकर (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से (तमः) तमोभूत-मेघ को (अप आजत्) हटा दिया है । और (ज्योतिषा) सूर्य की ज्योति द्वारा प्रकाश प्रकट कर दिया है । वायु ने तमोभूत-मेघ को ऐसे हटाया है, (इव) जैसे कि (उद्नः) जलक्रीड़ा करता हुआ बैल, जल से (शीपालम्) शैवाल अर्थात् सेवार को हटा देता है । (वातः) वायु ने (इव) जैसे (अभ्रम्) मेघ को (आ चक्रे) पैदा किया था, वैसे ही उसने (गाः) मेघ से जलों को भी प्रकट कर दिया है।

यदा वलस्य पीयतो जसुं भेद बृहस्पतिरग्नितपोभिरर्कैः ।
दद्भिर्न जिह्वा परिविष्टमाददाविर्निधींरकृणोदुस्त्रियाणाम् ।।6।।

(यदा) जब (बृहस्पतिः) वायु (अग्नितपोभिः) अग्नि के समान परितप्त (अर्कैः) सूर्य-किरणों द्वारा (पीयतः) मानो जल को पी जाने-वाले अर्थात् न बरसाने वाले, और (वलस्य) आकाश को घेरनेवाले मेघ की

(जसुम्) हिंस्रवृत्ति को (भेद) विनष्ट कर देता है, तब (दद्भिः) दान्तों द्वारा (परिविष्टम्) घिरी (जिह्वा न) जिह्वा के समान, मेघ द्वारा घिरे जल को वायु, (आदत्) प्राप्त कर लेती है, और (उस्रियाणाम्) नदियों के (निधीन्) निधिास्वरूप जल को (आविः अकृणोत्) प्रकट कर देती है ।

बृहस्पतिरमत हि त्यदासां नाम खरीणां सदने गुहा यत् ।
आण्डेव भित्वा शकुनस्य गर्भमुदुस्त्रियाः पर्वतस्य त्मनाजत् ।।7।।

(बृहस्पतिः) वायु ने (संदने) अपने निवासस्थान अन्तरिक्ष में (यत् त्यत्) जो वह (आसां स्वरीणाम्) इन घोषपूर्वक बहती हुई नदियों का (नाम) जल (गुहा) छिपा पड़ा था, उसे (अमत) जान लिया । और उस ने (त्मना) निजशक्ति द्वारा (पर्वतस्य) मेघ के (गर्भम्) गर्भ को (भित्त्वा) छिन्न-भिन्न करके (उस्रियाः) नदियों को (आजत्) प्रकट कर दिया । (इव) जैसे कि (आण्डा) अण्डों को (भित्त्वा) तोड़कर (शकुनस्य) पक्षी के (गर्भम्) गर्भस्थ या गर्भभूत बच्चे को प्रकट किया जाता है ।

अश्नापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम् ।
निष्टज्जभार चमसं न वृक्षाद् बृहस्पतिर्विरवेणा विकृत्य ।।8।।

(बृहस्पतिः) बृहती-पृथिवी के अधिपति वायु ने (अश्ना पिनद्धम्) मेघ से बन्धे पड़े (मधु) मधुर-जल को (पर्यपश्यत्) जान लिया । (न) जैसे कि (दीने उदनि) अल्प जल में (क्षियन्तम्) पड़ी (मत्स्यम्) मछली को जान लिया जाता है । वायु ने (विरवेण) विशेष गरजनावाले विद्युद्-वज्र के द्वारा (विकृत्य) मेघ को काट कर (तत्) उस मधुर-ज़ल को (निर् जभार) निकाल लिया । (न) जैसे कि बढ़ई (वृक्षात्) वृक्ष को काट कर उस से (चमसम्) खान-पान के बर्तन निकाल लेता है, बना लेता है ।

सोषामविन्दत् स स्व1:सोअग्निं सो अर्केण वि बबाधे तमांसि ।
बृहस्पतिर्गोवपुषो वलस्य निर्मज्जानं न पर्वणो जभार ।।9।।

(सः) उस बृहस्पति अर्थात् वायु ने मेघ को काटने के पश्चात् (मन्त्र 8), (उषाम्) उषा को (अविन्दत्) प्राप्त कराया । (सः) उसने (स्वः) तपे सूर्य को प्राप्त कराया । (सः) उसने (अग्निम्) सौराग्नि को प्राप्त कराया । (सः) उसने मेघ के कारण उत्पन्न हुए (तमांसि) अन्धकारों का (अर्केण) सूर्य के द्वारा (विबबाधे) वध किया । (बृहस्पतिः) वायु ने (गोवपुषः) जलीय शरीरवाले (वलस्य) घेरा डाले मेघ के (पर्वणः) अङ्ग-प्रत्यङ्ग से (मज्जानं न) जलरूपी मज्जा को (निर् जभार) निकाल लिया।

हिमेव पर्णा मुषिता वनानि बृहस्पतिनाकृपयद् वलो गाः ।
अनानुकृत्यमपुनश्चकार यात् सूर्यामासा मिथ उच्चरातः ।।10।।

(हिमा इव) हेमन्त ऋतु द्वारा जैसे (वनानि) वनों के (पर्णा = पर्णानि) पत्ते (मुषिता = मुषितानि) मानो लूट लिये जाते हैं, वैसे (बृहस्पतिना) वायु ने (वलः = वलस्य) घेरा डालनेवाले मेघ के (गाः) जलों को (अकृपयत्) लूटकर उन पर मानो कृपा की । मेघ को वायु ने (अनानुकृत्यम्) घेरा डालने के कर्म को न कर सकने योग्य, और (अपुनः) पुनः घेरा डालने के अयोग्य (चकार) कर दिया । (यात्) तब से (सूर्यमासा = सूर्यामासौ) सूर्य और चन्द्रमस् (मिथः) साथ-साथ (उत् चरातः) आकाश में फिर उदित होने लगते हैं ।

अभि श्यावं न कृशनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन् ।
रात्र्यां तमो अदधुर्ज्योतिरहन् बृहस्पतिर्भिनदद्रिं विदद् गाः ।।11।।

NOTES

(न) जैसे (श्यावम्) श्याम वर्णवाले (अश्वम्) अश्व को (पितर:) उसके पालक स्वामी, (कृशनेभि:) अग्नि-सदृश चमकीली मणियों के हारों द्वारा (अपिंशन्) सुशोभित करते हैं, वैसे (पितर:) पालक-ऋतुओं ने (कृशनेभि: नक्षत्रेभि:) कृशानु-समान चमकते नक्षत्रों द्वारा (द्याम्) द्युलोक को (अपिंशन्) सुशोभित कर दिया है । पालक-ऋतुओं ने (रात्र्याम्) रात्री में (तम: अदधु:) अन्धकार को स्थापित किया है । और (अहन्) दिन में (ज्योति:) ज्योति को स्थापित किया है, जबकि (बृहस्पति:) वायु ने (अद्रिम्) मेघ को (भिनत्) छिन्न-भिन्न करके (गा:) जलों का (विदत्) प्राप्त किया ।

इदमकर्म नमो अभ्रियाय य: पूर्वीरन्वानोनवीति ।
बृहस्पति: स हि गोभि: सो अश्वै: स वीरेभि: स नृभिर्नो वयो धात् ।।12।।

हम उपासकों ने (इदं नम:) यह नमस्कार (अभ्रियाय) मेघों के भी स्वामी "बृहस्पति" तथा महाब्रह्माण्ड के स्वामी परमेश्वर के प्रति (अकर्म) किया है । (य:) जो परमेश्वर कि (पूर्वी:) पूर्वकालों से चली आई अनादि ऋचाओं का (अनु) निरन्तर प्रत्येक सृष्टि के आदि में (नोनवीति) बार-बार स्तवन करता है, उपदेश करता है । (स:) वह (बृहस्पति: हि) बृहस्पति ही (गोभि:) गौओं द्वारा, (स: अश्वै:) वह ही अश्वों द्वारा, (स: वीरेभि:) वह ही वीर सन्तानों द्वारा, (स: नृभि:) वह ही नेताओं द्वारा (न:) हमें (वय:) जीवन, दीर्घायु तथा अन्न (धात्) प्रदान करता है ।

सूक्त 17

1-11 **कृष्ण:**, 12 **वसिष्ठ:** । इन्द्र: । 1-10 जगती, 11-12 त्रिष्टुप् ।

अच्छा म इन्द्रं मतय: स्वर्विद: सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत ।
परि ष्वजन्ते जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये ।।1।।

(मे) मेरी (विश्वा:) सब प्रकार की (मतय:) मतियों ने (इन्द्रम्) परमेश्वर की (अच्छ) प्रत्यक्ष रूप में (अनूषत) स्तुतियां की हैं । मतियां जो कि (स्वर्विद:) सुख प्राप्त करातीं, (सध्रीची:) जो कि परमेश्वर के साथ विचरतीं, (उशती:) और परमेश्वर की ही कामना करती हैं । मेरी मतियां (परिष्वजन्ते) परमेश्वर का आलिङ्गन करती हैं । (यथा) जैसे कि (जनय:) पत्नियां (पतिम्) अपने-अपने पति का आलिङ्गन करती हैं । अर्थात् (शुन्ध्युं मर्य न) शुद्धाचारी मानुष-पति का आलिङ्गन करती हैं, वैसे ही मेरी मतियां (मघवानम्) ऐश्वर्यशाली परमेश्वर का आलिङ्गन करती हैं, (ऊतये) ताकि मेरी रक्षा हो सके ।

न घा त्वद्रिगप वेति मे मनस्त्वे इत् कामं पुरुहूत शिश्रय ।
राजेव दस्म निषदोऽधि बर्हिष्यस्मिन्त्सु सोमेवपानमस्तु ते ।।2।।

(पुरुहूत) हे बार-बार पुकारे गये परमेश्वर ! (मे) मेरा (मन:) मन (घ) निश्चय से (त्वत् रिक्) आप से अतिरिक्त (न अप वेति) अर्थात् आप से हट कर और कहीं नहीं जाता । वह मन (त्वे इत) आप में ही (कामम्) यथेच्छ (शिश्रिय) आश्रय पाता है । (दस्म) हे पाप-क्षयकारी दर्शनीय परमेश्वर ! आप (राजा इव) राजा के समान (बर्हिषि अधि) मेरे हृदयासन पर (निषद:) नितरां विराजिये । और (अस्मिन्) इस मेरे (सोमे) भक्तिरस में (ते) आप का (अवपानम्) रस-पान (अस्तु) हो ।

विषुवृदिन्द्रो अमतरुत क्षुधः स इद् रायो मघवा वस्व ईशते ।
तस्येदिमे प्रवणे सप्त सिन्धवो वयो वर्धन्ति वृषभस्य शुष्मिणः ।।3।।

(इन्द्रः) परमेश्वर (अमतेः) अज्ञान का, (उत) और (क्षुधः) क्षुधा का, (विषुवृत्) भिन्न-भिन्न प्रकार से निवारण करता है । (सः) वह (मघवा) ऐश्वर्यवान् (इद्) ही (रायः वस्वः) प्राकृतिक और आध्यात्मिक सम्पत्तियों का (ईशते) अधीश्वर है । (वृषभस्य) सम्पत्तियों की वर्षा करने वाले, और (शुष्मिणः) बलशाली (तस्य इत्) उस ही परमेश्वर की (प्रवणे) आज्ञा में वर्तमान (सप्त सिन्धवः) सात प्रकार की नदियां (वयः) प्राकृतिक और आध्यात्मिक अन्न की (वर्धन्ति) उत्पत्ति तथा वृद्धि करती हैं ।

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्तसिन्धवः ।
अनु क्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव ।। ऋ० 6।9।12 ।।

मन्त्र में 'काकुद' का अर्थ है-तालु । यथा-काकुदं ताल्वित्याचक्षते । जिह्वा = कोकुवा, सास्मिन् धीयते । जिह्वा कोकुवा कोकूयमाना वर्णान् नुदतीति वा, कोकूयतेर्वा स्याच्छब्दकर्मणः' (निरु० 5।4।27) ।]

वयो न वृक्षं सुपलाशमासदन्त्सोमास इन्द्रं मन्दिनश्चमूषदः ।
प्रैषामनीकं शवसा दविद्युतद् विदद् स्व1र्मनवे ज्योतिरार्यम् ।।4।।

(न) जैसे (वयः) पक्षी (सुपलाशं वृक्षम्) उत्तम-पत्तोंवाले वृक्ष पर (आसदन्) आ बैठते हैं , वैसे (मन्दिनः) हर्षदायक (चमूषदः) भूलोक और द्युलोकव्यापी (सोमासः) भक्तिरस (इन्द्रम्) परमेश्वर में (आसदन्) आकर स्थित हो जाते हैं । (एषाम्) इन भक्तिरसों की (अनीकम्) प्राणदायिनी शक्ति, (शवसा) अपने-अपने पूर्ण बल में (प्रदविद्युतत्) प्रद्योतित हो रही है, चमक रही है । और इस प्राणदायिनी शक्ति ने (मनवे) मनुष्य के लिये (स्वः) सुख और (आर्यं ज्योतिः) परमेश्वरीय ज्योति (विदत्) प्राप्त कराई है ।

कृतं न श्वघ्नी वि चिनोति देवने संवर्गं यन्मघवा सूर्यं जयत् ।
न तत् ते अन्यो अनुवीर्यं शकन्न पुराणो मघवन् नोत नूतनः ।।5।।

(जयत्) दुष्कर्मों पर विजय पाता हुआ मनुष्य (श्वघ्नी) भविष्य में शुभ्र दिनों की प्राप्ति करता हुआ, (न) जैसे (कृतम्) सुकृतकर्मों का (वि चिनोति) विनिश्चय करता है, या विशेष चयन करता है, इसी प्रकार अन्धकार पर (जयत्) विजय पाता हुआ (मघवा) ऐश्वर्यशाली परमेश्वर (यत्) जो (संवर्गम्) अन्धकार का सम्यक् वर्जन करनेवाले (सूर्यम्) सूर्य को साधनरूप में विनिश्चित करता है, हे परमेश्वर ! (तत्) उस (ते) आप के विनिश्चय और तत्सम्बन्धी (वीर्यम्) सामर्थ्य की (अनु) अनुकृति, (अन्यः न शकत्) अन्य कोई नहीं कर सकता । (मघवन्) हे ऐश्वर्यशाली परमेश्वर ! (न पुराणः) न कोई पुराना व्यक्ति, और (न उत नूतनः) न कोई नया व्यक्ति।

विशंविशं मघवा पर्यशायत जनानां धेना अवचाकशद् वृषा ।
यस्याह शक्रः सवनेषु रण्यति स तीव्रैः सोमैः सहते पृतन्यतः ।।6।।

(विशंविशम्) प्रत्येक प्रजाजन में (मघवा) ऐश्वर्यशाली परमेश्वर (पर्यशायत) पूर्णतया व्याप्त है । (वृषा) आनन्दरसवर्षी परमेश्वर (जनानाम्) प्रजाजनों की (धेनाः) बोलियों और बातचीत को (अवचाकशत्) जान रहा होता है । (शक्रः) शक्तिशाली परमेश्वर, (यस्य अह) जिस किसी उपासक के (सवनेषु) भक्तिरसों में (रण्यति) रमण करता है, उन्हें प्रसन्नता पूर्वक चाहता है । (सः) वह उपासक (तीव्रः सोमैः) अपने वेगवान् भक्तिरसों द्वारा (पृतन्यतः) कामादि की सेना को (सहते) पराभूत कर देता है ।

आपो न सिन्धुमभि यत् समक्षरन्त्सोमास इन्द्रं कुल्याइव ह्रदम् ।
वर्धन्ति विप्रा महो अस्य सादने यवं न वृष्टिर्दिव्येन दानुना ।।7।।

NOTES

(आप:) नदियों के जल (न) जैसे (सिन्धुम् अभि) समुद्र की ओर (यत्) जब (समक्षरन्) मिलकर बहते हैं, तथा (कुल्या:) नालियां (इव) जैसे (ह्रदम्) तालाब की ओर बहती हैं, वैसे ही (सोमास:) सब भक्तिरस (इन्द्रम्) परमेश्वर की ओर बहते हैं। (सादने) हृदय-सदन में परमेश्वर के स्थित हो जाने पर (विप्रा:) मेधावी उपासक (अस्य) इस परमेश्वर की (मह:) महिमा को (वर्धन्ति) बढ़ाते हैं । (न) जैसे कि (दिव्येन दानुना) परमेश्वर के दिव्य दान द्वारा (वृष्टि:) वर्षा (यवम्) जौ आदि को बढ़ाती है ।

वृषा न क्रुद्ध पतयत् रजः स्वा यो अर्यपत्नरिकृणोदिमा अपः ।
स सुन्वते मघवा जीरदानवेऽविन्दुज्ज्योतिर्मनवे हविष्मते ।।8।।

(य:) जिस परमेश्वर ने (स्वा:) अपने (इमा:) इन (अर्यपत्नी:) परमेश्वर द्वारा पालित (अप:) सात प्राणों को (अकरोत्) रचा है, उसने ही अब (रज:) इन प्राणों के रजोगुणों को (पतयत्) गिरा दिया है, हटा दिया है । (न) जैसे कि (क्रुद्ध:) क्रुद्ध हुआ (वृषा) बैल (रज:) मिट्टी को उखाड़ फैंकता है । (सुन्वते) भक्तिरस से सम्पन्न, (हविष्मते) भक्तिरस को हविरूप में लिये हुए, (जीरदानवे) और शीघ्रता से इस हवि को समर्पित कर देने वाले (मनवे) मननशील उपासक के लिये (स: मघवा) वह ऐश्वर्यशाली परमेश्वर (ज्योति:) अपनी ज्योति (अविदत्) प्रकट कर देता है।

उज्जायतां परशुर्ज्योतिषा सह भूया ऋतस्य सुदुघा पुराणवत् ।
विरोचतामरुषो भानुना शुचिः स्वर्ण शुक्रं शुशुचीत सत्पतिः ।।9।।

हे उपासक ! (ज्योतिषा सह) परमेश्वरीय ज्योति के साथ-साथ (परशु:) तेरा परशु भी (उद् जायताम्) ऊँचा उठे । तू (पुराणवत्) प्राचीन अर्थात् अनादिकाल के ऋषियों की तरह (ऋतस्य) सच्चाई का (सुदुघा) सुगमता से दोहने वाला (भूया:) हो जा । ताकि (भानुना) परमेश्वरीय-प्रभा द्वारा तू (अरुष:) चमकता हुआ (विरोचतम्) खूब अधिक चमके । और (सत्पति:) सच्चा-पति परमेश्वर तुझे (स्व: न) सूर्य के समान (शुचि:) पवित्र तथा (शुक्रं शुशुचीत) ज्योतिर्मय रूप में चमका दे ।

गोभिष्ट्रेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पूरुहूत विश्वाम् ।
वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम ।। 10 ।।

(गोभि:) वेदवाणियों द्वारा हम (दुरेवाम्) दुष्परिणामी (अमतिम्) कुमति को (तरेम) दूर करें । तथा गोओं के सात्विक दूध द्वारा मति की हीनता को दूर करें । और (यवेन) जौ आदि सात्विक अन्नों द्वारा (विश्वां क्षुधम्) सब प्रकार की क्षुधा को दूर करें । तथा (वयम्) हम उपासक (राजभि:) योगिराजों की सहायता द्वारा, तथा (अस्माकेन वृजनेन) निज शक्तियों द्वारा (प्रथमा धनानि) श्रेष्ठ आध्यात्मिक-धनों पर (जयेम) विजय पायें । [मन्त्र में अभ्यासियों के लिए वेदस्वाध्याय तथा सात्विक खान-पान का विधान किया है ।]

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः ।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु ।।11।।

(बृहस्पति:) बृहती-वेदवाणी का आचार्य, तथा (इन्द्र:) परमेश्वर (पश्चात्) पश्चिम से, (उत) और (उत्तरस्मात्) उत्तर से, (अधरात्) दक्षिण से (पुरस्तात्) पूर्व से, (उत) और (मध्यत:) मध्यभाग से, हम पर

ऋाक्रमण करने वाले ऋौर (ऋघायो:) हमारी हत्या चाहनेवाले पापों से (न:) हमारी (परिपातु) पूर्णतया रक्षा करें । ऋौर बृहस्पति तथा इन्द्र, इनमें से प्रत्येक (सखा) हमारा सखा बनकर (न: सखिभ्य:) हम सखाऋों के लिए (वरिव:) ऋाध्यात्मिक-धन (कृणोतु) सम्पन्न करे ।

NOTES

बृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्वो दिव्यस्येशाथे उत पार्थिवस्य ।
धत्तं रयिं स्तुवते कीरये चिद् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ।।12।।

(बृहस्पते) हे बृहती-वेदवाणी के ऋाचार्य ! (च इन्द्र:) और परमेश्वर ! (युवम्) ऋाप दोनों, (दिव्यस्य) आध्यात्मिक (उत) ऋौर (पार्थिवस्य) प्राकृतिक (वस्व:) धनों के (ईशाथे) ऋधीश्वर हैं । ऋाप दोनों (स्तुवते) स्तुति करनेवाले (कीरये) स्तोता को (रयिम्) आध्यात्मिक ऋौर प्राकृतिक दोनों प्रकार के ऐश्वर्य (धत्तम्) प्रदान कीजिये । (यूयम्) हे सब दिव्य शक्तियो ! तुम सब मिलकर (न:) हम उपासकों की (सदा पात) सदा रक्षा करते रहो, (स्वस्तिभि:) कल्याणमयी विधियों द्वारा ।

दूसरा ऋनुवाक समाप्त ।।

सूक्त 18

1—3 मेधातिथिः प्रियमेधश्च; 4—6 वसिष्ठः । इन्द्रः । गायत्री ।

वयमु त्वा तदिदर्था इन्द्र त्वायन्तः सखायः ।
कण्वा उक्थेभिर्जरन्ते ।।1।।

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (कण्वा:) समाधि में निमीलितनेत्र योगी (त्वायन्त:) आपको चाहते हुए (उक्थेभि:) ऋपनी प्रशंसनीय स्तुतियों से (त्वा) ऋापकी (जरन्ते) सदा स्तुति करते रहते हैं । (तद् इद् ऋर्था:) यह ही उनकी ऋभ्यर्थना है । उसी प्रकार (वयम् उ त्वा) हम लोग भी आपको ही चाहते हैं, और (सखाय:) ऋपनी स्तुतियों के द्वारा ऋापके मित्र बनना चाहते हैं । [कण्वा: = कण निमीलने । कणति निमीलति ऋसौ कण्व: । (उणादि. 1/151) ।]

न घेमन्यदा पपन् वजिन्नपसो नविष्टौ ।
तवेदु स्तोमं चिकेत ।।2।।

(वज्रिन्) हे न्यायवज्रधारी ! (ऋपस:) कर्मयोग या क्रियायोग सम्बन्धी (नविष्टौ) स्तुति-यज्ञ में (ऋन्यत्) मैं ऋापसे भिन्न किसी की (न घ ईम्) कभी भी नहीं (ऋा पपन) स्तुति करता हूं । ऋोर (स्तोमम्) स्तुति-मन्त्रों द्वारा मैं (तव इत् उ) ऋापकी ही (चिकेत) स्तुति करना जानता हूं ।

इच्छन्ति देवाः सुन्वतं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति ।
यन्ति प्रमादमतन्द्राः ।।3।।

(देवा:) देव लोग (सुन्वन्तम्) भक्ति रसवाले उपासक को (इच्छन्ति) चाहते हैं, (स्वप्नाय) सोने वाले को (न स्पृहयन्ति) नहीं चाहते । देवलोग (ऋतन्द्रा) निद्रा और सुस्ती से ऋलग होते हैं । वे (प्रमादम्) भक्तिरस की उग्र मस्तीवाले को, उसकी सहायता के लिये (यन्ति) सदा प्राप्त होते हैं ।

वयमिन्द्र त्वायवोऽभि प्र णोनुमो वृषन् ।
विद्धी त्व१स्य नौ वसो ।।4।।

NOTES

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (वयम्) हम उपासक (त्वायव:) केवल आपकी प्राप्ति के अभिलाषी हैं । (वृषन्) हे आनन्दरसवर्षी ! (अभि) साक्षात् (प्र नोनुम:) हम आपकी उत्कृष्ट-स्तुतियाँ करते हैं । (वसो) हे सर्वत्र वसनेवाले ! (अस्य) इस मेरी, और (न:) हम सब की स्तुतियों को आप (विद्धि तु) जानिये ।

मा नो विदे च वक्तवेऽर्यो रन्धीरराव्णे ।
त्वे अपि क्रतुर्मम ।।5।।

(अर्य:) हे परमेश्वर ! आप सर्वाधीश हैं । (निदे) आपकी निन्दा करनेवाले, (च) और (वक्तवे) बकवासी, तथा (अराव्णे) अदानी के (रन्धी: मा न:) वश में हमें न कीजिये । (मम) मुझ उपासक के (क्रतु:) कर्म और प्रज्ञायें (अपि) भी (त्वे) आपके प्रति समर्पित हैं ।

त्वं वर्मासि सप्रथः पुरोयोधश्च वृत्रहन् ।
त्वया प्रति ब्रुवे युजा ।।6।।

(त्वम्) हे परमेश्वर ! आप (वर्म असि) हमारी कवच हैं, आभ्यन्तर शत्रुओं को आप ही निवारित करते हैं । (वृत्रहन्) हे पापों का हनन करनेवाले ! (च) और (पुरोयोध:) हमारे सामने उपस्थित पापों के साथ आप ही युद्ध करते हैं । (त्वया युजा) आपके सहयोग द्वारा मैं (प्रतिब्रुवे) पापों को फटकार देता हूँ ।

सूक्त 19

1—7 विश्वामित्रः । इन्द्रः । गायत्री ।

वार्त्रहत्याय शवसे पृतनाषाह्याय च ।
इन्द्र त्वा वर्तयामसि ।।1।।

(वार्त्रहत्याय) पाप-वृत्रों के हनन के लिये, (शवसे) इस निमित्त आप से बल की प्राप्ति के लिये (च) और (पृतनाषाह्याय) कामादि की समग्र सेना के पराभव के लिये, (इन्द्र) हे परमेश्वर ! हम (त्वा) आप को (वर्तयामसि) अपनी ओर प्रवृत्त करते हैं ।

अर्वाचीनं सु ते मन उत चक्षुः शतक्रतो ।
इन्द्र कृण्वन्तु वाघतः ।।2।।

(शतक्रतो) हे सर्वशक्तिमन् या सैकड़ों अद्भुत कर्मोवाले ! (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (वाघत:) उपासना-यज्ञ के ऋत्विक् (ते) आप के (मन:) मन को (उत) और (चक्षु:) आप की कृपादृष्टि को (अर्वाचीनम्) हमारी ओर अर्थात् हम शिष्य उपासकों की ओर (सु) सुगमतापूर्वक (कृण्वन्तु) कर दें । अर्थात् वे ऋत्विक् हमें साधना मार्ग पर प्रेरित करें । ताकि आप की कृपादृष्टि हम नव-उपासकों की ओर भी हो सके ।

नामानि ते शतक्रतो विश्वाभिर्गीर्भिरीमहे ।
इन्द्राभिमातिषाह्ये ।।3।।

(शतक्रतो) हे विश्वकर्मन या सैंकड़ों अद्भुत कर्मोंवाले ! (विश्वाभि:) सब (गीर्भि:) वैदिक-स्तुतिवाणियों द्वारा (ते) आप के ही (नामानि) नाना नामों का (ईमहे) हम कीर्त्तन करते हैं । (इन्द्र) हे परमेश्वर ! ताकि हम (अभिमातिषाह्ये) स्वाभिमानों को पराभव कर सकें ।

पुरुष्टुतस्य धामभिः शतेन महयामसि ।
इन्द्रस्य चर्षणीधृतः ।।4।।

(पुरुष्टुतस्य) बहुत नामों द्वारा स्तुति पाए, (चर्षणीधृत:) तथा समग्र प्रजा का धारण-पोषण करनेवाले, (इन्द्रस्य) परमेश्वर के (शतेन) सैंकड़ों (धामभि:) नामों द्वारा (महयामसि) उस महिमा का हम स्तवन करते हैं । (धामभि: = नामभि: । यथा "धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानि" (निरु. 9/1/27) ।]

इन्द्रं वृत्राय हन्तवे पुरुहूतमुप ब्रुवे ।
भरेषु वाजसातये ।।5।।

(भरेषु) देवासुर-संग्रामों में (वाजसातये) बल-प्राप्ति के लिये, (वृत्राय हन्तवे) तथा पाप-वृत्रों हे हनन के लिये (पुरुहूतम्) नाना नामों द्वारा पुकारे गए (इन्द्रम), परमेश्वर को (उप) उपासनाविधि द्वारा (ब्रुवे) मैं कहता हूं कि—

वाजेषु सासहिर्भव त्वामीमहे शतक्रतो ।
इन्द्र वृत्राय हन्तवे ।।6।।

(शतक्रतो) हे सैंकड़ों अद्भुत कर्मोंवाले (इन्द्र) परमेश्वर ! (वाजेषु) देवासुर-संग्रामों में आसुरभावों और आसुरकर्मों का आप (सासहि: भव) पूर्णतया पराभव कीजिये । (वृत्राय हन्तवे) आसुरी पापों के हनन के लिये (त्वाम्) आप से (ईमहे) याचना करते हैं ।

द्युम्नेषु पृतनाज्ये पृत्सुतूर्षु श्रवःसु च ।
इन्द्र साक्ष्वाभिमातिषु ।।7।।

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (द्युम्नेषु) योगज विभूतिरूपी धनों की प्राप्ति के निमित्त, (पृतनाज्ये) मनुष्य जिनमें घृताहुति के रूप में आहुत हुए जा रहे हैं, ऐसे देवासुर संग्राम के निमित्त, (पृत्सुतूर्षु) देवासुर-संग्रामों में असुरों की हिंसा के निमित्त, (च श्रव:सु) और देवासुर-संग्रामों में विजय-यज्ञों की प्राप्ति के निमित्त, तथा (अभिमातिषु) अभिमान की भावनाओं के जागरित हो जाने पर (साक्ष्व) आप हमें सहायकरूप में प्राप्त हूजिये ।

सूक्त 20

1—4 विश्वामित्रः, 5—7 गृत्समदः । इन्द्रः । गायत्री ।

शुष्मिन्तमं न ऊतये द्युम्निनं पाहि जागृविम् ।
इन्द्र सोमं शतक्रतो ।।1।।

(शतक्रतो इन्द्र) हे सैंकड़ों ऋद्भुत कर्मोंवाले परमेश्वर ! (शुष्मिन्तमम्) ऋतिबलशाली, (द्युम्निनम्) यश:प्रदायी, (जागृविम्) तथा सदा जागरूक (सोमम्) हमारे भक्तिरस की (पाहि) ऋाप रक्षा कीजिये । (न ऊतये) ताकि हमारी रक्षा हो सके ।

NOTES

इन्द्रियाणिं शतक्रतो या ते जनेषु पञ्चसु ।
इन्द्र तानिं त आ वृणे ।।2।।

(शतक्रतो इन्द्र) हे सैकड़ों ऋद्भुत कर्मोंवाले परमेश्वर ! (पञ्चसु) विस्तृत (जनेषु) प्रजाजनों में (या ते इन्द्रियाणि) ऋापने जो इन्द्रियां प्रदान की हुई हैं, (तानि) वे बनी रहें । (ते) ऋाप से यह वर (ऋा वृणे) मैं मांगता हूँ । तथा पांच जनक-तत्त्वों ऋर्थात् पृथिवी ऋप् तेज वायु ऋाकाश में जो ऋाप की शक्तियां हैं, वे मेरे शारीरिक पांच तत्त्वों में बनी रहें । यह वर मैं ऋाप से मांगता हूं ।

अगन्निन्द्र श्रवो बृहद् द्युम्नं दधिष्व दुष्टरम् ।
उत ते शुष्मं तिरामसि ।।3।।

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! ऋाप की कृपा से (बृहद् श्रव:) महायश (अगन्) हमें मिला है । आप हम में (द्युम्नम्) ऐसा ऋाध्यात्मिक-धन (दधिष्व) स्थापित कीजिये, (दुष्टरम्) कि ऋासुरीभाव उसे दबा न सकें, जो कि उनके लिये दुर्लङ्घ्य हो । (उत) तदनन्तर (ते) ऋाप के दिये (शुष्मम्) बल को (तिरामसि) हम ऋौर ऋधिक बढ़ाते हैं ।

अर्वावतो न आ गह्यथो शक्र परावतः ।
उ लोकों यस्ते अद्रिव इन्द्रेह तत आ गहि ।।4।।

(अर्वावत:) अवरा अर्थात् ऋपरा विद्यावाले (न:) हम उपासकों को (शक्र) हे शक्तिशालिन् ! (ऋा गहि) ऋाप प्राप्त हूजिये । (ऋथ उ) ऋौर (परावत:) पराविद्यावाले हम उपासकों को ऋाप प्राप्त हूजिये । (अद्रिव: इन्द्र) हे पाप-भक्षी परमेश्वर ! (य:) जो (ते) ऋाप का (उ) वह ऋज्ञातरूप (लोक:) तुरीयावस्था का लोक है, (तत:) वहां से (इह) इस मेरे हृदय में (आ गहि) ऋा विराजिये।

इन्द्रो अङ्ग महद् भयमभी षदप चुच्यवत् ।
स हि स्थिरो विचर्षणिः ।।5।।

(ऋङ्ग) हे प्रिय उपासक ! (इन्द्र:) परमेश्वर (महद् भयम्) महाभयस्वरूप है । (ऋभिषद्) वह सर्वाधिष्ठाता है, और (ऋप चुच्यवत्) सर्व-पराभवी है । (स: हि) वह ही (स्थिर:) एक स्थिर ऋर्थात् एकरस कूटस्थ है । (विचर्षणि:) विविध जगत् का द्रष्टा है ।

इन्द्रश्च मृलयाति नो न नः पश्चादघं नशत् ।
भद्रं भवाति नः पुरः ।।6।।

(इन्द्र:) परमेश्वर (न:) हमें जब (मृलयाति) सुखी कर देता है, ऋानन्दरस द्वारा ऋानन्दित कर देता है, (पश्चात्) तत्पश्चात् (न:) हमें (ऋधम्) पाप (न नशत्) नहीं प्राप्त होता । क्योंकि (न:) हमारे (पुर:) सामने वह परमेश्वर (भद्रं भवति) सदा सुखदायी ऋौर कल्याणकारी रूप में रहता है ।

NOTES

इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत् ।
जेता शत्रून् विचर्षणिः ।।7।।

(इन्द्रः) वह परमेश्वर (सर्वाभ्यः) सब (आशाभ्यः परि) दिशाओं से (अभयम्) हमें भयरहित (करत्) कर देता है । वह (शत्रून्) हमारे सब शत्रुओं पर (जेता) विजय पाए हुए है । (विचर्षणिः) वह विविध जगत् का द्रष्टा है।

सूक्त 21

1—11 सव्यः । इन्द्रः । 1—9 जगती; 10—11 त्रिष्टुप् ।

न्यू३षु वाचं प्र महे भरामहे गिर इन्द्राय सदने विवस्वतः ।
नू चिद्धि रत्नं ससतामिवाविदन्न दुष्टुतिर्द्रविणोदेषु शस्यते ।।1।।

(विवस्वतः) सूर्य के (सदने) सदन अर्थात् पृथिवीलोक में रहते हुए हम उपासक, (महे इन्द्राय) महान् परमेश्वर के प्रति (वाचम्) अपने स्तुतिवचन और (गिरः) वैदिक स्तुतिवचन (नि) नितरां तथा (सु) उत्तम-विधि ा से (प्र भरामहे) भेंट करते हैं । (नु चित् हि) निश्चय से ही वह परमेश्वर उन सुस्त उपासक व्यक्तियों की (रत्नम्) आध्यात्मिक-सम्पत्तियों को (अविदत्) हर लेता है । (इव) जैसे कि वह (ससताम्) स्वप्नशील अनुद्यमी व्यक्तियों की प्राकृतिक सम्पत्तियों को हर लेता है । (दुष्टुतिः) अवधिपूर्वक की गई स्तुति दुःस्तुति है, वह (द्रविणोदेषु) सर्वस्व समर्पित करनेवाले उपासकों में (न शस्यते) प्रशंसित नहीं है ।

दुरो अश्वस्य दुर इन्द्र गोरसि दुरो यवस्य वसुन इनस्पतिः ।
शिक्षानरः प्रदिवो अकामकर्शनः सखा सखिभ्यतमिदं गृणीमसि ।।2।।

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! आप (अश्वस्य) अश्व या मन की प्राप्ति के (दुरः) द्वार (असि) हैं, साधन हैं । आप (गोः) गौओं या इन्द्रियों की प्राप्ति के (दुरः) द्वार हैं । आप (यवस्य) जौ आदि अन्न तथा (वसुनः) सब प्रकार के ऐश्वर्यों की प्राप्ति के (दुरः) द्वार हैं । (इनस्पतिः) आप सब के स्वामी तथा पालक हैं । हे परमेश्वर ! आप (शिक्षानरः) वैदिक शिक्षाओं के नेता हैं, (प्रदिवः) आप पुराण पुष हैं, (अकामकर्शनः) कामनाओं वशवर्ती नहीं हैं । आप (सखिभ्यः) उपासक सखाओं के लिये (सखा) सखा हैं । (तम्) उस आप के प्रति (इदम्) इस सब कुछ को (गृणीमसि) हम अर्चनारूप में भेंट करते हैं ।

शचीव इन्द्र पुरुकृद् द्युमत्तम तवेदिदमभितश्चेकिते वसु ।
अतः संगृभ्याभिभूत आ भर मा त्वायतो जरितुः काममूनयीः ।।3।।

(शचीव) हे प्रज्ञा-वाणी-सत्कर्मों के स्वामिन् ! (पुरुकृत्) हे सुखों से भरपूर जगत् के कर्त्ता ! तथा (द्युमत्तम इन्द्र) हे सर्वातिशायी द्युति से सम्पन्न परमेश्वर ! (अभितः) सब ओर समक्षरूप में (इदम्) ये (वसु) विभूतियाँ जो (चेकिते) दृष्टिगोचर हो रही हैं, वे (तव) आपकी हैं । (अभिभूते) हे सर्वत्र सत्तावाले ! (अतः) इन विभूतियों में से कतिपय विभूतियों का (संगृभ्य) संग्रह करके (आभर) मुझे प्रदान कीजिए । (त्वायतः) आपको चाहनेवाले (जरितुः) आप के स्तोता की (कामम्) कामना को (मा ऊनयीः) न्यून न कीजिये, असफल न कीजिये ।

एभिर्द्युभिः सुमना ऐभिरिन्दुभिर्निरुन्धानो अमतिं गोभिरश्विना ।
इन्द्रेण दस्युं दरयन्त इन्दुभिर्युतद्वेषसः समिषा रभेमहि ।।4।।

हे उपासक ! (एभिः) इन (द्युभिः) ज्ञान से द्योतमान (गोभिः) वेदवाणियों द्वारा तू (सुमनाः) अपने मन को स्वच्छ कर । और (एभिः) इन (इन्दुभिः) सरस (गोभिः) वेदवाणियों द्वारा तू (अमतिम्) अपने अज्ञान को (निरुन्धानः) निरुद्ध कर, हटा । हम सब उपासक (अश्विना) कालाश्व के अधिष्ठाता (इन्द्रेण) परमेश्वर की सहायता द्वारा, तथा (इन्दुभिः) सरस वेदवाणियों द्वारा (दस्युम्) उपक्षयकारी काम आदि को (दरयन्तः) विदीर्ण करते हुए, (युतद्वेषसः) तथा द्वेष भावनाओं से पृथक् रहते हुए, (सम्) सब मिलकर (इषा) परमेश्वरीयेच्छा के अनुकूल (रभेमहि) सत्कार्यों में प्रयत्न करते रहें ।

समिन्द्र राया समिषा रभेमहि संवाजेभिः पुरुश्चन्द्रैरभिद्युभिः ।
संदेव्या प्रमत्या वीरशुष्मया गोअग्रयाश्वावत्या रभेमहि ।।5।।

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (राया) योगज-विभूति को प्राप्त करके (सम् रभेमहि) हम इकट्ठे होकर सत्कर्मों में प्रवृत्त हों । (इषा) आपकी इच्छा के अनुसार (सम्) हम इकट्ठे होकर सत्कर्मों में प्रवृत्त हों । (वाजेभिः) आध यात्मिक बलों की प्राप्ति द्वारा, तथा (पुरुश्चन्द्रैः) बहुत चमकते (अभिद्युभिः) दिव्य प्रकाशों की प्राप्ति के द्वारा (सम्) हम मिल कर सत्कर्मों में प्रवृत्त हों । (देव्या) दिव्य तथा (वीरशुष्मया) धर्मवीरों के बलों से सम्पन्न, तथा (गोअग्रया) वाणियों में सर्वाग्रणी वेदवाणियों से सम्पन्न, और (अश्वावत्या) अश्व अर्थात् मानसिक बल से सम्पन्न (प्रमत्या) सन्मति से प्रेरित होकर (सम्) हम मिलकर (रभेमहि) सत्कर्मों को आरम्भ करें ।

तेत्वा मदा अमदन् तानि वृष्ण्याते सोमासो वृत्रहत्येषु सत्पते ।
यत् कारवे दश वृत्राण्यप्रति बर्हिष्मते नि सहस्राणिबर्हयः ।।6।।

(सत्पते) हे सच्चे पति ! (ते) उन हमारी भक्ति की (मदाः) मस्तियों ने (तानि) उन (वृष्ण्या) हमारे भक्तिरसवर्षी कर्मो ने, तथा (ते) उन हमारे (सोमासः) भक्तिरसों ने (वृत्रहत्येषु) हमारे पाप-वृत्रों के हनन कार्यो में (त्वा) आपको (अमदन्) प्रसन्न कर दिया है । (बर्हिष्मते) क्योंकि पापों की जड़ काटने में लगे हुए (कारवे) स्तुतिकर्ता उपासक के, (सहस्राणि) अति प्रबल (दश वृत्राणि) 10 पापों को (अप्रति) बिना विरोध के, अर्थात् आसानी से (यत्) जो आपने (नि बर्हयः) काट दिया है ।

युधायुधमुप घेदेषि धृष्णुया पुरापुरं समिदं हंस्योजसा ।
नम्या यदिन्द्र सख्या परावति निबर्हयो नमुचिं नाम मायिनम् ।।7।।

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (युधा) देवासुर-संग्राम में युद्ध करनेवाले (धृष्णुया) हठीले कामादि के साथ (युधम्) युद्ध करना, आप (उप एषि) स्वीकार कर लेते हैं । (घ इत्) अवश्य ही स्वीकार कर लेते हैं । और (पुरा) अनादिकाल से (इदं पुरम) कामादि की इस पुरी को (ओजसा) निज ओज द्वारा (सम् हंसि) आप सम्यक् प्रकार से हनन कर देते हैं । (यद्) जबकि आप (नम्या) रात्रिकाल में (सख्या) निज सखिभाव के कारण (परावति) पराविद्यावाले उपासक में स्थित (नमुचिम्) और उसे न छोड़नेवाले (मायिनं नाम) प्रसिद्ध मायावी अर्थात् छल-कपट से युक्त कामादि की (निबर्हयः) जड़ काट देते हैं ।

त्वं करञ्जमुत पर्णयं वधीस्तेजिष्ठयातिथिग्वस्य वर्तनी ।
त्वं शता वङ्गृदस्याभिनत् पुरोऽनानुदः परिषूता ऋजिश्वना ।।8।।

(अतिथिग्वस्य) जिनके आगमन की कोई नियत तिथि नहीं, ऐसे योगीराजों की सेवा के लिये उनके प्रति गमन करने वाले उपासक की (तेजिष्ठया) तीव्र संवेगवाली (वर्तनी) चित्तवृत्ति तथा उसके व्यवहार द्वारा, हे परमेश्वर ! आपने उसके (करञ्जम्) बैषयिक-सुखों में मनोरन्जन का, तथा (पर्णयम्) पत्ते के सदृश चञ्चल चेष्टाओं का (वधीः) वध कर दिया है, विनाश कर दिया है । (ऋजिश्वना) ऋजु अर्थात् सत्यमार्ग पर चलने वाले मनरूपी अश्ववाले उपासक द्वारा (परिषूताः) धकेल दी गई, (अनानुदः) और पुनः प्रेरणा प्रदान की शक्ति से रहित, (वङ्गृदस्य) कुटिल गतियों = वक्र गतियों के प्रदाता कामादि के (शता पुरः) सेकड़ों गढ़ों को (त्वम्) हे परमेश्वर ! आपने (अभिनत्) तोड़-फोड़ दिया है ।

त्वमेतां जनराज्ञो द्विर्दशाबन्धुना सुश्रवसोपजग्मुषः ।
षष्टिं सहस्रा नवतिं नव श्रुतो नि चक्रेण रथ्या दुष्पदावृणक् ।।9।।

(अबन्धुना) सांसारिक तथा बन्धु-बान्धवों के बन्धन से रहित, (सुश्रवसा) वैदिक सदुपदेशों से सम्पन्न, (जनराज्ञः) उत्पन्न शरीर के राजा जीवात्मा को (उपजग्मुषः) प्राप्त हुए, (द्विः दश) 5 ज्ञानेन्द्रियों, 5 कर्मेन्द्रियों तथा 5 स्थूलभूतों, 5 सूक्ष्मभूतों को, तथा जन्म-जन्मान्तरों से (षष्टिं सहस्रा) सोए पड़े हजारों संस्कारों को, और (नवतिं नव) एक वर्ष मातृगर्भ में तथा 99 वर्ष तदुपरान्त, इस प्रकार वर्तमान जीवन के 100 वर्षो में संचित हुए (एतान्) इन संस्कारों को, (त्वम्) हे परमेश्वर ! आपने (नि अवृणक्) नितरां कुचल दिया है, जैसे कि (दुष्पदा) दुर्गति प्राप्त करने वाले (रथ्या चक्रेण) रथ के चक्र द्वारा वस्तु कुचल दी जाती है ।

त्वमाविथ सुश्रवसं तवोतिभिस्तव त्रामभिरिन्द्र तूर्वयाणाम् ।
त्वमस्मै कुत्समतिथिग्वमायुं महे राज्ञे यूने अरन्धनायः ।।10 ।।

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (त्वम्) आपने (तव ऊतिभिः) अपने रक्षा-साधनों द्वारा, तथा (तब त्रामभिः) अपनी पालक शक्तियों द्वारा, (सुश्रवसम्) वैदिक सदुपदेशों से सम्पन्न, तथा (तूर्वयाणम्) अपने शरीर- रथ को योगमार्ग पर शीघ्र चलाने वाले उपासक की (आविथ) सदा रक्षा की है । (महे) महाशक्तिवाले, (राज्ञे) शरीर इन्द्रियों मन तथा बुद्धि के राजा, (यूने) सदा युवा (अस्मै) इस जीवात्मा के लिये (त्वम्) आपने (कुत्सम् आयुम्) अविद्यामूलोच्छेदक मनुष्यशरीरधारी महायोगी को, तथा (अतिथिग्वम्) अतिथिरूप में प्राप्त होने वाले सद्गुरु के सेवक को (अरन्धनायः) उसके वशीभूत कर दिया है ।

य उदृचीन्द्र देवगोपाः सखायस्ते शिवतमा असाम ।
त्वां स्तोषाम त्वया सुवीरा द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ।।11।।

(उदृचि) उच्च-स्वरों की स्तुतियों में, (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (ये) जो हम (ते) आप के (सखायः) सखा उपासक, (देवगोपाः) आप देव द्वारा सुरक्षित हुए-हुए, (शिवतमाः) शिवतमस्वरूप (असाम) हो गये हैं, वे हम (त्वाम्) आपकी ही (स्तोषाम) स्तुतियां करते हैं, और (त्वया) आपकी कृपा से (सुवीराः) उपासना मार्ग में उत्तम वीर बन कर (प्रतरं द्राघीयः आयुः) बहुत लम्बी आयु (दधानाः) धारण करें ।

सूक्त 22

1-3 त्रिशोकः, 4-6 प्रियमेधः । इन्द्रः । गायत्री ।

अभि त्वा वृषभा सुते सुतं सृजामि पीतये ।
तृम्पा व्यश्नुही मदम् ।।1।।

NOTES

(वृषभ) हे आनन्दरसवर्षी !.(आ.सुते) भक्तिरस के पूर्णतया तय्यार हो जाने पर, मैं उपासक (सुतम्) तय्यार किए भक्तिरस को (पीतये) आप की स्वीकृति के लिये (त्वा अभि) आपके प्रति (सृजामि) समर्पित करता हूं । (तृम्प) आप उसके द्वारा तृप्त हूजिये । और मुझमें (मदम्) आनन्दरस की मस्ती (व्यश्नुही) व्याप्त कर दीजिये, भर दीजिये ।

मा त्वा मूरा अविष्यवो मोपहस्वान आ दभन् ।
माकीं ब्रह्मद्विषो वनः ।।2।।

हे उपासक ! (अविष्यवः) चापलूस लोग । (त्वा) तुझे, मेरे उपासना मार्ग से (मा आ दभन्) च्युत न करें । (मा) और न (उपहस्वानः) तेरे उपासनामार्ग का उपहास करने वाले (मूराः) मूर्ख लोग तुझे तेरे उपासना मार्ग से च्युत करें । तू (ब्रह्मद्विषः) ब्रह्मद्वेषी जन का (वनः) संसर्ग (मा कीम्) न किया कर ।

इह त्वा गोपरीणसा महे मदन्तु राधसे ।
सरो गौरो यथा पिब ।।3।।

हे उपासक ! (इह) इस उपासना-मार्ग में, (गोपरीणसाः) स्तोताओं द्वारा परिगत अर्थात् घिरे हुए गुरुजन, (त्वा) तुझे (महे राधसे) महाधन मोक्ष की प्राप्ति के लिये (मदन्तु) प्रगतिशील करें । तू (पिब) भक्तिरस का पान कर । (यथा) जैसे कि (गौरः) तृषित मृग (सरः) तालाब के जल का पान करता है । [मदन्तु = मद् गतौ । परीणस = परि + नस् (= गतौ) । गो = स्तोता (निघ. 3।16) ।]

अभि प्र गोपतिं गिरेन्द्रमर्च यथा विदे ।
सूनुं सत्यस्य सत्पतिम् ।।4।।

हे उपासक ! (यथा विदे) यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिये (गिरा) वेदवाणियों द्वारा (इन्द्रम्) परमेश्वर की (अभि) प्रत्यक्षरूप में (प्र अर्च) अर्चना किया कर । जो परमेश्वर कि (गोपतिम्) वेदवाणियों का पति है, (सत्पतिम्) सभी सत्-पदार्थों का पति है, (सत्यस्य सूनुम्) और वेद-वाणियों द्वारा सत्यज्ञान का प्रेरक है ।

आ हरयः ससृज्रिरेऽरुषीरधि बर्हिषि ।
यत्राभि संनवामहे ।।5।।

हे परमेश्वर ! (बर्हिषि अधि) हृदयाकाश में आपकी (अरुषीः) चमकीली (हरयः) क्लेशहारी किरणें (आ ससृज्रिरे) सर्वत्र प्रकट हो गई हैं । (यत्र) जिस हृदयाकाश में (अभि) प्रत्यक्षतया (सम्) सम्यक् रूप में (नवामहे) हम आपकी स्तुतियां करते हैं ।

इन्द्राय गाव आशिरं दुदुह्रे वज्रिणे मधु ।
यत् सीमुप ह्वरे विदत् ।।6।।

(वज्रिणे इन्द्रायः) न्यायवज्रधारी परमेश्वर के लिये, (गावः) स्तुतियां करने वाले उपासकों ने (मधु) मधुर, (आशिरम्) तथा परिपक्व भक्तिरसरूपी-दुग्ध का (दुदुह्रे) दोहन किया है । (यत्) जिस भक्तिरस को उपासकों ने

(...ह्वर) पर्वतों की गुफाओं में अभ्यास द्वारा (विदत्) पाया है । (सीम्) और जो भक्तिरस उपासकों के जीवन में फैल गया है ।

सूक्त 23

1-9 विश्वामित्रः । इन्द्रः । गायत्री ।

आ तू न इन्द्र मद्रयाग्घुवानः सोमपीतये ।
हरिभ्यां याह्यद्रिवः ।।1।।

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (हुवानः) पुकारे गए आप (मद्रयक्) मुझ उपासक की ओर आइये, (सोमपीतये) मेरे भक्तिरस पान के लिये । (अद्रिवः) हे पापों का भक्षण करनेवाले ! (हरिभ्याम्) ऋक् ओर साम की स्तुतियों और गानों द्वारा, आप (नः) हमारी ओर (तू) शीघ्र (आ याहि) प्रवृत्त हूजिये । [अद्रिः = अत्तेः (निरु. 4।1।4) ।]

सत्तो होता न ऋत्वियस्तिस्तिरे बर्हिरानुषक् ।
अयुज्रन् प्रातरद्रयः ।।2।।

हे परमेश्वर! (अद्रयः) पापभक्षी अर्थात् निष्पाप हृदयोंवाले उपासकों ने (प्रातः) प्रातःकाल की उपासना में (अयुज्रन्) योगविधि द्वारा आपको अपने साथ योगयुक्त कर लिया है । और उन्होंने (बर्हिः) हृदयासनों को आपके लिये (आनुषक्) निरन्तर (तिस्तिरे) बिछा रखा है । (ऋत्वियः) मुझे भी यह उपासनाकाल प्राप्त हुआ है, और मैं (सत्तः) उपासना में स्थित होकर (होता न) होता-ऋत्विक् के सदृश आपका आह्वान कर रहा हूं ।

इमा ब्रह्म ब्रह्मवाहः क्रियन्त आ बर्हिः सीद ।
वीहि शूर पुरोलाशम् ।।3।।

(ब्रह्मवाहः) ब्रह्म को प्राप्त करानेवाली (इमा) ये (ब्रह्म) ब्राह्मी-स्तुतियां (क्रियन्ते) की जा रही हैं । (बर्हिः) हृदयासन पर (आ सीद) आ विराजिये । (शूर) हे पराक्रमशील ! (पुरोडाशम्) देय भक्तिरस आपके समक्ष है, इसे आप (बीहि) स्वीकार कीजिये ।

रारन्धि सवनेषु ण एषु स्तोमेषु वृत्रहन् ।
उक्थेष्विन्द्र गिर्वणः ।।4।।

(वृत्रहन् इन्द्र) घेरा डाले हुए पापों का हनन करने वाले हे परमेश्वर! (गिर्वणः) तथा वैदिक वाणियों द्वारा भजने योग्य हे परमेश्वर ! (णः =नः) हमारे (एषु) इन (सवनेषु) भक्ति-यज्ञों में, (स्तोमेषु) सामगानों में, तथा (उक्थेषु) स्तुतियों के उच्चारणों में (रारन्धि) आप हमें प्रसन्न कीजिये, या आप प्रसन्न हूजिये, या हमें योग-साधना में सिद्ध कीजिये।

मतयः सोमपामुरुं रिहन्ति शवसस्पतिम् ।
इन्द्रं वत्सं न मातरः ।।5।।

(मातरः) माताएं (सोमपाम् वत्सं न) जैसे दुग्धपायी बच्चे के साथ (रिहन्ति) स्नेह करती हैं, वैसे (मतयः) मननशील उपासक (उरुम्) महान् (शवसः पतिम्) बलों के स्वामी, और (सोमपाम) भक्तिरसपायी (इन्द्रम्) परमेश्वर के साथ (रिहन्ति) स्नेह करते हैं ।

NOTES

स मन्दस्वा ह्यन्धसो राधसे तन्वा महे ।
न स्तोतारं निदे करः ।।6।।

हे परमेश्वर ! (सः) वे आप (अन्धसः) भक्तिरसरूपी अन्न रस को ग्रहणकर (मन्दस्व हि) प्रसन्न हूजिये, ताकि मैं उपासक (तन्वा) शारीरिक परिश्रम द्वारा (महे राधसे) महासिद्धि अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर सकूँ । (स्तोतारम्) अपने स्तोता को (निदे) निन्दा का पात्र (न करः) न होने दीजिये।

वयमिन्द्र त्वायवो हविष्मन्तो जरामहे ।
उत त्वमस्मयुर्वसो ।।7।।

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (वयम्) हम उपासक (त्वायवः) आपको चाहते हैं, इसलिये (हविष्मन्तः) भक्तिरस की हवियां लिये हम (जरामहे) आपकी स्तुतियां कर रहे हैं । (उत) तथा (वसो) हे सर्वत्र बसे सम्पत्ति- स्वरूप परमेश्वर! (अस्मयुः) आप भी हमारी चाहना कीजिये ।

मारे अस्मद् वि मुमुचो हरिप्रियार्वाङ् याहि ।
इन्द्र स्वधावो मत्स्वेह ।।8।।

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (अस्मद् आरे) हम से दूर (मा) न हूजिये, न हमें (वि मुमुचः) छोड़ दीजिये । (हरिप्रिय) हे मनोहारी भक्तिरस के प्यारे ! (अर्वाङ याहि) हमारे अभिमुख रहिये । (स्वधावः) हे भक्तिरसः रूपी अन्न के स्वामिन् ! (इह) इन हमारे भक्तिरसों में (मत्स्व) प्रसन्न रहिये । [स्वधा = अन्न (निघ. 2।8) ।]

अर्वाञ्चं त्वा सुखे रथे वहतामिन्द्र केशिना ।
घृ स्नु बर्हिरासदे ।।9।।

(केशिना) प्रकाश को प्राप्त हुई हमारी ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां (घृतस्नू) तथा जल के सदृश प्रवाहरूप में बहते हुए हमारे भक्तिरसों की आपकी ओर प्रवाहित करती हुई हमारी ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां (सुखे रथे) हमारे सुखमय शरीर-रथों में (त्वा) आपको (अर्वाञ्चम्) हमारी और (बहताम्) प्रेरित करें । ताकि आप (बर्हिः) हमारे हृदयासनों पर (आ सदे) आ विराजें ।

सूक्त 24

1-9 विश्वामित्रः । इन्द्रः । गायत्री ।

उप नः सुतमा गहि सोममिन्द्र गवाशिरम् ।
हरिभ्यां यस्ते अस्मयुः ।।1।।

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! आप (हरिभ्याम्) ऋक् और साम की स्तुतियों और सामगानों द्वारा (नः) हम उपासकों के (सुतम्) निष्पन्न और (गवाशिरम्) वेदोक्त विधियों द्वारा परिपक्व (सोमम्) भक्ति-रस के (उप) समीप (आ गहि) आइये । (यः) जो भक्तिरस कि ते केवल आपके लिये निष्पादित हुआ है, ताकि (अस्मयुः) आप हमारी कामना करें, हमें अपना लें । [गवाशिरम् = गौः वाक् (निघ. 1।11) + शृ पाके ।]

तमिन्द्र मदमा गहि बर्हिष्ठां ग्रावभिः सुतम्।
कुविन्न्वस्य तृष्णवः ।।2।।

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (ग्रावभिः) स्तोताओं द्वारा (सुतम्) निष्पादित, (बर्हिष्ठाम्) हमारे रक्तों के कण-कण में स्थित, (तं मदम्) उस प्रसन्नताप्रद भक्तिरस को (आ गहि) आप प्राप्त कीजिये । प्रतिफल में हम स्तोता आपके (अस्य) इस आनन्दरस की (तृष्णवः) तृष्णावाले हैं ।

इन्द्रमित्था गिरो ममाच्छागुरिषिता इतः ।
आवृते सोमपीतये ।।3।।

(इत्था) वस्तुतः (इतः) इस मेरे हृदय से (इषिताः) निकली हुई तथा एषणाओं से भरी हुई (मम गिरः) मेरी स्तुतियां (इन्द्रम अच्छ) परमेश्वर की ओर (अगुः) प्रवृत्त हुई हैं । ताकि स्तुतियां (सोमपीतये) भक्तिरस के पान के लिये (आवृते) परमेश्वर का मेरी ओर आवर्तन करें झुकाव करें । [इत्था = सत्यम् (निघ. 3।10) ।]

इन्द्रं सोमस्य पीतये स्तोमैरिह हवामहे ।
उक्थेभिः कुविदागमत् ।।4।।

(सोमस्य) भक्तिरस के (पीतये) स्वीकार करने के लिये (स्तोमैः) सामंगानों द्वारा, तथा (उक्थेभिः) वैदिक सूक्तों की स्तुतियों द्वारा (इह) इस हृदय में (इन्द्रं हवामहे) हम परमेश्वर का आह्वान करते हैं । इस विधि से परमेश्वर (कुविद्) बार-बार (आगमत्) हमें दर्शन देता है ।

इन्द्र सोमाः सुता इमेतान् दधिष्व शतक्रतो ।
जठरे वाजिनीवसो ।।5।।

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (इमे) ये (सोमाः) भक्तिरस (सुताः) तय्यार हैं । (शतक्रतो) हे सैकड़ों अद्भुत कर्मो के कर्त्ता ! तथा (वाजिनीवसो) हे आध्यात्मिक उषाओं की सम्पत्तिवाले ! (तान्) उन भक्तिरसों को (दधिष्व) आप अपने में धारण कीजिये, जैसे कि बुभुक्षित व्यक्ति अन्न को (जठरे) अपने पेट में धारण करता है ।

विद्मा हि त्वा धनंजयं वाजेषु दधृषं कवे ।
अधा ते सुम्नमीमहे ।।6।।

(कवे) हे वेदकाव्यों के कवि ! (हि विद्मा त्वा) हम आपको निश्चय-पूर्वक जानते हैं कि आपने (धनंजयम्) सांसारिक और आध्यात्मिक धनों पर विजय पाई हुई है, और (वाजेषु) देवासुर-संग्रामों में (दधृषम्) आप आसुरी भावनाओं का धर्षण करने वाले हैं । (अधा) इसलिये (सुम्नम्) आप से सुख की, तथा आपकी प्रसन्नता की (ईमहे) हम प्रार्थनाएं करते हैं ।

इममिन्द्र गवाशिरं यवाशिरं च नः पिब ।
आ गत्या वृषभिः सुतम् ।।7।।

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (वृषभिः) भक्तिरसों की वर्षा करनेवाले उपासकों द्वारा (सुतम्) निष्पादित (इमम्) इस (नः) हमारे भक्तिरस का (पिब) आप पान कीजिये । जैसे कि कोई अभ्यागत अतिथि (आगत्य) आकर हमारे तय्यार किये (गवाशिरम्) पकाए हुए गोदुग्ध का, तथा (यवाशिरम्) पकाई जौ की लप्सी का पान करता है।

तुभ्येदिन्द्र स्व ओक्ये३सोमं चोदामि पीतये ।
एष रारन्तु ते हृदि ।।8।।

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (तुभ्येत्) आपके लिये ही, मैं उपासक (स्वे ओक्ये) अपने हृदय-गृह में (सोमं) भक्तिरस को (चोदामि) प्रेरित करता हूं, (पीतये) ताकि आप इसे स्वीकार करें । (हृदि) मेरे हृदय में स्थित (एषः) यह भक्तिरस (ते) आपके लिये (रारन्तु) प्रसन्नतादायक हो ।

त्वा सुतस्य पीतये प्रत्नमिन्द्र हवामहे ।
कुशिकासो अवस्यवः ।।9।।

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (कुशिकासः) भक्ति और योग के विषयों पर प्रकाश डालने वाले, (अवस्यवः) तथा राग-द्वेष से आत्मरक्षा चाहनेवाले हम उपासक (सुतस्य पीतये) निष्पादित भक्तिरस के पानार्थ (त्वा प्रत्नम्) आप पुराण पुरुष का (हवामहे) आह्वान करते हैं ।

सूक्त 25

1-6 गोतमः, 6 अष्टकः । इन्द्रः । 1-6 जगती; 7 त्रिष्टुप् ।

NOTES

अश्वावति प्रथमो गोषु गच्छति सुप्रावीरिन्द्र मर्त्यस्तवोतिभिः ।
तमित्पृणक्षि वसुना भवीयसा सिन्धुमापो यथाभितो विचेतसः ।।1।।

(अश्वावति) सूर्य से सम्बद्ध भूमण्डल में रहने वाला (प्रथमः) सर्व-श्रेष्ठ व्यक्ति (गोषु) वेदवाणियों में (गच्छति) प्रगति प्राप्त करता है, वेद-वाणियों के रहस्यार्थों को जान पाता है । (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (मर्त्यः) ऐसा मनुष्य (तव ऊतिभिः) आपके रक्षा-साधनों द्वारा (सु प्रावीः) उत्तम रक्षा पाता है । (तम् इत्) उसे ही आप (भवीयसा) प्रभूत (वसूना) वैदिक ज्ञान-सम्पत्तियों द्वारा (पृणक्षि) पालित तथा पूरित करते हैं । (यथा) जैसे कि (अभितः) समुद्र के चारों ओर बहनेवाली (विचेतसः) अचेतन (आपः) नदियां (सिन्धुम्) समुद्र को जलों से पालित तथा पूरित करती हैं ।

आपो न देवीरुप यन्ति होत्रियमवः पश्यन्ति विततं यथा रजः ।
प्राचैर्देवासः प्रणयन्ति देवयुं ब्रह्मप्रियं जोषयन्ते वराइव ।।2।।

(आपः न) जलों के सदृश विशुद्ध और पवित्र करने वाली (देवीः) दिव्य वेदवाणियां, स्वाध्यायकर्त्ता के (होत्रियम्) स्वाध्याय-यज्ञ में (उपयन्ति) स्वयं उपस्थित हो जाती हैं । तब स्वाध्याय करने वाले (विततम्) वेदवाणियों में व्याप्त (अवः) रक्षक परमेश्वर का ही वर्णन (पश्यन्ति) स्पष्टतया देखते हैं । (यथा) जैसे कि सर्वसाधारण जन (विततं रजः) व्याप्त आकाश को स्पष्टतया (पश्यन्ति) देखते हैं । (देवयुम्) परमेश्वर देव की अभीप्सावाले, (ब्रह्मप्रियम्) और ब्रह्म के प्यारे उपासक को (प्राचैः) आगे-आगे बढ़ने के उपायों द्वारा (देवासः) योगाचार्य देव (प्रणयन्ति) योगमार्ग पर आगे-आगे ले चलते, और उसके साथ प्रणय अर्थात् प्रेम करने लगते हैं, (जोषयन्ते) और उसकी मार्ग-प्रदर्शन द्वारा सेवा करते हैं । (इव) जैसे कि (वराः) नव-विवाहित पुरुष नव-विवाहित अपनी पत्नियों के साथ प्रणय करते, और वस्तुओं के प्रदान द्वारा उनकी सेवा करते हैं ।

अधि द्वयोरदधा उक्थ्यं वचोयतस्रुचा मिथुना या सपर्यतः ।
असंयत्तो व्रते तेक्षेति पुष्यति भद्रा शक्तिर्यजमानाय सुन्वते ।।3।।

(या मिथुना) जो पति-पत्नी (यतस्रु चा) यज्ञिय-स्रुच् पकड़ कर आहुतियों द्वारा (सपर्यतः) परमेश्वर की परिचर्या करते हैं, (द्वयोः अधि) उन दोनों में हे परमेश्वर ! आप (उक्थ्यम्) वैदिक सूक्तरूपी (वचः) वचन अर्थात् मन्त्र (अदधाः) निहित कर देते हैं, अर्थात् वे वैदिक मन्त्रों द्वारा आपकी स्तुतियां करने लग जाते हैं । हे परमेश्वर ! (ते) आपके दर्शाए (व्रते) व्रतों में (असंयत्तः) जो प्रयत्न नहीं करता, वह (क्षेति) क्षीण होता जाता है । और जो (ते) आपके दर्शाए (व्रते) व्रतों में (क्षेति) निवास करता है, अर्थात् तदनुकूल अपना जीवन बना लेता है, वह (पुष्यति) पुष्टि प्राप्त करता है । और उस (सुन्वते) भक्तिरसवाले (यजमानाय) यज्ञशील व्यक्ति को (भद्रा) सुखदायिनी और कल्याणकारिणी (शक्तिः) शक्ति प्राप्त होती है ।

आदङ्गिराः प्रथमं दधिरे वय इद्धाग्नयः शम्या ये सुकृत्यया ।
सर्वंपणेः समविन्दन्त भोजनमश्वावन्तं गोमन्तमा पशुं नरः ।।4।।

(आत्) तदनन्तर अर्थात् सुखदायिनी और कल्याणकारिणी शक्ति को प्राप्त करके (अङ्गिराः) प्राणायामाभ्यासी (नरः) उपासक-नेताओं ने (प्रथमं वयः) सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक अन्न अर्थात् परमेश्वर को (दधिरे) योगविधि द्वारा धारण किया । (ये) जिन्होंने कि (शम्या सुकुत्यया) योग-विधि की शान्तिप्रद उत्तम क्रियाओं द्वारा (इद्धाग्नयः) परमेश्वरीय-ज्योति को प्रदीप्त किया । मानो उन अभ्यासियों ने (पणेः) वेदवक्ता परमेश्वर से (सर्वं भोजनम्) सब प्रकार के भोजन (अश्वावन्तम्) अश्वों समेत तथा (गोमन्तम्) गौओं समेत, और (पशुम्) सब प्रकार की

पशु-सम्पत्ति को (सम् अविन्दन्त) प्राप्त कर लिया । अर्थात् परमेश्वरीय ज्योति प्राप्त होने पर सब कुछ प्राप्त हो गया ।

यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि ।
आगा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे ।।5।।

(प्रथमः) सर्वश्रेष्ठ अनादि तथा (अथर्वा) सदा एकरस में स्थित कूटस्थ परमेश्वर ने (यज्ञैः) यज्ञस्वरूप कर्तव्य कर्मों के उपदेश द्वारा (पथः) वर्णाश्रमियों के जीवन-मार्गों का (तते) विस्तार से वर्णन किया । और एतदर्थ (उशना) प्रजा के सुख और कल्याण की कामनावाले परमेश्वर ने (सचा) एक साथ (गाः) वेदवाणियों को (आ) पूर्णरूप में (आजत्) प्रकट किया। (काव्यः) परमेश्वर सर्वश्रेष्ठ कवि है, (ततः) उसी परमेश्वर से (व्रतपाः) व्रतपति (वेनः) और कान्तिमान् (सूर्यः) सूर्य (आजनि) उत्पन्न हुआ । (यमस्य) सर्वनियन्ता परमेश्वर के (जातम्) सुप्रसिद्ध (अमृतम्) अमृतस्वरूप का (यजामहे) हम यजन करते हैं, उस स्वरूप के साथ हम अपना संग करते हैं ।

बर्हिर्वा यत् स्वपत्याय वृज्यतेऽर्को वाश्लोकमाघोषते दिवि ।
ग्रावा यत्र वदति कारुरुक्थ्य१स्तस्येदिन्द्रो अभिपित्वेषु रण्यति ।।6।।

(दिवि) द्युलोक में (अर्कः) सूर्य, जिस परमेश्वर की (श्लोकम्) कीर्ति की (आ घोषते) सर्वत्र घोषणा कर रहा है, उस (स्वपत्याय) स्वभूत परमेश्वर की प्राप्ति के लिये, (यत्) जब (बर्हिः) द्रव्ययज्ञ के साधनभूत कुशा आदि के काटने का (वृज्यते) परित्याग कर दिया जाता है, तथा (उक्थ्यः) प्रशंसनीय (कारुः) स्तोता (यत्र) जब (ग्रावा) परमेश्वर-सम्बन्धी ही स्तुतियां करता, और (वदति) मानो परमेश्वर के साथ संवाद करने लगता है, तब (इन्द्रः) परमेश्वर (तस्य) उस उपासक के (पित्वेषु) भक्तिरसरूपी अन्नों में (अभि रण्यति) अभिरमण करने लगता है ।

प्रोग्रां पीतिं वृष्ण इयर्मि सत्यां प्रयै सुतस्य हर्यश्व तुभ्यम् ।
इन्द्र धेनाभिरिह मादयस्वधीमिर्विश्वाभिः शच्यागृणानः ।।7।।

(हर्यश्व) प्रत्याहार-सम्पन्न इन्द्रियाश्वों के है स्वामिन् ! (प्रयै) आपके प्रति प्रयाण करने के निमित्त, मैं उपासक (वृष्णे तुभ्यम्) आनन्द-रसवर्षी आपके लिये (सुतस्य) उत्पन्न भक्तिरस के (सत्याम्) वास्तविक (उग्रां पीतिम्) उग्र-पान को (प्र इयर्मि) प्रेरित करता हूं । (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (धेनाभिः) आनन्दरसरूपी दुग्ध पिलानेवाली वेदवाणियों द्वारा (इह) इस जीवन में (मादयस्व) मुझे तृप्त कर दीजिये । मैं उपासक (विश्वाभिः ध ीभिः) अपनी समग्र बुद्धिशक्तियों तथा क्रमशक्तियों द्वारा, तथा (शच्या) वाणी द्वारा (गुणानः) आप की स्तुतियां कर रहा हूं ।

सूक्त 26

1-3 शुनः शेपः ; 4-6 मधुच्छन्दाः । इन्द्र : । गायत्री ।

योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे ।
सखाय इन्द्रमूतये ।।1।।

(सखायः) हे योगाभ्यास के साथियो ! (ऊतये) आत्मरक्षार्थ (योगे-योगे) प्रत्येक काल के योगाभ्यास में, या योग की प्रत्येक भूमि में, तथा (वाजे-वाजे) प्रत्येक देवासुर-संग्राम में, (तवस्तरम्) प्रगति तथा वृद्धि देने-वाले (इन्द्रम्) परमेश्वर का (हवामहे) हम आह्वान करते हैं ।

आ घा गमत् यदि श्रवत् सहस्त्रिणीभिरूतिभिः ।
वाजेभिरुप नो हवम् ।।2।।

(यदि श्रवत्) यदि परमेश्वर हमारी प्रार्थनाओं को स्वीकार कर लेता है, तो वह (घ) निश्चय से (सहस्रिणीभिः ऊतिभिः) हजारों प्रकार के रक्षा-साधनों के साथ, तथा (वाजेभिः) हजारों प्रकार के बलों समेत (नः) हमारी (हवम्) प्रार्थनाओं के होते (उप) हमारे समीप (आ गमत्) आ उपस्थित होता है ।

अनु प्रत्नस्यौकसो हुवे तुविप्रतिं नरम् ।
यं ते पूर्वं पिता हुवे ।।3।।

(तुविप्रतिम्)सब शक्तियों के प्रतिनिधिरूप, तथा (नरम्) जगत् के नेता परमेश्वर को (प्रत्नस्य) पुराकाल से माने हुए (ओकसः) हृदय-गृह से (अनु) निरन्तर अर्थात् सदा, हे पुत्र ! मैं तेरा पिता, (हुवे) तेरी सहायता के लिये बुलाता हूं । (यम्) जिस परमेश्वर का कि (ते पिता) तेरे पिता मैंने (पूर्वम्) पहले अपने जीवन में (हुवे) आह्वान कर लिया है, प्रत्यक्ष कर लिया है।

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः ।
रोचन्ते रोचना दिवि ।।4।।

(ब्रध्नम्) महान् (अरुषम्) रोष-कोध से रहित अर्थात् शान्त-स्वरूप, (परिचरन्तम्) तथा सर्वगत परमेश्वर को, (तस्थुषः) ध्यानावस्थित योगिजन (युञ्जन्ति) योगविधि द्वारा अपने साथ युक्त कर लेते हैं । इसी परमेश्वर के प्रकाश से (दिवि) द्युलोक में (रोचना) चमकते नक्षत्र-तारागण (रोचन्ते) चमक रहे हैं । तथा इसी परमेश्वर की रुचिकर दीप्तियां मस्तिष्क में चमकने लगती हैं ।

युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे ।
शोणा धृष्णू नृवाहसा ।।5।।

(काम्या = काम्यौ) योग-साधना के लिये चाही गई, (हरी) चित्त को विषयों से हर लेनेवाली, (विपक्षसा) सुषुम्णा-नाड़ी के अलग-अलग दो पार्श्वों में लगी हुई, (शोणा) भूरे और पीले से रंगों वाली, (धृष्णू) मजबूत, (नृवाहसा) योगिजनों को उनके उद्देश्य तक पहुंचानेवाली इडा और पिङ्गला नाड़ियों को (अस्य) इस परमेश्वर के (रथे) रमणीय स्वरूप में (युञ्जन्ति) योगिजन योगविधि द्वारा युक्त अर्थात् सम्बद्ध करते हैं ।

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेश से ।
समुषद्भिरजायथाः ।।6।।

(मर्याः) हे उपासक जनो ! , देखो कि योगविधि द्वारा युक्त किया गया परमेश्वर (उषर्द्भिः) उषाकालों के साथ-साथ (सम् अजायथाः) हम योगिजनों में सम्यक्-प्रकट हो गया है । वह (अकेतवे) प्रज्ञानरहित उपासक के लिये (केतुम्) प्रज्ञान (कृण्वन्) प्रकट करता है । और (अपेशसे) जिस पर आध्यात्मिक रंग-रूप नहीं चढ़ा उस पर (पेशः) नया आध्यात्मिक रंग रूप चढ़ा देता है ।

सूक्त 27

1-6 गोषूक्ती तथा अश्वसूक्ती । इन्द्रः । गायत्री ।

यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत् ।
स्तोता मे गोषखा स्यात् ।।1।।

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (यथा) जैसे (त्वम्) आप (एक इत) अकेले ही (वस्वः) वैदिक ज्ञान-सम्पत्ति के (ईशीय) अधीश्वर हैं, वैसे (यद्) यदि (अहम्) मैं आप का उपासक, वैदिक ज्ञान-सम्पत्ति का अधीश्वर बन जाऊं, तो (मे) मेरा (स्तोता) शिष्य (गोषखा) वेदवाणी का सखा (स्यात्) हो जाता, । अर्थात् वह वेदवाणी के रहस्यार्थों का ज्ञाता हो जाता ।

शिक्षेयमस्मै दित्सेयं शचीपते मनीषिणे ।
यदहं गोपतिः स्याम् ।।2।।

(शचीपते) हे प्रज्ञा और वेदवाणियों के पति ! (यद्) जो (अहम्) मैं (गोपतिः) वेदवाणियों का और समग्र पृथिवी का पति (स्याम्) होऊं, तो मैं (अस्मै) इस (मनीषिणे) बुद्धिमान् मनस्वी अपने स्तोता को (शिक्षे पम्) वेदवाणियों में शिक्षित करुं, और इसे (दित्सेयम्) पार्थिव-सम्पत्तियों का दान भी करूँ ।

धेनुष्ट इन्द्र सूनृता यजमानाय सुन्वते ।
गामश्वं पिप्युषी दुहे ।।3।।

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (ते) आप की (पिप्युषी) ज्ञान से परिपुष्ट, (सूनृता) प्रिय तथा सत्यरूपा (धेनुः) वेदवाणी (सुन्वते) भक्तिरसवाले (यजमानाय) स्वाध्याय-यज्ञ के रचयिता के लिये, (गाम् अश्वम्) गौ अश्व का ज्ञान (दुहे) प्रदान करती है ।

न ते वर्तास्ति राधस इन्द्र देवो न मर्त्यः ।
यद् दित्ससि स्तुतो मघम् ।।4।।

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (स्तुतः) स्तुतियां पाकर आप (यद् मघम्) जों धन (दित्ससि) देना चाहते हैं, उस (ते) आप के (राधसः) धन में (वर्ता) रुकावट डालनेवाला (न देवः अस्ति) न कोई देव है, और (न मर्त्यः) न कोई मनुष्य । [वर्ता = निवारणकर्त्ता ।]

यज्ञ इन्द्रमवर्धयद् यद् भूमिं व्यवर्तयत् ।
चक्राण ओपशं दिवि ।।5।।

(ओपशम्) सौरमण्डल के शिरोभूषणरूप सूर्य को (दिवि) द्युलोक में (चक्राणः) प्रकट करते हुए परमेश्वर ने (यद्) जो (भूमिम्) भूमि को (व्यवर्तयत्) सूर्य के चारों ओर वृत्ताकार-कक्षा में घुमाया है, इससे (यज्ञः) संसार-यज्ञ (इन्द्रम्) परमेश्वर की महिमा को (अवर्धयत्) बढ़ा रहा है ।

वावृधानस्य ते वयं विश्वा धनानि जिग्युषः ।
ऊतिमिन्द्रा वृणीमहे ।।6।।

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (वावृधानस्य) संसार की वृद्धि करते हुए, तथा (विश्वा धनानि) संसार के सभी प्रकार के धनों पर (जिग्युषः) विजय पाए हुए (ते) आपके (वयम्) हम उपासक, आप सें (ऊतिम्) सुरक्षा का (आवृणीमहे) वर मांगते हैं ।

सूक्त 28

1-4 गोषूक्ती तथा अश्वसूक्ती । इन्द्रः । गायत्री ।

व्य1न्तरिक्षमतिरन्मदे सोमस्य रोचना ।
इन्द्रो यदभिनद् वलम् ।।1।।

(इन्द्रः) परमेश्वर ने (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (वि अतिरत्) विशेषरूप में फैलाया है । और (रोचना) द्युलोक के चमकते सूर्य-नक्षत्र-तारागणों को विविधरूप में फैलाया है । तथा (सोमस्य मदे) भक्तिरस की प्रसन्नता में उसने (वलम्) उपासक के अज्ञानकारी आवरण के (अभिनत्) छिन्न-भिन्न-कर दिया है । [आवरण = रजोगुण और तमोगुण ।]

उद् गा आजदङ्गिरोभ्य आविष्कृण्वन् गुहा सतीः ।
अर्वाञ्चं नुनुदे वलम् ।।2।।

(अङ्गिरोभ्यः) प्राणायाम के अभ्यासियों के लिये परमेश्वर ने (गाः) ज्ञान की किरणों को (उद्आजत्) उद्बुद्ध कर दिया है । अर्थात् (गुहाः सतीः) हृदय की गुफा में छिपी हुई ज्ञान की किरणों को (आविष्कृण्वन्) परमेश्वर ने आविष्कृत कर दिया है, प्रकट कर दिया है । और ज्ञान-किरणों पर पड़े (वलम्) आवरण को, रजस् और तमस्रूपी आवरण को परमेश्वर ने मानो (अर्वाञ्चं नुनुदे) नीचे पटक.दिया है ।

इन्द्रेण रोचना दिवो दृल्हानि दृंहितानि च ।
स्थिराणि न पराणुदे ।।3।।

(इन्द्रेण) परमेश्वर ने (दिवः) मस्तिष्क के सहस्रार-चक्र में प्रकट हुई (दृल्हानि रोचना) दृढ़ दीप्तियों को (दृं हितानि) और सुदृढ़ कर दिया है, (स्थिराणि) इन्हें स्थिर कर दिया है । (न पराणुदे) अब ये दीप्तियां हटाई नहीं जा सकती ।

अपामूर्मिमर्दन्निव स्तोम इन्द्राजिरायते ।
वि ते मदा अराजिषुः ।।4।।

(अपाम्) जलों की (ऊर्मिः) तरङ्गों के (इव) सदृश (स्तोमः) सामगान की तरङ्गें, (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (मदन्) आप को प्रसन्न करती हुई (अजिरायते) नदी के प्रवाह के सदृश प्रवाहित हो रही हैं । और (मदाः ते) मुझ उपासकों में मस्ती देने वाले आप के आनन्दरस (वि) विशेषरूप में (अराजिषुः) मुझ उपासक पर राज्य कर रहे हैं।

सूक्त 29

1-5 गोषूक्ती तथा अश्वसूक्ती । इन्द्रः । गायत्री ।

त्वं हि स्तोमवर्धन इन्द्रास्युक्थवर्धनः ।
स्तोतृणामुत भद्रकृत् ।।1।।

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (त्वम् हि) आप ही (स्तोमवर्धनः) हमारे सामगानों में उत्तरोत्तर वृद्धि करते । और आप ही (उक्थवर्धनः) हम उपासकों द्वारा की गई स्तुतियों में उत्तरोत्तर वृद्धि करते (असि) हैं । (उत) तथा आप ही (स्तोतृणाम्) स्तोताओं को (भद्रकृत्) सुख देते और उनका कल्याण करते हैं ।

इन्द्रमित् केशिना हरी सोमपेयाय वक्षतः ।
उप यज्ञं सुराधसम् ।।2।।

(केशिना) ज्ञान और भक्ति का प्रकाश देनेवाले (हरी) चित्तहारी ऋक् और साम की स्तुतियां तथा भक्तिगान (सोमपेयाय) हमारे भक्तिरसों की स्वीकृति के लिये (इन्द्रम्) परमेश्वर को (इत्) अवश्य (सुराधसम्) उत्तम आराधनाओं से सम्पन्न (यज्ञम्) हमारे उपासना-यज्ञ में (उप वक्षतः) प्रकट कर देते हैं ।

अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः ।
विश्वा यदजय स्पृधः ।।3।।

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! शरीर में रहने वाले (अपाम्) रस-रक्तरूपी जलों के (फेनेन) वीर्यरूपी फेन द्वारा आपने (नमुचेः) न मुक्त होनेवाले, न छूटनेवाले पाप-वृत्र के (शिरः) सिर को (उदवर्तयः) काट दिया है। (घत्) क्योंकि पापों के मूलभूत (स्पृधः) स्पर्धा आदि (विश्वाः) सब दुर्वृत्तियों पर (अजयः) आप ने हमें विजय दिलाई है । [अभिप्राय यह है कि ऊर्ध्वरेता उपासक स्पर्धा आदि दुर्वृत्तियों पर जब विजय पा लेता है ।

निरुक्त

प्रथम अध्याय

प्रथमः पादः

समाम्नायः समाम्नातः। स व्याख्यातव्यः तमिमं समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते। निघण्टवः कस्मात्। निगमा इमे भवन्ति। छन्दोभ्यः समाहृत्य समाम्नाताः। ते निगन्तव एवं सन्तो निगमनान्निघण्टव उच्यन्त इत्यौपमन्यवः। अपि वा हननादेव स्युः। समाहता भवन्ति। यद्वा समाहृता भवन्ति।

हिन्दी अनुवाद— वैदिक शब्दों का संग्रह किया जा चुका है, जिसका व्याख्या होनी चाहिए। इस (वैदिक-शब्द संग्रह) को ''निघण्टु'' कहते हैं। निघण्टु क्यों कहते हैं? (क्योंकि) (ये) निश्चित रूप से वेदार्थ या वैदिकमन्त्रार्थ का बोध कराते हैं। वेदों से चुन-चुनकर (ये निघण्टुगत वैदिक शब्द) जमा किये गये हैं। वेदार्थ को स्पष्ट रूप से बतलाने के कारण ये (निगन्तु) बने एवं निगम्नात् अर्थावबोधन रूप गुण के कारण ये निघण्टु कहे जाने लगे यह औपमन्वयव का मत है। अथवा आहनन = (आ √ हन्) से ही निघण्टु शब्द बना है, क्योंकि सभी निघण्टुगत शब्द साथ-साथ पढ़े गये हैं। अथवा (सम्-√हृ) जमा किये जाने के कारण इन्हें (निघुण्टु) कहते हैं।

हिन्दी-भावार्थः— मन्त्रों एवं ब्राह्मणों से शब्दों को चुनकर इसे निघण्टु के पाँच अध्यायों में एकत्रित कर दिया गया है, अतः इनकी व्याख्या अपेक्षित है।

इन्हें निघण्टु इसलिए कहते हैं क्योंकि ये गूढ़ अर्थ के प्रकाशक हैं। निगन्तु से निधन्तु, निघन्तु से निघण्टु एकवचन में तथा ''निघण्टवः'' प्र. वि. ब. व. में बन गया। इस निघण्टु शब्द में सम् उपसर्ग पूर्वक 'आ' उपसर्गपूर्वक हन् धातु है अथवा सम् उपसर्ग एवं 'आ' उपसर्ग पूर्वक हृ धातु है। पूर्व व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ होगा समाहताः भवन्ति = निघण्टु के पाँच अध्यायों में मर्यादा पूर्वक ये शब्द स्थित हैं। समाहृताः भवन्ति का अर्थ है = उपर्युक्त रीति से जिन शब्दों का वेदों से चयन करके निघण्टु में रखा गया है।

तद्यान्येतानि चत्वारिपदजातानि नामाख्याते चोपसर्ग निपाताश्च तानीमानि भवन्ति।

हिन्दी अनुवाद— वह (निघण्टु क्या है? तो उत्तर है—) जो ये चार पद समूह हैं— यथा नाम, आख्यात्, उपसर्ग एवं निपात।

अथवा

वह (निवण्टु) नाम, आख्यात्, उपसर्ग एवं निपात— ये चार पद समूह होते हैं।

हिन्दी भावार्थ— वे जो निघण्टुगत शब्द हैं, वे नामाख्यात उपसर्ग एवं निपात इनके समूह हैं। अर्थात् यास्क के मत में ये चार नामादि पद समूह हैं।

''तद्यत्रोभे भावप्रधाने भवतः''

हिन्दी-अनुवादः— पुन जहाँ नाम एवं आख्यात् दोनों विद्यमान हों उनमें भाव या क्रिया प्रधान होती है।

हिन्दी-भावार्थ— तद्यत्र शब्द एक विशेष अवस्था को सूचित करता है जिसमें नाम एवं आख्यात दोनों अपने सत्त्व एवं भाव की प्रधानता से युक्त होकर विद्यमान रहते हैं। इस अवस्था में दोनों अपने-अपने स्थान पर प्रधान होते हैं,

फिर भी इन दोनों की आन्तरिक विशेषताओं को समझना हो तो इनमें भाव को ही प्रधान मानना होगा। आचार्य आस्क कहते हैं, उसे **भावप्रधाने भवतः**, क्योंकि वे सत्त्व की स्थिति के मूल में भी भाव या क्रिया को स्वीकार करते हैं। वैयाकरणों की दृष्टि में शाब्द बोध के लिए धात्वर्थ या व्यापार को ही कारण भावना चाहिए। अतः वैयाकरण एवं यास्क इस विषय चिन्तन में बहुत नजदीक है। यास्क का मत मीमांसा-मत से भी नजदीकी सम्बन्ध ा रखता है, क्योंकि मीमांसा के अनुसार भी भावना व्यापार विशेष है जो वाक्य में मुख्य होती है। (यथा भावयितुर्व्यापार विशेषो भावना) मीमांसक एवं वैयाकरण मौलिक भेद यही है कि मीमांसक तो आख्यातार्थ को भावना मानते हैं जबकि वैयाकरणों का व्यापार आख्यातार्थ न होकर धात्वर्थ है। वैयाकरण आख्यात को व्यापाराश्रय (कर्त्ता) मानते हैं। लः कर्मणि च भाव चाकर्मकेभ्यः इत्यादि सूत्र स्पष्ट रूप से इसका संकेत करते हैं। यास्काचार्य का भाव, सामान्य एवं विशेष, दोनों प्रकार के भावों का सूचक है, जिसे आगे 'व्रजति पचति' इत्यादि के माध्यम से प्रकट किया गया है।

पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे।

व्रजति पचतीत्युप क्रम-प्रभृत्यपवर्ग पर्यन्तम्।

हिन्दी-अनुवाद— व्रजति पचति इत्यादि क्रियाओं के (प्रसंग में) पूर्वा पर या क्रमिक रूप में घटित होने वाले भावों या व्यापारों को (वक्ता) आख्यात कहता है।

हिन्दी-भावार्थः— आचार्य यास्क वाक्य में भाव को प्रधान मानकर भाव को क्रिया की सूक्ष्म इकाइयों का समूह मानते हैं, जिनका अन्वय मुख्य क्रिया के साथ अभिन्न रूप में हमें लक्षित होता है। वस्तुतः यास्काचार्य अपने षड्विध भाव विकार की भूमिका यहीं से बाँधना शुरू कर रहे हैं। व्रजति पचति इस प्रकार के भाव, विशेष भाव की विशेषत इकाइयाँ हैं। दूसरी भाषा में हम कह सकते हैं कि यास्क का भाव अनेक व्यापारों का समूह है, जिसे विशेष-विशेष क्रियाओं के नाम से पुकारा जाता है। इस व्यापार विस्तार के चलते ही स्कन्द एवं महेश्वर इत्यादि आचार्यो ने इन सूक्ष्म व्यापारों द्वारा क्रिया की निष्पति के विषय में मत वैभिन्य का उल्लेख अपने भाष्य में किया है।

मूर्तं सत्त्वभूतं सत्त्वनामभिः। व्रज्या पक्तिरिति।

हिन्दी-अनुवाद— द्रव्यवत् मूर्त (भावों को वक्ता) द्रव्यमानों से कहता है (यथा) व्रज्या = गमनकर्म (एवं) पंक्तिः = पाचनकर्म।

हिन्दी-भावार्थः— अर्थात् जब अनेक व्यापारों वाली क्रिया, द्रव्य की तरह ठोस आकार को ग्रहण कर लेती है, तब वह पंक्तिः एवं व्रजया के रूप में द्रव्यनाम से लोगों द्वारा व्यवहार का विषय बन जाती है। लिंग संख्या एवं विभक्ति से युक्त वस्तु को द्रव्य कहते हैं। इस द्रव्य की स्थिति के लिए क्रिया के नानाव्यापारों की पूर्वापर क्रम की बुद्धि समाप्त हो जाती है एवं वह क्रिया सत्वभूत = द्रव्य की तरह ठोस आकार वाली हो जाती है। इसी घनीभूत भाव को या पिण्डी भाव को अभिहित करने के लिए जब शब्द की अपेक्षा होती है तो क्रिया या धातु से कृदन्त प्रत्यय का भावादि में प्रयोग कर संस्कारित करते हैं तथा सु-आदि विभक्ति का प्रयोग कर लिंग एवं संख्या की योजना भी हो जाती है, जिसे हम द्रव्य या सत्त्व कहते हैं। उदाहरण के लिए व्रज्या जो व्रज धातु से भाव में क्यप् प्रत्यय जोड़कर बनाया जाता है, उसमें उपानहधारणादि प्रभृति-उत्तरदेश संयोगान्त का भाव गौण हो जाता है। उन सभी आनुषंगिक व्यापारों की सिद्धावस्था प्रतीत होती है, जो द्रव्य की भाँति ठोस रूप ग्रहण कर लेती है। ऐसे ही ठोस स्वरूप वाले विभिन्न सिद्धावस्थापन्न भावों को हम द्रव्यनाम से पुकारते हैं। इसी प्रकार पक्ति (पच् + क्तिन्) के विषय में भी समझ लेना चाहिए। यहाँ यह स्पष्ट कर दिया गया कि कभी-कभी भाव ही द्रव्य के रूप में माने जाते हैं— जैसे व्रजति भाव से व्रज्या एवं पचति से पक्तिः इत्यादि।

अद इति सत्त्वानामुपदेशो

गौरश्वः पुरुषो हस्तीनि।

भवतीति भावस्य आस्ते, शेते व्रजति तिष्ठतीति।।

हिन्दी-अनुवाद— अदः (या अदस्)— यह द्रव्यों का (सामान्य) उपदेश है। गौः, अश्वः, पुरुषः, हस्ती— ये (विशेष द्रव्यों के उपदेश शब्द है), भवति— यह (सामान्य) भाव का उपदेश है। आस्ते, शेते, व्रजति, (एवं) तिष्ठत्ति — इस प्रकार (के शब्द विशेष भाव या क्रिया के उपदेश हैं)।

हिन्दी-भावार्थः— ''अदः'' यह सर्वनाम रूप से द्रव्यों का उपदेश या कथन करने वाला सर्वनाम है। भाव यह है— कि शब्दों की सामान्य एवं विशेष प्रकार से प्रवृत्ति होती है। सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार ''अदः'' यह सर्वनाम लिंग संख्याविभक्ति से युक्त किसी विशिष्ट द्रव्य का उपदेश = कथन नहीं करता बल्कि, अदः = वह इत्यादि सर्वनाम से सामान्यतया निरुपाधिक द्रव्यों का उपदेश होता है। इसे समझने के लिए हम वह ''देखों क्या आ रहा है?'' इस वाक्य में 'वह देखो' मात्र वस्तु सामान्य की ओर निर्देश करता है। जब तक दूसरे क्षण में उसका कोई नाम लिंग, संख्या इत्यादि समझाकर गौ, अश्वः, पुरुषः हस्ती— इनके द्वारा विशेष द्रव्य की सूचना आचार्य यास्क न दी है। इसी प्रकार ''भवति'' इस क्रिया के द्वारा सामान्य भाव का तथा आस्ते शेते व्रजति तिष्ठति— इन क्रियाओं से विशेष क्रियाओं का उपदेश निरुक्तकार ने किया है। अतः भाव की सिद्धावस्था को द्रव्य मानकर उस द्रव्य के सामान्य एवं विशेष रूपों का उपदेश इस स्थल में किया गया है। इसी प्रकार अवान्तर व्यापारों से युक्त क्रिया को भाव (जिसे आख्यात भी कहा गया है) मानकर उसके भी सामान्य एवं विशेष रूप माने गये हैं। **भवतीति भावस्य** से आचार्य यास्क ने सभी जायते इत्यादि क्रियाओं में ''जायमान'' सामान्यतया ''कुछ घटित होने की सूचना दी है। विशेष क्रिया या भाव की स्थिति में आस्ते इत्यादि में बैठना रूप विशेष क्रिया का होना इत्यादि यास्क ने समझाया है। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि भाव, सामान्य एवं विशेष रूप में दो होते हैं तथा सत्व या द्रव्य भी सामान्य एवं विशेष रूप में दो होते हैं।

इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः।।1।।

हिन्दी-अनुवादः— औदुम्बरायण आचार्य के (मत में शब्द या वाक्य इन्द्रिय नित्य है। (इन्द्रिय में जब तक शब्द रहता है तब तक ही नित्य है अर्थात् अनित्य है।)

हिन्दी-भावार्थः— आचार्य औदुम्बरायण का मत यास्क ने संकेतित करते हुए कहा है कि औदुम्बरायण आचार्य वागिन्द्रिय द्वारा उच्चारण की प्रक्रिया तक ही उच्चारित शब्दों या शब्दों से निर्मित वाक्य या नाम-आख्यात-उपसर्ग एवं निपात रूप शब्द-समूह से निर्मित वाक्य की सत्ता को स्वीकार करते हैं। इसके पूर्व या पश्चात् शब्द की सत्ता को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि उनके मत में उच्चारण के बाद शब्द विनष्ट हो जाते हैं, जैसे कि कुम्भकार का ''घट'' उत्पन्न या जन्य होने के कारण किसी निश्चित काल में नष्ट हो जाता है। शब्द भी करणजन्य = इन्द्रिजन्य होने के कारण अनित्य है। यथा— ''यत्र यत्र कृतकत्वं तत्र तत्रानित्यत्वम्'' दूसरी व्याख्या के अनुसार इन्द्रियनित्यम् का अर्थ है इन्द्रिये नित्यम् = इन्द्रिय में ठहरा हुआ, अतएव नित्य है। यहाँ इन्द्रिय को दिव्य इन्द्रिय एवं पुरुष इन्द्रिय इन दो भागों में मानना होगा। मनुष्य प्रादुर्भाव के पूर्व भी दिव्य श्रोत इन्द्रिय में शब्द विद्यमान रहते हैं, अतः वे नित्य हैं। मनुष्य में जो श्रोत्रेन्द्रिय है वह अनित्य है। आकाश का गुण शब्द है। श्रोत्र आकाश का रूप है। उसी मार्ग से शब्द हृदयाकाश का गुण बन जाता है तथा उच्चारण प्रक्रिया से मुख द्वारा विशेष शब्दों के रूप में उत्पन्न होता है। उत्पन्न होने अर्थात् व्यक्त-विशिष्ट ध्वनि 'रामः गच्छति' इत्यादि के रूप में व्यवहृत होता है। आचार्य औदुम्बरायण ऐसे ही शब्दों को इन्द्रियनित्यम् वचनम् कहते हैं। इस प्रक्रिया में करण व्यापार = इन्द्रिय व्यापार से कार्य रूप शब्द उत्पन्न होता है एवं जो उत्पन्न होता है, वह नष्ट भी होता है यही नैय्यायिकों का भी मत है। नैय्यायिकों के मत में

एवं आचार्य औदुम्बरायण के मत में भेद यह है कि आचार्य औदुम्बरायण ने यहाँ अति सूक्ष्मरूप में इन्द्रिय नित्यम् वचनम् के द्वारा शब्द की परिमार्थिक एवं ऐहिक दोनों ही स्थितियों को समझा दिया है, जब कि नैय्यायिक मात्र जन्यत्व के कारण अर्थात् मुख-जन्य-शब्द को कार्य की श्रेणी में रखकर से अनित्य मानते हैं।

तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यते

प्रसंग:— शब्दानित्यत्व से दोष की सम्भावना:—

हिन्दी-भावार्थ:— इन्द्रिय-नित्य, अर्थात् जब तक इन्द्रिय से शब्द बाहर उच्चारित नहीं होते तब तक ही वह अस्तित्व में रहता है, तत्पश्चात् वह नष्ट हो जाता है। अत: सामान्य रूप में औदुम्बरायण के मतानुसार शब्द के अनित्य होने के कारण शब्दों के जो नामाख्यात्, उपसर्ग एवं निपात ये चार विभाग यास्कीय निरुक्त में पहले कहे गये हैं, वे चार विभाग नहीं हो सकते, क्योंकि ''एकतिङ् वाक्यम्'' या ''पदानां समूहो वाक्यम्'' के अनुसार वाक्यों में संज्ञापद एवं क्रिया पद का एक साथ उच्चारण नहीं हो सकने के कारण इन दोनों का सहभाव नहीं हो सकता, अत: पदों के चार विभाग भी सम्भव नहीं हो सकते।

अयुगपदुत्पन्नानां वा शब्दानामितरेतरोपदेश:

शास्त्रकृतो योगश्च।।

प्रसंग:—शब्दानित्यत्व पक्ष में द्वितीय तर्क।

हिन्दी-अनुवाद:— एक साथ उत्पन्न नहीं होने वाले शब्दों का एक-दूसरे के साथ (वाक्य रचना के प्रसंग में) सम्बन्ध (तथा) शब्दशास्त्रोक्त प्रकृति-प्रत्यय का सम्बन्ध (भी उत्पन्न नहीं हो सकता)।

हिन्दी-भावार्थ:— ''इन्द्रियनित्यं वचनम्'' अर्थात् शब्द अनित्य है, इसे मान लेने पर दूसरा दोष यह होगा कि अलग-अलग उत्पन्न शब्दों का परस्पर मुख्यतत्वामुख्यत्व सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि पूर्व में उच्चारित ''पद'' उत्तर काल में उच्चारित पद से पहले ही नष्ट हो जायेगा, क्योंकि मुख-इन्द्रिय से उच्चारित शब्द (जो लोक में व्यवहार्य है) उत्पन्न होने के बाद ही नष्ट हो जाता है। अत: नष्ट एवं अनष्ट पदों में मुख्यामुख्य सम्बन्ध नहीं हो सकता तथा पाणिनीयादिं व्यांकरण-शास्त्र द्वारा विरचित नियमानुसार प्रकृति-प्रत्यय-सम्बन्ध भी उपपन्न नहीं हो सकता। यहाँ औदुम्बरायण शब्द के अनित्य से पद विभाग की असंभावना नामाख्यातादि का परस्पर मुख्यामुख्य सम्बन्ध, प्रकृति-प्रत्यय विभाग एवं सम्बन्ध को असिद्ध करने का प्रयास किया है। यद्यपि आचार्य यास्क ने ही औदुम्बरायण के मत को पूर्वपक्ष में रखकर उसका खण्डन-मण्डन आगे किया है, फिर भी आचार्य यास्क की प्रतिपादन शैली इतनी प्रभावशालिनी है, कि पाठक के समक्ष औदुम्बरायण ही बोलते प्रतीत होते हैं।

व्याप्ति मत्त्वात्तु शब्दस्य

प्रसंग— शब्दनित्यत्व-सिद्धि।

हिन्दी-अनुवाद:— शब्द की व्यापकता के कारण तो (शब्दानित्यत्व, चतुर्विधपाद व्यवस्था समस्या एवं प्रकृति-प्रत्यय विभागादि की समस्या दूर हो जाती है)

हिन्दी-भावाथ— 'व्याप्तिमत्वात्' अर्थात् शब्द की व्यापकता के कारण पूर्वपक्षी द्वारा उठाए गये शब्द विषयक अनित्यत्वादि त्रिविध दोष दूर हो जाते हैं। व्यापित्वात् से शब्द की नित्यता को निरुक्तकार ने सिद्ध किया है। भाव यह है कि शब्द एवं आकाश का गुण-गुणीभाव सम्बन्ध है, जो समवाय सम्बन्ध है तथा नित्य है। हृदयाकाश में शब्द सर्वदा विद्यमान रहता है। वहीं अभिधानरूपा एवं अभिधेयरूपा बुद्धि प्रतिष्ठित है। वही बुद्धि वक्ता के विशेष

प्रयास से उच्चारण अवयवों की सहायता से घट-पट-रूप विशेष शब्द के रूप में मुख से बाहर आती है एवं वही बाह्य शब्द उच्चारणानन्तर नष्ट हो जाता है, न कि आकार रूप शब्द। शब्द तो पुन: श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा प्रविष्ट होकर अर्थ का प्रत्यायन = ज्ञापन कराता है। अत: एक बार मुख से निकलने एवं नष्ट हो जाने के बाद भी कर्णकुहर के माध्यम से शब्दार्थ का अवगमन कराता है, जिससे हम ज्ञान का अनुभव करते हैं कि इस शब्द के उच्चारण से यह अर्थ निकलता है इत्यादि। अत: पुन: इन्द्रिय को व्याप्त करने के कारण इसे नित्य माना गया है। अगर यह नष्ट हो जाता है तो हम लोग अपने द्वारा उच्चारित शब्द को ही न सुन सकते न उसके अर्थानुसार प्रवृत्त होते। अगर यह नष्ट हो जाता है तो हम लोग अपने द्वारा उच्चारित शब्द को ही न सुन सकते न उसके अर्थानुसार प्रवृत्त होते। अत: यह सिद्ध होता है कि शब्द व्यापक होने के कारण नित्य है। जब शब्द नित्य हैं तो उनके चतुर्विध विभाग एवं प्रकृति-प्रत्यय सम्बन्ध भी सिद्ध हो जाते हैं, अत: पूर्वपक्षी का आरोप व्यर्थ है।

अणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थम् लोके।

प्रसंग— शब्द संकेत से लोक-व्यवहार में सुविधा।

हिन्दी-अनुवाद— संसार में शब्द द्वारा संकेत करण के व्यवहार-लाघव के कारण (शब्द-व्यवहार उचित है।)

हिन्दी-भावार्थ— ''व्यवहार के लिए शब्द की व्यापकता के आधार पर इसकी नित्यता को स्वीकार करके पद व्यवस्था एवं पदों के विभाग तथा पदों की शुद्धता के लिए व्याकरणादि शब्द शास्त्रों को पढ़ने की अपेक्षा हस्त-इत्यादि आंगिक अभिनयों द्वारा लोक व्यवहार चलाना सरल है''— यदि कोई ऐसी शङ्का करे तो वह ठीक नहीं है— क्योंकि अभिनयादि कार्यों से या हस्तादि की मुद्राओं से निश्चिततार्थ की प्रतीति या संकेतकरण नहीं हो सकता जबकि शब्द अपने नियत शब्दार्थ को संकेतित करने में ज्यादा सक्षम है।

''तेषां मनुष्य वद्देवताभिधानम्''

प्रसंग— लौकिक व्यवहार के अतिरिक्त उन शब्दों का देवलोक में भी यथावत् प्रयोग का प्रतिपादन।

हिन्दी-अनुवाद— उन शब्दों (चतुर्विध शब्दों) का मनुष्य प्रयोग की तरह देव-प्रयोग भी होता है।

हिन्दी-भावार्थ:— पूर्व में व्यापकता के आधार पर शब्द की नित्यता एवं चतुर्विध पद विभाग को सिद्ध किया जा चुका है। इसी प्रसंग में प्रकृति-प्रत्यय विभाग को भी समझाया जा चुका है। इस स्थल पर आचार्य यास्क कुछ विशेष भाव अभिव्यक्त करना चाहते हैं, जिसे यहाँ स्पष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है। जैसा कि हम जानते हैं कि भारतीय संस्कृति एवं शास्त्रों के अनुसार दु:ख, सुख, लोक एवं ऋचाओं या वैदिक-मन्त्रों की व्याख्याओं को भौतिक, वैदिक एवं आध्यात्मिक इन तीन रूपों में देखा गया है। अत: भौतिक लोक से अध्यात्म लोक तक के पारस्परिक सम्बन्ध को समुचित ढंग से समझाना वैदिक साहित्य का प्रयोजन है। इस स्थिति में हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि शब्द-व्यवहार के माध्यम से ही हम इन त्रिविध वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध को समझ सकते हैं। शब्द समूह सदा नित्य रहता हुआ भी ईन्द्रियजन्य होकर अनित्य की तरह प्रतिभासित होता है। शब्द नित्यत्व की अवधारणा को सिद्ध करने के बाद निरुक्तकार ने लोकव्यवहार के लिए अभिनयादि की अपेक्षा शब्द-समूह की महत्ता को समझाया है। लोक व्यवहार के बाद इन्हीं चतुर्विध शब्दों से दैवीकर्म भी सम्पादित होते हैं'' इस सिद्धान्त की स्थापना के लिए ''मनुष्यवद् देवताभिधानम्''— ऐसा निरुक्तकार ने कहा है। अत: तात्पर्यार्थ यह है कि जिस प्रकार इन नामाख्यात-उपसर्ग निपातों के सहयोग से बने वाक्यों एवं वाक्यांशों के आधार पर मनुष्य-व्यवहार चलता है, उसी प्रकार देवताओं के विषय में भी समझना चाहिए।

"पुरुषाविद्यानित्यत्वाकर्मसम्पत्तिर्मन्त्रोवेदे"

प्रसंग— पुरुषाविद्या = (ज्ञान) का अनित्यत्व।

हिन्दी-अनुवादः— पुरुष-विज्ञान के अनित्य होने के कारण कर्म को फलवान् बनाने वाला मन्त्र वेद में है।

हिन्दी-भावार्थ— मनुष्य एवं देवता में शब्द व्यवहार की साम्यता होने पर भी मनुष्य की स्मरणशक्ति कभी-कभी क्षीण हो जाती है तथा अनभ्यास एवं तपविहीनता के कारण अपने वाक्य रचना को भी वह भूल सकता है। मानव वाक्य में यादृच्छा (स्वेच्छा) का भाव अधिक होता है, अत: शब्दादि ज्ञान के रहते भी उसके द्वारा किये गये देवता स्मरण एवं यागादि कर्म दोषग्रस्त हो सकते हैं। अत: उस कर्म को सफल करने की क्षमता वैदिक मन्त्र में है, अत: वैदिक मन्त्रों की आवश्यकता है। वैदिक मन्त्र जिस क्रम से पठित हैं उसे अन्यथा नहीं किया जा सकता, क्योंकि कर्मस्मारक एवं देवता स्मारक ये मन्त्र उसी क्रमपाठ के माध्यम से यागादि कर्म को फलयुक्त बनाते हैं।

भावविकार वर्णनम्

षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः। जायते, अस्ति विवपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते, विनश्यति इति। जायत इति पूर्व भावस्यादिमाचष्टे, नापरभावमाचष्टे न प्रतिषेधति। अस्तीत्युत्पन्नस्य सत्त्वस्यावधारणम्। विपरिणमत इत्यप्रच्यवमानस्य तत्त्वाद्विकारम्। वर्धत इति स्वाङ्गाभ्युच्चयं सांयौगिकानां वार्थानाम्। वर्धते विजयेनेति वा वर्धते शरीरेणेति वा। अपक्षीयत इत्येतेनैव व्याख्यातः प्रतिलोमम्। विनश्यति इत्यपरभावस्यादिमाचष्टे न पूर्वभावमाचष्टे न प्रतिषेधति।।2।।

प्रसंगः— भावविकार विचारः।

हिन्दी-अनुवाद— "छह भावविकार होते हैं" ऐसा (आचार्य), वार्ष्याणि (मानते हैं)— "उत्पन्न होता है", है (अस्तित्त्व वाला है) विकृत होता है "बढ़ता है" "क्षीण होता है" (तथा) विनष्ट होता है (इस प्रकार) "उत्पन्न होता है" यह पूर्वभाव की आध्यावस्था को कहता है, अपर भाव को नहीं कहता है (परन्तु उसका) निषेध (भी) नहीं करता है। 'है' (अस्ति यह द्वितीय भाव) उत्पन्न द्रव्य को निश्चय करता है। विपरिणाम या विकार अपने मूल स्वरूप से अस्खलित तत्त्व के विकार को कहता है। (वर्धते) = बढ़ता है (यह) अपने आङ्गिक अभ्युदय या विकास को कहता है (बढ़ने के अनुकूल या समान अर्थ को कहता है) अथवा संयोग में आये अर्थों को कहता है— (जैसे) विजय से बढ़ता है, या शरीर से बढ़ता है। "अपक्षय" इसी से (वद्‌र्धते के) विपरीत भाव की व्याख्या हो गई। "नष्ट होता है" (विनश्यति) यह अपरभाव की प्रथमावस्था को कहता है, न पूर्वभाव (अस्तित्व को कहता है न (उसका) निषेध (ही) करता है।

हिन्दी-भावार्थः— "भवतीति भावस्य" इस वाक्य द्वारा आचार्य यास्क ने क्रिया के मौलिक स्वरूप को दर्शाने के बाद इनके विकारों को छह भागों में विभक्त किया है। इस भाव विकार के आधार पर विश्व की सम्पूर्ण वस्तुओं के आविर्भाव से तिरोभाव तक की क्रमबद्धता सिद्ध की जाती है। यह भाव विकार कहीं कर्मप्रकार रूप में तो कहीं भाव विकार रूप में शास्त्रों में उल्लिखित है। संख्या के विषय में भिन्नता प्रतीत होती है। यही भाव अवस्था का भी द्योतक है। अत: भाव शब्द बहुत व्यापक अर्थ में माना गया है, जिसके अनुसार क्रिया द्रव्य, अवस्था इत्यादि अनेक अर्थ भाव के माने गये हैं। विकार शब्द यहाँ प्रकार वाची है, अत: भाव विकार का अर्थ क्रिया विकार माना गया है। यही क्रिया, प्रवृत्ति निमित्त के अनुसार आख्यात, सत्त्व एवं अन्य नामों से जानी जाती है। न केवल भारतीय संस्कृति में ही भाव विकार का अपना महत्त्व है, बल्कि पाश्चात्य साहित्यों में भी इसका संकेत प्राप्त होता है— यथा शेक्सपीयर की कविताओं में। आचार्य शंकर ने इसका दार्शनिक अर्थ मानकर भाव विकार से भौतिक जगत की

ओर संकेत किया है क्योंकि, परब्रह्मपरमेश्वर में कोई ऐसा विकार नहीं होता। दूसरी विशेषता इस ''भाव'' की यह है कि इसी भाव के आधार पर सत्कार्य वाद की नीवं दिखाई देती है। 'न आचष्टे, न प्रतिषेधति' इन दो वाक्यों के द्वारा यही भाव अभिव्यक्त होता है कि क्रियाविकार, क्रिया से तथा क्रिया, नित्य द्रव्यरूप परमेश्वर की शक्ति से उत्पन्न होती है। जायते से विनश्यति तक के सभी भावविकार विकार में समाहित हो जाते हैं, वही सत् है।

अतोऽन्ये भाव विकारा एतेषामेव विकारा भवन्तीति ह

स्माह ते यथावचनमभ्यूहितव्याः।।

प्रसंग— अन्य भावविकारों का इन्हीं षड्-भाव विकारों में अन्तर्भाव।

हिन्दी-अनुवाद— इससे भिन्न जो अन्य भाव विकार हैं, वे इन छह भाव विकारों के ही प्रकार हैं ऐसा निश्चय से (आचार्य वार्ष्यायणि ने) कहा है। उनके वचनानुसार (ऊहन) तर्क से अर्थ समझ लेना चाहिए। (यथा वचनम् = का तात्पर्य है, प्रसंगानुसार)

हिन्दी-भावार्थः— इन छह भावविकारों के अतिरिक्त जो भावविशेष हैं उनका अन्तर्भाव इन्हीं छह प्रकार के भावविकारों में कर लेना चाहिए यह आचार्य वार्ष्यायणि एवं यास्क मानते हैं। इन्हें पहचानने में कठिनाई हो सकती है तथा भावों के वैविध्य के कारण उनकी सूची स्पष्ट रूप से बनाकर प्रस्तुत करना कठिन है। इसी प्रकार किस षडतिरिक्त भाव का किस भाव के विकार के रूप में रखा जाये? इसका प्रकरण के बिना निश्चय करना अति कठिन है, अत: आचार्य ''यथावचनमभ्यूहित्व्याः'' अर्थात् प्रकरणानुसार मान्त्रिकऋषि के भाव-वचन के अनुसार उन विविध भावों को समझकर इन छह प्रकारों के भावों के तुल्य समझकर अर्थ कर लेना चाहिए, जो मन्त्रार्थ करने में सहायक हो सकें।

न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायनः।

हिन्दी-अनुवादः— (क्रिया या धातु से) असम्बद्ध उपसर्ग अर्थों को निश्चित रूप से नहीं कहते।

हिन्दी-भावार्थः— आख्यात या धातु से असम्बद्ध उपसर्ग अपने अर्थों को निश्चित रूप से नहीं कहते ऐसा आचार्य शाकटायन मानते हैं। शाकटायन एक प्राचीन वैयाकरण हैं। जिनका समय युधिष्ठिर मीमांसक जी ने विक्रम से 3100 वर्ष पूर्व माना है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उपसर्ग एवं निपातों के विषय में शास्त्रकारों में द्योतकत्व एवं वाचकत्व ये दो मत प्रचलित रहे हैं। आचार्य गार्ग्य एवं यास्क उपसर्गों के वाचकत्व पक्ष के पोषक हैं उपसर्गों के वाचकत्व का अर्थ है कि उपसर्ग धातु इत्यादि के सम्बन्ध के बिना भी अपना अर्थ अभिव्यक्त करने में समर्थ हैं। इसके विपरीत शाकटायन नैयायिक एवं मीमांसक उपसर्गों को द्योतक मानते हैं। द्योतकत्व का तात्पर्य यह है कि उपसर्ग जब धातु आदि से सम्बद्ध होते हैं, तो किसी विशेष भाव का या धातु के विशेष तात्पर्य का द्योतन या प्रकाशन करते हैं। आचार्य भर्तृहरि उपसर्गों के वाचकत्व एवं द्योतकत्व इन दोनों ही पक्षों को मानते हैं। यहाँ मात्र वैयाकरणों के पक्ष को प्रस्तुत करने वाले आचार्य शाकटायन को द्योतकत्व पक्ष के आचार्य के रूप में यास्क ने उद्धृत किया है।

''नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतकाः भवन्ति''

प्रसंगः— पूर्ववत्-(शाकदायन का तर्क कि उपसर्ग द्योतक होते हैं)

हिन्दी-अनुवादः—(वे उपसर्ग) नाम एवं आख्यात के साथ मिलकर उनके अर्थों का प्रकाशन करते हैं।

हिन्दी-भावार्थ:—चतुर्विध पद विभागों में (नाम-आख्यात उपसर्ग एवं निपात) नाम में भी भाव प्रधान मानकर उसके साथ उपसर्ग का योग, सिद्ध करना आचार्य यास्क को अभीष्ट है। शाकटायन के मत का उल्लेख यह सिद्ध करता है कि विभिन्न घञादि प्रत्ययों से बनने वाली संज्ञाएँ भी उपसर्ग विशिष्ट होती हैं, न कि केवल प्रभवति, प्रकामति जैसी उपसर्ग विशिष्ट क्रियाएँ ही अपने विशेष पदार्थावगमन के लिए प्रसिद्ध हैं। अत: इन धातुओं के साथ उपसर्ग उन (धात्वर्थों) को एक नई दिशा देते हैं, जो धातु की सहायता के बिना सम्भव नहीं है। नियतार्थ में ही ये उपसर्ग धात्वर्थों को ले जाते हैं, अत: इन उपसर्गों के साथ नियत धातुओं का ही प्रयोग होता है– यथा वि+भाति = विभाति का जो अर्थ होगा वह वि-एवं भाति के योग से ही प्राय: सम्भव है न कि अन्य उपसर्ग एवं धातु के योग से। इसी प्रकार प्रहरणम्, विहरणम् इत्यादि संज्ञाओं का भी विशेष अर्थ प्र एवं वि के साथ धातु से ''ल्युट्'' करने से ही सम्भव है। अत: शकटायन का तात्पर्य यह है कि ये उपसर्ग नामों एवं आख्यातों के साथ मिलकर उनसे सम्भावित अन्य अर्थों को प्रकाशित करते हैं। सूक्ष्म दृष्टि यह है कि शाकटायन इन धात्वर्थों के विशेषार्थ के द्योतन में ही उपसर्गों का अपना प्रकाशन मानते हैं।

उच्चावचा पदार्था भवन्तीति गार्ग्य:।
तद्य एषु पदार्थः प्राहुरिमे तन्नामाख्यातयोरर्थविकरणम्।

प्रसंग:—गार्ग्य के मत में उपसर्गों के अपने अर्थ होते हैं।

हिन्दी-अनुवाद— उपसर्गों के विविध पदार्थ होते हैं ऐसा गार्ग्य (मानते हैं) वह जो इनमें (उपसर्गों में) पदार्थ का होना कहा है, वह नाम एवं आख्यात के अर्थ विकार हैं।

हिन्दी-भावार्थ:— उपसर्गों के वाचकत्व पक्ष के समर्थक आचार्य गार्ग्य का भाव यह है कि सामान्य धात्वर्थ अपने विशेषार्थ को अभिव्यक्त करने के लिए उपसर्गों की अपेक्षा रखते हैं, अत: इस कार्य में वे स्वतन्त्र नहीं हैं। (इसी कारण लगता है कि लौकिक संस्कृत व्याकरण में सोपसर्ग धातुओं की कल्पना की गयी है।) उपसर्गों में धात्वर्थ की विभिन्न रूपों एवं भावों में परिवर्तन करने की क्षमता है, अत: इसके विविध अर्थ होते हैं। इन उपसर्गों का विविधार्थ, नामार्थ एवं धात्वर्थ के विकार या विशेष भाव उपसर्गों से सम्बन्धित है। अत: गार्ग्य के मत में उपसर्ग स्वयं अपने अर्थ के वाचक हैं, द्योतक नहीं।

उपसर्गविवेचन

आ इत्यर्वागर्थे। प्र परा इत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। अभीत्याभिमुख्यम्। प्रतीत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। अति सु इत्यभि पूजार्थे। निर्दुरित्येतयोः प्रातिलोम्यम्। नि अव इति विनिग्रहार्थीयौ। उत् इत्येतयोः प्रातिलोम्यम्। समित्येकी भावम्। वि अप इत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। अनु इति सादृश्यापरभावम्। अपीति संसर्गम्। उप इत्युपजनम्। परीति सर्वतोभावम्। अधीत्युपरिभावाम्। ऐश्वर्यं वा। एवमुच्चावचानर्थान् प्राहुः। उपेक्षितव्याः।।3।।

प्रसंग— उपसर्गार्थ विचार।

हिन्दी-अनुवाद—आ-इधर या सन्निकृष्ट के अर्थ में, प्र एवं परा ''आ'' के विपरीत अर्थ को कहते हैं। अभि-सम्मुख अर्थ को (कहता है)। प्रति– यह ''अभि के विपरीत अर्थ को कहता है। ''अति'' एवं ''सु''-सम्मान, पूजा या आदर के अर्थ में हैं। निर् एवं दुर् ''अति'' एवं ''सु'' के विपरीत भाव को (कहते हैं), ''नि'' एवं ''अव''– विनिग्रहार्थक या अभिभवार्थक उपसर्ग हैं। ''उत्''– यह इन दोनों (नि'' एवं ''अव'' के) विपरीत अर्थ को (कहते हैं), 'सम'—एकीभाव या संग्रहित भाव को कहता है। ''वि'' एवं ''आप''- इसके (सम् के) विपरीत अर्थ को (कहते हैं),''अनु''-यह सादृश्य = समानता के दूसरे भाव को (कहता है), अपि = यह सम्बन्ध

ा या संसर्ग के अर्थ को (कहता है), उप-यह, वृद्धि, आधिक्य या सामीप्य के अर्थ को (कहता है) या उपचय, उपधान और उपकार-भाव को, परि-यह सर्वतोभाव = (चारों ओर) को (कहता है), आधि-यह उच्च या अत्युच्च या ऐश्वर्य के भाव = (अर्थ) को (कहता है) इस प्रकार वे (उपसर्ग) विविध अर्थों को कहते हैं उनकी परीक्षा = (ध्यान पूर्वक या सावधानीपूर्वक) ज्ञान करना चाहिए।

हिन्दी-भावार्थः— निरुक्त में कुल 20 उपसर्गों, अर्थों का उल्लेख किया गया है। इनमें उपसर्गार्थों को समझाने के लिए उपसर्गों को इस प्रकार रखा गया है, जिससे कि विपरीतार्थक उपसर्गों को अनुकूलार्थक उपसर्गों के बाद शीघ्र समझा जा सके।

द्वितीयः पादः

निपात वर्णनम्

अथ निपाताः। उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति। अप्युपमार्थे अपि कर्मोपसंग्रहार्थे, अपि पदपूरणाः।

प्रसंग— निपातों के अर्थ।

हिन्दी अनुवाद— अब निपातों का वर्णन किया जा रहा है। विभिन्न अर्थों में वे गिरते हैं, (अतः उन्हें निपात कहते हैं) (ये निपात) उपमा के अर्थ में भी अर्थोपसंग्रह के अर्थ में भी तथा पदपूरणार्थ में भी निपातन करते हैं।

हिन्दी भावार्थ— उपसर्गों के वर्णन के बाद अन्तिम पद विभाग, जिसे हम निपात कहते हैं, का वर्णन यहाँ प्रारम्भ होता है। इन्हें (च इत्यादि) को निपात इसलिए कहते हैं, क्योंकि ये विभिन्न अर्थों में आते रहते हैं या प्रयोग किए जाते हैं। कोई शब्द अपने अपने आप नहीं आ जाता बल्कि उसका प्रयोग किया जाता है। निपातों का निपतन जो अर्थ किया गया है वह गति या गमन के भाव को अभिव्यक्त करता है। अर्थात् निपात विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। निपातों की अनुमानित संख्या आचार्य विश्वेश्वर ने अपने निरुक्त की व्याख्या में 207 मानी है तथा 22 प्रादि को जोड़कर 227 इनकी संख्या हो जाती है। प्रादि को छोड़कर 207 संख्या निपातों की मानी जा सकती है। इन निपातों को तीन श्रेणियों में निरुक्तकार ने माना है— कुछ निपात तो उपमा के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, कुछ अर्थोपसंग्रह के अर्थ में एवं कुछ पदपूरणार्थक निपात माने जाते हैं।

तेषामेते चत्वार उपमार्थे भवन्ति। इवेति भाषायां च अन्वध्यायं च। अग्निरिव इन्द्र इव इति।

'न' इति प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम् उभयमन्वध्यायम्। नेन्द्रं देवममंसत इति प्रतिषेधार्थीयः पुरस्तादुपचारस्तस्य यत् प्रतिषेधति। दुर्मदासो न सुरायाम् (ऋ सं. 5, 7, 19, 2) इत्युपमार्थीयः। उपरिष्टाद्दुप चारस्तस्य येनोपमिमतीते।

हिन्दी अनुवाद— उन (निपातों) में से ये (इन, न, नु एवं चित्) चार (निपात) उपमा के अर्थ में होते हैं। 'इव' लौकिक संस्कृत भाषा में एवं वेद में (उपमा के अर्थ में प्रयुक्त होता है), 'न' यह (निपात) लौकिक संस्कृत भाषा में निषेधार्थक होता है, वेद में उपमार्थक एवं निषेधार्थक दोनों ही अर्थों में (प्रयुक्त होता है) ''इन्द्र को देव नहीं माना'' यह निषेधार्थक है। जिसका प्रतिषेध करता है उसके पहले (न) प्रयुक्त होता है। ''कुत्सित मद वाले की तरह सुरा-पान कर लेने पर'' अथवा ''सुरा पी लेने पर कुत्सित मद वाले की तरह'' जिसके साथ सादृश्य बताया जाता है (''न'' यह निपात) उसके बाद में प्रयुक्त होता है।

हिन्दी भावार्थ— 22 + 207 = 227 निपातों में इव, न, नु एव चित् ये चार उपमार्थक निपात हैं। यहाँ लौकिक संस्कृत भाषा एवं वैदिक संस्कृत भाषा में कभी अलग-अलग, कभी समान अर्थ में निपातों की प्रवृत्ति देखी जाती

है। इसी सन्दर्भ में ''इव'' एवं ''न'' इन दोनों निपातों के उभयत्र प्रवृत्ति के वैशिष्ट्य को यहाँ दर्शाया गया है। संक्षेप में हम इन्हें निम्न रूपों में समझ सकते हैं। ''इव'' = उपमार्थक—वैदिक सं. एवं लौकिक संस्कृत में। 'न' उपमार्थक वेद में। 'न' निषेधार्थक वैदिक सं. एवं लौकिक सं. में। उपमार्थक 'न' (निपात) उपमान के बाद आता है— उदा. दुर्मदासों न.। निषेधार्थक "न" (नि.) निषिद्ध होने वाले पदार्थ के पहले।

उदा.- नेन्द्रं देवममंसत।

चिदित्योषोऽनेककर्माऽऽचार्य्यश्चिदिदं ब्रूयादिति पूजायाम्। आचार्यः कस्मात्? आचारं ग्राहयति आचिनोत्यर्थान् आचिनोति बुद्धिमिति वा। दधिचिदित्युपमार्थे कुष्माषांश्चिदाहरेत्यव कुत्सिते। कुल्माषाः कुलेषु सीदन्ति।

प्रसंग— ''चित्'' निपात का वर्णन।

हिन्दी-अनुवाद—चित् (यह निपात) अनेकार्थक है (यथा) आचार्य ही (इस गूढ़ विषय को) कह सकते हैं (दूसरा नहीं)। यह पूजा अर्थ में (चित् इस निपात का प्रयोग है) (आचार्य को) आचार्य क्यों कहते हैं? (क्योंकि वह) आचरण ग्रहण करवाता है अथवा (सम्पूर्ण पाठ के तात्पर्यार्थ) अर्थों का संग्रह करता है अथवा (छात्र) बुद्धि की वृद्धि करता है। दधिचित् = दही के समान (छाछ इत्यादि) यह उपमार्थ (उपमा के अर्थ में) है। ''कुल्माष'' ही ले आओ यह निन्दा के अर्थ में है। कुल्माष (निकृष्ट धान्य) घरों में (प्रायः) रहता है।

हिन्दी-भावार्थ— 'इव' एवं 'न' इन दोनों निपातों का वर्णन करने के बाद आचार्य यास्क ने इस स्थल पर 'चित्' इस निपात का वर्णन किया है। इस 'चित्' निपात के तो अनेक अर्थ होते हैं लेकिन एकाधिक-अर्थ को अनेकार्थ समझ कर निरुक्तकार ने पूजा उपमा एवं निन्दा—इन तीन अर्थों में ''चित्'' को उदाहरण के द्वारा समझाया है। यथा—

(1) पूजा या सम्मान या प्रतिष्ठा के अर्थ में—

उदा.- आचार्यश्चिदिदं ब्रूयात्।

आचार्य ही इसे कह सकते हैं (दूसरा नहीं) यहाँ आचार्य की प्रतिष्ठा 'चित्' इस निपात से सूचित हो रही है। (क्योंकि यह ऐसा गूढ़ विषय है कि आचार्य ही इस विषय की व्याख्या कर सकते हैं— यह भाव है।)

(2) उपमा अर्थ में—

उदा. दधिचित् = (दधि = दही, चित् = तरह) = दही की तरह सफेद छाछ या पुष्प इत्यादि। अर्थात् किसी ने पूछा— छाछ कैसी होती है? उत्तर मिला, दधिचित् = दही की तरह (सफेद)।

(3) निन्दा या अवकुत्सन के अर्थ में—

उदा.—कुल्माषाँश्चिदाहर = (कुल्माषान् + चित् + आहर) = भ्रष्ट यव, या अन्नों में जो निकृष्ट अन्न कुल्माष है, उसे ले आओ। अर्थात् यदि तुम अच्छा अन्न नहीं खिला सकते तो कुल्माष ही ले आओ, मैं वही खा लूँगा।

नु इत्येषोऽनेककर्मा। इदं नु करिष्यति इति हेत्वपदेशे। कथं नु करिष्यति इत्यनुपुष्टे। 'न न्वेतदकार्षीत्' इति च।

प्रसंग— 'नु' इस निपात का वर्णन।

हिन्दी-अनुवाद— 'नु' (यह निपात) अनेकार्थक है (यथा) (क्योंकि) इसे (वह) करेगा यह हेतुकथन में है, (वह इसे) कैसे करेगा—यह अनुप्रश्न के अर्थ में है। इससे (पहले) किया नहीं है? (अर्थात् इसने पूर्व में किया है अतः करेगा) इस प्रकार (अनुप्रश्न के अर्थ में भी नु का प्रयोग होता है)।

हिन्दी-भावार्थ— इव, न, चित् एवं नु इन निपातों में 'नु' इस निपात के भी अनेक अर्थ आचार्य यास्क ने माने हैं, जिनके उदाहरण पूर्व में प्रदर्शित कर दिये गए हैं। अनेक अर्थों में दो उदाहरणों का उल्लेख इस स्थल पर निरुक्तकार ने किया है। उपमा के अर्थ में प्रयुक्त इस निपात का उदाहरण 'वृक्षस्य नु ते' इस मन्त्रखण्ड की व्याख्या के द्वारा समझाया गया है। वास्तव में 'नु' यह निपात बातचीत के प्रसंग में आने वाले आनुषंगिक भावों एवं भावाभिव्यक्ति की परिस्थिति को लक्षित करता है, जिसे हेत्वपदेश एवं अनुप्रश्न के अर्थ में यास्क ने माना है।

अथाप्युपमार्थे भवति। वृक्षस्य नु ते पुरुहूंत वयाः (ऋ., 6, 6, 17, 3) वृक्षस्य इव ते पुरुहूतशाखाः। वयाः शाखाः, वेतेर्वातायना भवन्ति। शाखाः खशयाः शक्नोतेर्वा।।

प्रसंग— उपमार्थक 'नु' इस निपात का सोदाहरण निरूपण।

हिन्दी-अर्थ— और यह 'नु' निपात उपमा के अर्थ में भी होता है। यथा "वृक्षस्य नु ते पुरुहूतवयाः" वृक्ष की शाखाओं की तरह हे (बहूतों द्वारा आवाहित) इन्द्र! तुम्हारी.....वृक्ष की शाखाओं की तरह तुम्हारी हे इन्द्र! वयाः शाखा (को कहते हैं) वी– धातु से वयाः (बना है क्योंकि) वायु से वयाः = शाखाएँ वातायनाः भवन्ति = वायु मार्ग वाली होती हैं हिलती रहती हैं। शाखा (को शाखा इसलिए कहते हैं, क्योंकि वे) आकाश में सोती हैं।

हिन्दी-भावार्थ— पूर्व में 'इव' न, चित् एवं "नु" इन चार निपातों को उपमा के अर्थ में यास्क ने बताया था। अब इन चारों निपातों में नु के उपमार्थ प्रयोग को यहाँ सोदाहरण प्रस्तुत किया गया है। 'इव' को छोड़कर शेष तीन (न, चित् एवं नु) अनेकार्थक निपात माने गए हैं। अनेकार्थता का तात्पर्य है— एक अर्थ से अधिक अर्थों में प्रयुक्त होना। इसे निम्नलिखित रूप में संक्षेप में देखा जा सकता है।

निपात	अर्थ में	उदा.
1. इव	उपमा में (लौ. सं. एवं वै. सं.)	अग्निरिव
		इन्द्र इव
2. न	प्रतिषेध में (लौ. संस्कृत)	
'न'	प्रतिषेध एवं उपमा में	नेन्द्रं
	(वैदिक सं.)	देवममंसत
		(प्रतिषेध)
		दुर्मदासो न सुरायाम्
		(उपमा के अर्थ में)
3. चित्	पूजा	आचार्यश्चिदिदं ब्रूयात्।
	उपमा	दधिचित्।
	कुत्सा	कुल्माषांश्चिदाहर।
4. 'नु'	हेतुकथन इदं नु करिष्यति।	
	अनुप्रश्न (1) कथं नु करिष्यति?	
	(2) न न्वेतदकार्षीत्।	

कर्मोपसंग्रहार्थक—निपात का वर्णन

अथ यस्या गमदर्थपृथक्त्वमह विज्ञायते न त्वौद्देशिवमिव विग्रहेण पृथक्त्वात् स कर्मोपसंग्रहः।

NOTES

प्रसंग— कर्मोपसंग्रह निपात का निरूपण।

हिन्दी-अर्थ— अब (कर्मोपसंग्रहार्थक निपातों का वर्णन किया जा रहा है) जिसके आगमन से (वस्तुओं के अलग अर्थ की निश्चित प्रतीति हो; किन्तु अलग-अलग नाम ग्रहण की तरह नहीं, विग्रह वाक्य से ही पृथक् हो जाने से, 'वह' कर्मोपसंग्रह (कहा जाता है।)

(अर्थात् जिस निपात के आगमन से अर्थ का पार्थक्य तो निश्चित रूप से ज्ञात होता हो; लेकिन (समास के शब्दों को) अलग-अलग बताने की तरह नहीं, (क्योंकि वह) पार्थक्य तो विग्रह से स्पष्ट हो जाता है (ऐसे निपात को) कर्मोपसंग्रह: = अर्थोपसंग्रह (निपात कहते) हैं।

हिन्दी-भावार्थ— कर्मोपसंग्रहार्थकनिपात के आने से अर्थ का निश्चित रूप से पार्थक्य प्रतीत होता है— यथा ''राम-श्यामौ'' यह एक द्वन्द्व समास का उदाहरण है, जिसमें दोनों 'राम एवं श्याम' पद सुनाई देते हैं। इसी प्रकार ''पितरौ'' में मात्र एक शब्द ''पितृ से बना द्विवचनान्त ''पितरौ'' दिखाई देता है। इन दोनों ही उदाहरणों का समासार्थ = संक्षेप में या दोनों राम एवं श्याम का समुच्चय = समूह रूप में ''गच्छत' '' या ''स्त:'' इत्यादि एक तिङ् से सम्बन्ध है। यहाँ ''राम-श्याम'' का समूहार्थक भाव ही समास में अभीष्ट है। इसी प्रकार ''मातापितरौ'' या ''पितरौ'' इसमें भी समझ लेना चाहिए। इन वाक्यों में, जब विग्रहावस्था में 'च' इस निपात क (जो इन वाक्यों में अश्रुत या अनुपस्थित है) अध्याहार करते हैं, तो ये समस्त पद—रामश्च श्यामश्च, या राम: श्यामश्च, ''माता च पिता च'' या ''माता पिता च'' इन रूपों में दिखाई देते हैं; जिससे समुच्चय = (योजक) निपात है, वह इन दोनों पदों या पदार्थों का ''गच्छत:'' ''स्त:'' इत्यादि गम्यमान क्रियाओं के सामूहिक रूप में सम्बन्ध को सूचित कर रहा है या इन दोनों का समस्तार्थ के घटक-पदार्थों को अलग-अलग करके प्रकट करता है। लेकिन हमें यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि ''च'' यह योजक निपात वस्तुओं के अलग-अलग मात्र नाम का उल्लेख करने के लिए है। ''न तु औद्देशिकमिव'' से यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुओं का नामश: उल्लेख करना इसका उद्देश्य नहीं है, क्योंकि उस कार्य की सिद्धि तो विग्रह से ही हो जाती है। अर्थात् यहाँ ''गाव:'' ''पुरुषा:'' इत्यादि जैसी कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। ''न त्वौद्देशिकमिव'' के अर्थ के प्रसंग में डॉ. विश्वेश्वर जी लिखते हैं– ''च का समावेश करके रामश्च लक्ष्मणश्च' इस प्रकार के विग्रह के द्वारा पृथक हो जाने से मूल रूप (औद्देशिक रूप) नहीं रह जाता''— यहाँ कठिनाई यह है कि जब यास्क यह कह ही चुके हैं कि ''अर्थपृथक्त्वमहविज्ञायते'' तो पुन: 'न तु औद्देशिकमिव' कहने की क्या जरूरत थी? यह तो निश्चित ही है कि 'च' के आगमन या अध्याहार से अर्थ पार्थक्य जब होगा, तो ''राम लक्ष्मणौ'' को विकृत होना ही पड़ेगा। यहाँ तो यास्क का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार ''त्रिधाशास्त्रस्य प्रवृत्ति:'' के प्रसंग में ''वस्तुसंकीर्तनमुद्देश:'' (अर्थात् जिस शास्त्र का हम अध्ययन करने जा रहे हैं उस शास्त्र के पदार्थों को पहले सूचीबद्ध कर लें, तब उसके लक्षण बनायें या समझें तथा उस लक्षण की परीक्षा करें) की तरह अलग-अलग शब्दों का उल्लेख करना 'च' इत्यादि निपातों का कार्य नहीं हैं। यह कार्य विग्रह करते समय ही सिद्ध हो जाता है, अर्थात् विग्रह के समय 'राम' एवं 'श्याम' इत्यादि ''सु'' प्रत्यय से पूर्ण होकर अपना पदत्व एवं पदार्थत्व तो अलग-अलग सिद्ध कर ही देते हैं।

'च' इति समुच्चयार्थ:। उभाभ्यां संप्रयुज्यते। 'अहं' च त्वं च वृत्रहन्' (ऋ 6/4/23/11) इति। एतिस्मिन्नेवार्थे ''देवेभ्यश्च पितृश्य आ'' (ऋ 7/6/22/1) इति आकार:। 'वा' इति विचारणार्थे। 'हन्ताहं पृथिवीमिमांनिद—ध ाानीह वेह वा' (ऋ 8, 6, 27, 3) इति। अथापि समुच्चयार्थे भवति।।4।।

प्रसंग— सोदाहरण कर्मोपसंग्रहार्थक निपात वर्णन। वायुर्वात्वा मनुर्वा त्वा इति।

अथापि समुच्चयार्थें भवति एवञ्च वा इति निपातः वायुर्वा त्वामनुर्वात्वा—य. सं. 9-7।

NOTES

हिन्दी-अर्थ— 'च' यह निपात समुच्चयार्थक है (तथा) दोनों (पक्षों) द्वारा प्रयुक्त होता है। मैं और तुम वृत्रहन्ता इन्द्र! यह (समुच्चयार्थक है) इसी अर्थ में (समुच्चयार्थ में) देवताओं के लिए एवं पितरों के लिए— इस प्रकार (उदाहरण में) 'आ' यह निपात (समुच्चयार्थ में है) 'वा' यह निपात विचारार्थक है, अह ! (अब) मैं पृथिवी को (उठाकर) यहाँ रखूँ अथवा यहाँ रखूँ—इस प्रकार (इस वाक्य में 'वा' विचारार्थक है) और (यह वा निपात) समुच्चय के अर्थ में भी होता है।

उदा.— वायु देवता तुम्हें मनु देवता तुम्हें (सामूहिक रूप में मिलकर हे अश्व्! तुम्हें रथ में जोते) इति = इस प्रकार (के उदाहरण में वा समुच्चयार्थक है)

हिन्दी-भावार्थ— कर्मोपसंग्रहार्थक निपातों में यहाँ 'च', 'आ' एवं 'वा' इन तीन निपातों के समुच्चय एवं विचार ये दो अर्थ हैं। इन तीनों ही निपातों का समुच्चय अर्थ तो होता ही है, लेकिन 'वा' इस निपात का समुच्चय के अतिरिक्त विचार भी अर्थ होता है। अत: सारांश यह है कि च एवं आ समुच्चयार्थक निपात हैं जबकि वा समुच्चयार्थक एवं विचारार्थक निपात है।

'अह' इति च 'ह' इति च विनिग्रहार्थीयौ पूर्वेण सम्प्रयुज्येते। अयमह इदं करोतु अयमिदम्। इदं ह करिष्यति। इदं न करिष्यति इति।

प्रसंग—(1) "अह"— 'ह' इन निपातों का वर्णन।

हिन्दी-अर्थ— 'अह' एवं 'ह' ये दोनों (ही कर्मोपसंग्रहार्थक निपात) नियमार्थक (निपात) हैं। तथा (जिन दो विषयों में से जिसका वे नियमन = नियन्त्रित करते हैं, उनसे) पूर्व प्रयुक्त होते हैं। (उदा.) अयमह इदं करोतु = यह इस कार्य को करें, अयमिदम् = यह (व्यक्ति) इस कार्य को। इदं ह करिष्यति = (यह) इसे ही करेगा, इदं न करिष्यति = इस (कार्य) को नहीं करेगा— इस प्रकार।

हिन्दी-भावार्थ— 'अह' एवं 'ह' ये दोनों निपात नियामक निपात हैं, जिनका प्रयोग नियम्य वस्तु या क्रिया के पूर्व में होता है। अभी तक निम्नलिखित 5 प्रकार के कर्मोपसंग्रहार्थक निपातों का सोदाहरण निरूपण कर दिया गया यथा—

निपात	**अर्थ में**	**उदाहरण**
1. 'च'	समुच्चय	अहं च त्वं च वृत्रहन्।
2. 'आ'	समुच्चय	देवेभ्यश्च पितृभ्य आ।
3. 'वा'	(क) समुच्चय	वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा।
	(ख) विचार हन्ताहं पृथिवीमिमां	निदधानीह वेह वा।
4. "अह"	नियमन	अयहमह इदं करोतु अयमिदम्।
5. 'ह'	नियमन	इदं ह करिष्यति इदं न करिष्यति।

अथापि 'उ' कार एतस्मिन्नेवार्थे उत्तरेण। मृषेमे वदन्ति सत्यमुते वदन्ति' इति। अथापि पदपूरणः ''इदमु तदु''।

प्रसंग— 'उ' कर्मोपसंग्रहार्थक निपात का वर्णन।

हिन्दी-अर्थ— एवं इसी (विनिग्रह) के अर्थ में उकार द्वितीय वाक्य के साथ प्रयुक्त होता है। (उदा.) मृषेमे वदन्ति = ये लोग झूठ बोलते हैं। सत्यम् उ ते वदन्ति = वे लोग सत्य बोलते हैं। और (यह 'उ' निपात) पदपूरक भी होता है- (उदा.) ''इदम् 'उ' तद् उ = यह, वह (यहाँ 'उ' का कोई विशेष अर्थ नहीं है, अत: पदपूरणार्थक माना गया है।)

हिन्दी-भावार्थ—कर्मोपसंग्रहार्थक निपातों में यहाँ 'उ' इस कर्मोपसंग्रहार्थक निपात के निम्नस्थ दो अर्थ बताए गए हैं; यथा—

''उ'' कर्मोपसंग्रहार्थक निपात।

विनिग्रहार्थक— 'उ' कार पदपूरण — 'उ' — कार

उदा. मृषेमे वदन्ति, सत्यमुते वदन्ति उदा. इदमु तदु।

हि इत्येषोऽनेककर्मा। इदं हि करिष्यति' इति हेत्वपदेशे कथं हि करिष्यति' इत्यनुपृष्टे। 'कथं हि व्याकरिष्यति' इत्यसूयायाम्।

'किल' इति विद्याप्रकर्षे। 'एवं किल' इति। अथापि 'न' 'ननु' इत्येताभ्यां संप्रयुज्यते अनुपृष्टे। न किलैवम् ननु किलैवम्।

प्रसंग— 'हि' एवं 'किल' — इन दो निपातों का सोदाहरण निरूपण।

हिन्दी-अनुवाद— ''हि'' यह निपात अनेकार्थक (अनेक अर्थों में प्रयुक्त होने वाला) निपात है—(जैसे) ''क्योंकि इसे (वह) करेगा—यह कारण-व्यवहार के अर्थ में है। कैसे करेगा? यह अनुप्रश्नात्मक व्यवहार में प्रयुक्त है। यह कैसे व्युत्पत्ति कर सकता है (जबकि जानता नहीं?) यह असूयार्थक है (अर्थात् उसके उत्तर देने की अक्षमता को द्योतित करने के लिए 'हि' का प्रयोग हुआ है।)

हिन्दी-भावार्थ— पदपूरणार्थक 'उ' इस निपात के वर्णन के बाद यहाँ 'हि' एवं 'किल' इन दो निपातों को सोदाहरण वर्णन किया गया। 'हि' यह निपात अनेक अर्थों में प्रयुक्त होने वाला निपात है। प्राय: एक से अधिक अर्थ में प्रयोग होने वाले शब्दों को आचार्य यास्क अनेकार्थक शब्द से कहते हैं। 'हि' यह निपात हेत्वपदेश: = हेतु कथन में (अनुपृष्टार्थे) पुन: पूछने के अर्थ में तथा निन्दा के अर्थ में मानकर दर्शाया गया है। ''किल'' यह निपात विद्याप्रकर्ष = ज्ञानप्रकर्ष तथा पुन: पूछने के अर्थ में (अनुष्टार्थ में) माना गया है। अनुपृष्टार्थ में जब यह ''किल'' निपात प्रयुक्त होता है तब 'न' एवं 'ननु' के साथ रहता है। संक्षेप में हम इन निपातों को निम्नस्थ प्रकार से समझ सकते हैं-

निपात	**अर्थ**	**उदाहरण**
1. हि	(क) हेत्वपदेश के अर्थ में	इदं हि करिष्यति।
	(ख) पुन: पूछने के अर्थ में	कथं हि करिष्यति?

	(ग) असूया के अर्थ में	कथं हि व्याकरिष्यति?
2. किल	(क) ज्ञानोत्कर्ष के अर्थ में	एवं किल
	(ख) पुनः पूछने के अर्थ में	'न' किलैवम् (क)
	(ग) 'न' एवं 'ननु' के साथ	ननु किलैवम् (ख)

'मा' इति प्रतिषेधे। मा कार्षीः 'मा हार्षीः' इति च। खलु इति च। 'खलु कृत्वा' खलु कृतम्। अथापि पदपूरणः। एवं खलु तद् बभूव इति। शश्वत् इति 'विचिकित्सार्थीयो भाषायाम्। शश्वदेवम् इत्यनुपृष्टे। 'एवं शश्वत्' इत्यस्वयं पृष्टे।5।।

प्रसंगः— मा, खलु एवं शश्वत् इन निपातों का सोदाहरणं निरूपण।

हिन्दी-अनुवादः— 'मा' यह निपात निषेध के अर्थ में प्रयुक्त होता है—(यथा) माकार्षीः = मत करो, मा हार्षीः = मत चुराओ— इस प्रकार। 'खलु' यह निपात भी निषेधार्थक है—यथा—खलुकृत्वा = नहीं करना चाहिए। एवं यह 'खलु' निपात पदपूरणार्थ में भी प्रयुक्त दिखाई देता है—यथा—एवं खलु तद्बभूव = वह कार्य इस प्रकार सम्पन्न हुआ। (यहाँ खलु का कोई विशेष अर्थ नहीं है। लौकिक सं. भाषा में, यह ''शश्वत्'' निपात संशयात्मक एवं निश्चयात्मक अर्थ को बताता है। शश्वदेवम् = क्या ऐसा ही है, इस प्रकार अनुप्रश्न में (शश्वत् इस निपात का पूर्व प्रयोग होता है। एवं शश्वत् = हाँ, ऐसा ही है— इस प्रकार दूसरे के पूछने में (शश्वत् का बाद में प्रयोग होता है।)

हिन्दी-भावार्थः— इस खण्ड में ''मा'' एवं ''शश्वत्'' इन तीन निपातों का सोदाहरण वर्णन हुआ है। इन निपातों के अर्थों को निम्न रूप में समझा जा सकता है—

निपात	**अर्थ में**	**उदाहरण**
1. 'मा'	निषेध	(क) मा कार्षीः
		(ख) मा हार्षीः
2. 'खलु'	निषेध	(क) खलु कृत्वा
		(ख) खलु कृतम्
3. ''खलु''	पदपूरण	एवं खलुतद्बभूव
4. ''शश्वत्''	विचिकित्सा	(क) शश्वदेवम्-अनुपृष्टार्थ में
	(निश्चय)	(ख) एवं शश्वत्—दूसरे के पूछने पर उत्तर के रूप में।

अभी तक उपवर्णित निपातों का विवरण

निपात	**अर्थ में**	**उदाहरण**
1. इव	उपमा में	अग्निरिव, इन्द्रइव
	(लौ. सं. एवं वै. सं.)	

NOTES

2. 'न'		(क) प्रतिषेध में
	(लौ. सं.)	
		(ख) प्रतिषेध एवं उपमा में
		(क) नेन्द्रं देवममंसत (प्रतिषेध)
		(ख) दुर्मदासोनसुरायाम् (उपमा में)
3. चित्	(क) पूजा के अर्थ में	आचार्यश्चिदिदं ब्रूयात्
	(ख) उपमा के अर्थ में	दधिचित्
	(ग) कुत्सा (निन्दा) के अर्थ में	कुल्माषांश्चिदाहर
4. नु	(क) हेतु कथन के अर्थ में	इदं नु करिष्यति
	(ख) अनुप्रश्न (किसी के	कथं नु करिष्यति ?
	पूछने पर)	न न्वेतदकार्षीत्।
5. 'च'	समुच्चयार्थक	अहं च त्वं च वृत्रहन्।
6. आ	समुच्चयार्थक	देवेभ्यश्चपितृभ्य आ।
7. वा	समुच्चयार्थक	वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा।
	विचारणार्थक	हन्ताहं पृथिवीमिमां
		निदधानीह वेह वा-
8. अह	नियमन	अयमह इदं करोतु
		अयमिदम्
9. 'ह'	नियमन	इदं ह करिष्यति।
10. 'उ'	विनिग्रहार्थक	मृषेमेवदन्ति सत्यमुते
		वदन्ति
	पदपूरणार्थक	इदमु तदु
11. हि	हेत्वपदेश के अर्थ में	इदं हि करिष्यति
	पुन: पूछने के अर्थ में	कथं हि करिष्यति
	असूया के अर्थ में	कथं हि व्याकरिष्यति

12. किल ज्ञानोत्कर्ष के अर्थ में		एवं किल
	पुन: पूछने के अर्थ में	न किलैवम्
	(न, ननु के साथ)	ननु किलैवम्
13. मा	निषेधार्थक	मा कार्षी:, मा हार्षी:
14. खलु निषेधार्थक		खलुकृत्वा, खलुकृतम्।
15. शश्वत् विचिकित्सार्थीय		शश्वदेवम्-अनुपृं.
(निश्चार्थक) एवं शश्वत्		(दूसरे के पूछने पर उत्तर देते समय)

तृतीय: पाद:

'नूनम्' इति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम्। उभयम् अन्वध्यायम् विचकित्सार्थीयश्च पदपूरणश्च।

प्रसंग:— 'नूनम्' निपात का वर्णन।

हिन्दी-अनुवाद— 'नूनम्' यह निपात लौकिक संस्कृत भाषा में निश्चयार्थक होता है। (जबकि) वैदिक-संस्कृत में निश्चयार्थक एवं पदपूरक दोनों होता है।

हिन्दी-भावार्थ:— नूनम् यह निपात निश्चयार्थक एवं पदपूरणार्थक होता है। लौकिक संस्कृत साहित्य में 'नूनम्' निश्चयार्थक रूप में प्रयुक्त होता है, जबकि वेद में यह निपात निश्चयार्थक एवं पदपूरणार्थक निपात के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

अथापि पदपूरण:।

नूनं सा ते प्रतिवरं जरित्रे दुहीय दिन्द्र दक्षिणा मघोनी।

शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग्रभगौ नो बृहद्वेदेम विदथै

सुवीरो:।। (ऋ. 2/6/6)

प्रसंग:— पदपूरण "नूनम्" का वर्णन।

अन्वय:— (हे) इन्द्र! सा ते मघोनी दक्षिणा नूनम् जरित्रे प्रति दुहीयत्। स्तोतृभ्य: शिक्षा मातिधग् भग: न: सुवीरा: विदथे बृहद् वदेम।

हिन्दी-अर्थ:— और (यह) पद पूरण (भी) होता है। "हे इन्द्र! तुम्हारी वह धनवती दक्षिणा स्तोता के अभीष्ट की सिद्धि करे (या अभीष्टवस्तु स्तोता को प्रदान करे)। हमें छोड़कर (अन्य स्तुति करने वाले को) मत दो। हमें ऐश्वर्य की प्राप्ति हो (जिससे) सुन्दर पुत्रों वाले हम, अपने घर या यज्ञ में ऊँचे स्वर से तुम्हारी स्तुति करें।

हिन्दी-भावार्थ:— हे इन्द्र! तुम्हारी समृद्धशालिनी दक्षिणा यजमान के अभीष्ट की सिद्धि तो करे ही, साथ-साथ तुम्हारी स्तुति करने वाले हम लोगों की कामनाओं की भी पूर्ति करे। हमें उपेक्षित कर दूसरों को कुछ मत दो बल्कि उनके साथ हम लोगों को भी दो, जिससे हम सब पुत्रादि से सम्पन्न होकर गृहकर्मों में तुम्हारी हमेशा स्तुति करते रहें।

NOTES

विशेष:

जरित्र

(1) जरित्रे = स्तोत्रे महाम्—स्कन्दस्वामी।

(2) जरित्रे = स्तुवते यजमानाय—दुर्गाचार्य:

स्तोतृभ्य:

(1) शिक्ष सर्वदैव त्वं देहि स्तोतृभ्य: कामान्—स्कन्दस्वामी।

(2) स्तोतृभ्योऽस्मभ्यं ''कामान्'' इति शेष: शिक्षा-प्रयच्छ। — नि. मु. शर्मा।

(3) स्तोतृभ्य: ''ऋत्विग्भ्योऽनुकामान्—आचार्य-दुर्ग:।

सुवीरा:

(1) सुवीरा: = सुपुत्राश्च स्यामेतिं शेष: = स्कन्दस्वामी।

(2) सुवीरा: = वीरवन्तो भवेम पुत्रवन्त:। यद्यपुत्रा: एवमयं मत्वर्थीय: सु:।

अथ पुन: पुत्रवन्त:, एवं तत: कल्याणवीरा इति समस्तार्थ:—आचार्यदुर्ग:।

(3) यदि पुत्रा न सन्ति तत: शोभनत्वविशिष्टानां तेषामपीयं प्रार्थना। अर्थयदि सन्ति तत: शोभनामात्रस्य।—स्कन्दस्वामी।

विदथे

(1) विदथे = यज्ञे, स्वेगृहे—आचार्यदुर्ग:

(2) विदथे = यज्ञे—स्कन्दस्वामी

विदथशब्दोयज्ञवचनश्छन्दसि— विद् + अर्थ → विदथ:। ''नूनम्''— यह निपात पादपूरणार्थक है, जिसका निरूपरण यहाँ यास्क ने किया है। जब पादपूरक यह निपात होता है, तो इसका कोई अर्थ नहीं होता। प्रो. उमाशंकर शर्मा एवं डॉ. कपिल देव जी शास्त्री ने ''नूनम'' का अर्थ अभी एवं आज किया है, जो उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। शायद पूर्व मंत्र में आए ''नूनम्'' के अर्थ के आधार पर ही यहाँ भी कई विद्वानों ने नूनम् का अर्थ आज किया है। बृहद्देवताकार आचार्य शौनक भी पादपूरक निपात को अर्थरहित मानते हैं—

यथा—

उच्चावचेषु चार्थेषु निपाता: समुदाहृता:।

कर्मोपसंग्रहार्थे च क्वचिच्चौपम्यकारणात्

ऊनानां पूरणार्था-वा पादानामपरे क्वचित्।

मिताक्षरेषु ग्रन्थेषु पूरणार्थास्त्वनर्थका:।।

सा ते प्रतिदुग्धां वरं जरित्रे। वरो वरयितव्यो भवति। जरिता गरिता। दक्षिणा मघोनी मघवती। मघम् इति धननाम् धेयम्, महतेर्दान कर्मण:। दक्षिणा दक्षते: समर्धयति कर्मण:। व्यृद्धं समर्धयति इति। अपि वा प्रदक्षिणागमनात् दिशमभिप्रेत्य। दिग् हस्तप्रकृति: दक्षिणो हस्तो दक्षतेरुत्साहकर्मण: दाशतेर्वा स्याद्दानकर्मण:। हस्तो हन्ते:। प्राशु: हनने।

प्रसंग:— पादपूरणार्थक 'नूनम' निपातवाले मन्त्र की यास्कीय निरुक्ति-भाष्य।

हिन्दी-अनुवाद:— सा ते प्रति दुग्धां वरं जरित्रे = वह तुम्हारी (दक्षिणा) यजमान या स्तोता को अभीष्ट (श्रेष्ठ यज्ञफल) प्रदान करे। वरो वरयितव्यो भवति = वर चुनने योग्य होता है। जरिता (स्तुति करने वाले का अर्थ है), गरिता = पूजा करने वाला। मघोनी, मघवती (क भाव प्रस्तुत करता है, जिसका अर्थ) = धनवती है (क्योंकि) मघमिति धननामधेयम् = मघ शब्द धनवाची है। मंहतेर्दानकर्मण: = दानार्थक मह धातु से मघ शब्द बना है। दक्षिणा दक्षते: समर्धयति कर्मण: = समृद्धि अर्थ वाली "दक्ष्" धातु से दक्षिणा शब्द बना है। व्यृद्धं समर्धयति = न्यूनता (या यज्ञ वैगुण्य) को पूर्ण करके (उसे यज्ञफलोन्मुख बनाकर यज्ञ को) समृद्ध करती है (अथवा 'ऋग्विग् की दीनता को दूर करके उसे समृद्ध बनाती है) अपि वा प्रदक्षिणा गमनात् दिशमभिप्रेत्य = अथवा प्रदक्षिणा गमन के कारण तथा दिशा को लक्ष्य करके दक्षिणा है, दिग्घस्तप्रकृति: = दक्षिणदिशा के नामकरण का मूल कारण (प्रजापति का) दाहिना हाथ है। दक्षिणो हस्तो दक्षतेरुत्साह कर्मण: = दक्षिण हाथ, उत्साहार्थक दक्ष धतु से बना है। दाशतेर्वा स्याद्दान कर्मण: = अथवा दानार्थक "दाशृ" धातु से निष्पन्न है। हस्तो हन्ते: प्राशुर्हनने = हस्त शब्द हन् (गत्यर्थक) धातु से बना है, क्योंकि वह शीघ्र प्रवर्तित या गति करता है या मारता है।

हिन्दी-भावार्थ:— यहाँ नूनम् सासा ते· मंत्र की यास्कीय निरुक्ति—भाष्य समाप्त होता है, जिसका मूल उद्देश्य पादपूरणार्थक 'नूनम्' इस निपात का निरूपण करना था, लेकिन अपनी निरुक्ति में नूनम् का यास्क ने वर्णन नहीं किया है।

कारण जो कुछ भी हो; लेकिन आचार्य यास्क की व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि नूनम् का पादपूरण के अतिरिक्त कोई विशेष अर्थ यहाँ नहीं है। भावार्थ यह है कि "नूनम्" शब्द ही त्रिष्टुप् छन्द को इस मन्त्र में पूर्ण करता है, क्योंकि त्रिष्टुप छन्द में 4 पाद होते हैं तथा प्रत्येक पाद में ग्यारह 2 वर्ण होते हैं। नूनम् अगर नहीं रहे तो यह छन्द-भंग हो जाएगा। इसी प्रसंग में आचार्य यास्क की निर्वचन की गंगोत्री अपना प्रवाह फैलाती है। मंत्र के मूल शब्दों के साथ आनुषंगिक शब्दों का भी निर्वचन आचार्य यास्क ने यहाँ प्रदर्शित किया है। जिन शब्दों का निर्वचन आचार्य यास्क ने यहाँ प्रस्तुत किया है— उनकी विवरणी इस प्रकार है—

(1) वर, जरित्रे, मघोनी, दक्षिणा, दक्षिण-दिशा, दक्षिण हस्त, बृहद्, विदथ, सुवीर एवं भग शब्द। इनमें वर, ज़रित्रे, मघोनी, दक्षिणा, वृहद्, धनवाची "भग" शब्द एवं सुवीर मंत्रगत शब्द हैं। इन मंत्रगत शब्दों की निरुक्ति करते-करते जब दक्षिणा शब्द पर पहुँचते हैं तो "अनुषंगिक रूप में प्राप्त होने वाले दक्षिण दिशा, दक्षिण हस्त की निरुक्ति भी कर डालते हैं। निर्वचन के विभिन्न सिद्धान्तों का उल्लेख तो निरुक्त के द्वितीय अध्याय में दिया गया है, लेकिन निर्वचन निरुक्त के प्रथम अध्याय से ही प्रारम्भ हो जाता है।

सीम् इति परिग्रहार्थीयो वा पदपूरणो वा।

(उदा.) प्र सीमा दित्यो असृजत् (ऋ 2/28/4)

प्रासृजत् इति वा, प्रासृजत् सर्वत इतिवा।

(2) (उदा.) "विसीमत: सुरुचो वेन आव: (शु. य.—13.3) इति च।

व्यावृणोत् सर्वतः आदित्यः। सुरुच आदित्य रश्मयः सुरोचनात्। अपि वा 'सीम्' इत्येतदनर्थकमुपबन्धमाददीत पञ्चमी कर्माणम्। सीम्नः सीमतः सीमातः मर्यादातः। सीमा मर्यादा विषीव्यति देशाविति।।7।।

प्रसंग— सीम् इस विनिग्रहार्थक एवं पदपूरंण निपात का वर्णन।

हिन्दी अनुवादः— सीमिति परिग्रहार्थीयो वा पदपूरणो वा = सीम् यह निपात परिग्रहार्थीय सर्वतोभाव'' को अभिव्यक्त करने वाला) निपात है, अथवा पदपूरक है। (उदा.) प्रसीमादित्योऽसृजत् = सूर्य ने अपनी रश्मियों को छोड़ा (यह पदपूरण उदा. है) (2) सूर्य ने रश्मियों को सब ओर छोड़ा (यहाँ सीम्—शब्द का सब ओर अर्थ है—अतः परिग्राहर्थक है) प्रासृजत् इति वा प्रासृजत्सर्वत इति वा = (रश्मियों को) छोड़ा अथवा (रश्मियों को) सब ओर छोड़ा। (दूसरा उदा.) विसीमतः सुरुचो वेन आवः। इति च = सूर्य ने अपनी रश्मियों को फैलाया (यह पादपूरण के अर्थ में प्रयुक्त सीम् का उदाहरण है) (2) सूर्य ने किरणों को सब ओर फैलाया। यह सीम् का परिग्रहार्थीय उदा. है। व्यावृणोत् सर्वत आदित्यः = सूर्य ने (अपनी किरणों को) सब ओर प्रकाशित किया (या खोल दिया या व्यापक बनाया) सुरुचः आदित्यरश्मयः = आदित्य की रश्मियों को सुरुच कहते हैं। सुरोचनात् = सुदीप्त होने के कारण। अपिवा 'सीम्' इत्येतत् अनर्थकमुपबन्धम् आददीत पञ्चमी कर्माणम् = स अथवा 'सीम्' में पञ्चम्यर्थक अ को निरर्थक समझना चाहिए। सीम्नः = सीमा से (ङस = पञ्चमी एकव. में सीमन् + ङस् = सीम्नः) = सीमतः = सीमा से (सीम् + अ + तसिल्) सीमा से सीमातः = अर्थात् सीमतः का पर्याय सीमातः है। सीमातः = मर्यादातः = सीमा से का अर्थ है मर्यादा से (क्योंकि) सीमा = मर्यादा = सीमा मर्यादा को कहते हैं, (क्योंकि सीमा ही मर्यादित रूप में)। विषीव्यति देशाविति = दो देशों को अलग-अलग करती है। इति = इस प्रकार सीम् से सीमा तक का निर्वचन समाप्त हुआ।

हिन्दी-भावार्थः — आचार्य यास्क ने यहाँ 'सीम्' इस निात का निर्वचन किया है। आचार्य यास्क के मत में सीम् शब्द परिग्रहार्थीय या पद पूरणार्थक निपात है। यहाँ वा का अर्थ और भी हो सकता है जिसका तात्पर्य यह है कि सीम् यह निपात परिग्रार्थीय एवं पदपूरणार्थक है। भगवान् यास्क ने इसके समर्थन में दो मन्त्रों का उल्लेख किया है तथा उन मन्त्रों का भाष्य भी किया है। यह सीम्-निपात कई अर्थों का वाचक है। पाश्चात्य विद्वान् मैक्डानल ने इसे सर्वनाम माना है, तो स्कन्द ने इसे नाम या संज्ञा। दुर्ग एवं स्कन्दभाष्य भी पूर्णरूप से इस प्रकार प्रकाश नहीं डालते। इसके गह्वर में जाने पर अनेक विसंगतियाँ आ जाती हैं, अतः यहाँ हमें यही समझना चाहिए कि आचार्य यास्क के अनुसार सीम्-शब्द परिग्रहार्थीय एवं पदपूरणार्थक निपात है। पदपूरणार्थक के रूप में ''सुरुचो वेन आवः'' इस मन्त्र का यास्क ने भाष्य नहीं किया है, लेकिन यहाँ पादपूरणार्थक सीम् स्पष्ट रूप में दिखाई देता है। यदि 'सीम्' को हटा दें तो प्रथम चरण में अक्षर कम हो जायेंगे, जिससे त्रिष्टुप् छन्द का लक्षण यहाँ सिद्ध नहीं होगा। यहाँ पद, पाद के अर्थ में समझना चाहिए। विशेष रूप से यहाँ सीम् शब्द का निर्वचन दृष्टव्य है— यथा—सीन्—सीम् + अ् = सीम सीमतः-सीम् + अ-अनर्थक.+ तसिल्-स्वार्थ में = सीमतः = सीमातः = मर्यादातः-'' अर्थात् सीमा से'' का अर्थ है, मर्यादा से। सीमा का अर्थ मर्यादा है।

त्व इति विनिग्रहार्थीय सर्वनाम अनुदात्तम्। अर्धनाम इत्येके।

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।

ब्रह्म त्वो वदति जातिविद्यां यज्ञस्यमात्रां विमिमीत उ त्वः।।

प्रसंगः— ''त्व'' सर्वनाम का निरूपण।

अन्वयः— त्वः ऋचां पोषं पुपुष्वान् आस्ते। त्वः गायत्रम् शक्वरीषु गायति। उ त्वः ब्रह्म जात विद्यां वदति। उ त्वः यज्ञस्य मात्रां विमिमीते।।

हिन्दी-अर्थः— त्व नियमनार्थक अनुदात्तस्वरयुक्त सर्वनाम है। कुछ विद्वान (इसे) अर्ध-वाचक मानते हैं।

मन्त्रार्थः— (यज्ञानुष्ठान के समय) एक (होता नामक ऋत्विज) ऋचाओं का उच्चारण करता रहता है। एक उद्गाता नामक ऋत्विज्) शक्वरी ऋचाओं पर गायत्र-साम का गायन करता है। एक ब्रह्म (नामक ऋत्विज) समय-समय पर (अपने यज्ञीय) विशेष ज्ञान का उपदेश करता है। (एवं) एक (अध्वर्यु नामक ऋत्विज) यज्ञ-स्वरूप (यज्ञ) विशेष एवं यज्ञ सामान्य की क्रियाओं) का सम्पादन करता है।

हिन्दी-भावार्थः— इस स्थल पर आचार्य यास्क ने 'त्व' इस सर्वनाम का विनियोग के माध्यम से सर्वनामत्व एवं त्व के अर्थ को समझाया है। त्व को कुछ लोग विनिग्रहार्थक एवं कुछ विद्वान ''अर्ध'' का वाचक मानते हैं- देखें निम्नस्थ विवरण-

(1) त्व = एक आस्ते होता-स्कन्दस्वामी।

(2) त्वः = एक इत्यर्थः-दुर्गवृत्तिः।

इसके अतिरिक्त-आचार्यसायण भी 'त्व' को एक पर्याय ही मानते हैं।

गेल्डनर एवं मैक्डानल-भी 'त्व' को 'एक' का वाचक सर्वनाम मानते हैं। (विशेष-द्र. निरुक्त-डॉ. क. शास्त्री पृ. -75)

इसके अतिरिक्त इस ऋचा में एक यज्ञीय मीमांसा की झलक प्रस्तुत की गयी है, जो यज्ञ में नियुक्त ऋत्विजों से सम्बन्धित है। सम्पूर्ण ऋत्विजों में होता, उद्गाता, ब्रह्म एवं अध्वर्यु ये चार ऋत्विज, मुख्य होते हैं। होता— ऋग्वेद का ज्ञाता होता है, जो यज्ञ में ऋचाओं का पाठ करता है। उद्गाता—सामवेदीय ब्राह्मण होता है, जो ऋचाओं पर गायन करता है। ब्रह्मा—अथर्ववेदी होता है तथा अन्य वेदों को भी जानता है। वही यज्ञ के समय होने वाले दोषों को दूर करने का शास्त्रीय उपाय समझाता है, अध्वर्यु— यदुर्वेद एवं यज्ञ के स्वरूप का विशेषज्ञ होता है।

मूल-यास्कीयभाष्य

''इति ऋत्विक्कर्मणा विनि योगमाचष्टे। ऋचामेकः पोषमास्ते पुपुष्वान् होता। ऋग् अर्चनी गायत्रमेको गायति शक्वरीषु उद्गाता। गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः। शक्वर्थ ऋचः शक्नोतेः। तद् यदाभिर्वृत्रमशकद्धन्तुं तच्छक्वरीणां शक्वरीत्व-मिति विज्ञायते।।

प्रसंग—पूर्ववत्।

हिन्दी-अर्थः— इति ऋत्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्ट = इस प्रकार ऋत्विजों के कर्मो का विनियोग (स्वयं ऋचा) कहती है। ऋचामेकः पोषमास्ते पुपुष्वान् होता = एक होता नामक ऋत्विज (यज्ञ में) ऋचा की पुष्टि ऋचाओं के पाठ से करता है। ऋगर्चनी = जिससे स्तुति की जाती है उसे ऋक् कहते हैं। गायत्र एको गायति शक्वुरीषु-उद्गाता = एक उद्गाता (नामक ऋत्विज) शक्वरी ऋचाओं पर गायत्र साम का गायन करता है। गायत्रं गायतेः स्तुति कर्मणः = गै-(स्तुतौ) = स्तुत्यर्थक धातु से गायत्र (यह शब्द बना है) शक्वर्य ऋचः शक्नोतेः = शक्वर्य शक् धतु से बना है। तद् यदाभिः = चूँकि इन से (इन्द्र) वृत्रमशकद्धनन्तुम् = वृत्र को मारने में समर्थ हुआ तद् शक्वरीणां शक्वरीत्वम् = उसी से शक्वरी (ऋचाओं) का शक्वरीत्व है, इति विज्ञायते = ऐसा (ब्राह्मण वाक्य से) ज्ञात होता है।

हिन्दी-भावार्थः— प्रधान रूप से ''त्व'' इस सर्वनाम का वर्णन करना यास्क का उद्देश्य है। यास्क की दृष्टि में 'त्व' एक सर्वनाम है, निपात नहीं क्योंकि निपात उदात्त स्वभाव वाले होते हैं, जबकि यह अनुदात्त है। इसके अतिरिक्त इसके दो अर्थ हैं—

(1) त्व = विनिग्रह = नियामक या निर्धारक त्व सर्वनाम।

(2) त्व = अर्ध = आर्द्धभाग। इस सन्दर्भ में आचार्य यास्क ऋकु, गायत्र एवं शक्वरी का निर्वचन भी करते हैं। ये तीनों शब्द ऋचाओं से ही सम्बन्धित है। अत: क्रम से इनका निर्वचन आचार्य यास्क ने किया है। अर्थात् ऋचाओं पर साम का गायन होता है। तथा गायत्र साम शक्वरी ऋचाओं पर गाया जाता है। अत: ये ऋचाओं से सम्बद्ध हैं। यहाँ होता के बाद उद्गाता नामक ऋत्विज का कार्य या विनियोग उपस्थापित किया गया है। आगे शेष दो चरण में आए ब्रह्मा एवं मन्त्र में अपठित अध्वर्यु शब्द का निर्वचन करेंगे।

विशेष:—

(1) विनिग्रहार्थीय— 'त्व'

अलग-अलग रूप में निर्धारण करनां विनिग्रह है। ''त्व'' का अर्थ जब हम विनिग्रह करेंगे तो इससे एक-एक ऋत्विज का कार्य अलग-अलग निर्धारित होगा। इसी कारण ऋचा त्व: इत्यादि कहा गया है। एक शब्द, अन्यार्थक, प्रधनार्थक, प्रथमार्थक तथा केवलाद्यर्थक होता है। यथा—

एकोऽन्यार्थे प्रधने च प्रथमे केवले तथा साधारणे समानेऽल्पे संख्यायाञ्च प्रयुज्यते-इति।

ब्रह्मा एको जाते जाते विद्यां वदति।

ब्रह्मा सर्वविद्य:। सर्वं वेदितुमर्हति।

ब्रह्मा परिवृढः श्रुततः। ब्रह्म परिवृढंसर्वतः। यज्ञस्य मात्रां

विमिमीते एक:

अध्वर्यु:। अध्वर्यु: = अध्वरयु:।

अध्वरं युनक्ति। अध्वरस्य नेता।

अधीयाने 'यु:' उपबन्ध:। अध्वर इति।

यज्ञनाम। ध्वरतिः हिंसाकर्मा। तत्प्रतिषेधः।।

प्रसंग— ''ऋचां त्व:''— इस मन्त्र के तृतीय तथा चतुर्थ चरण की व्याख्या एवं निरुक्ति।

हिन्दी-अर्थ:— ब्रह्म एको जाते-जाते विद्यां वदति = एक ब्रह्मा (नामक ऋत्विज्) समय-समय पर (विशेष ज्ञान का) उपदेश देता है। ब्रह्म सर्वविद्य: = ब्रह्मा सभी वेदों का ज्ञाता होता है। (इसलिए) सर्वं वेदितुमर्हति = (वह) सब कुछ जान सकता है। ब्रह्मा परिवृढ़ श्रुतत: = ब्रह्मा वेदज्ञान में (सबों की अपेक्षा) बढ़ा हुआ होता है। ब्रह्मा परिवृढं भवति = ब्रह्म (भी) परिवृद्ध = सर्वश्रेष्ठ होता है। यज्ञस्य मात्रां विमिमीते एक: अध्वर्यु: = यज्ञ के स्वरूप को एक अध्वर्यु (नामक ऋत्विज) सम्पादित करता है। अध्वर्यु: अध्वरयु: = अध्वर्यु: शब्द अध्वरयु: का वाचक है। (अध्वरयु: का अर्थ है) अध्वरं युनक्ति = यज्ञ को जोड़ता है। (अथवा) अध्वरस्य नेता = अध्वर्यु यज्ञ का प्रणेता होता है। अध्वरं कामयते इति वा = (अथवा वह) यज्ञ की कामना करता है। अपि वा = अथवा अधीयाने 'यु:' उपबन्ध: = अध्ययनार्थ में 'यु' यह प्रत्यय है। अध्वर: इति यज्ञनाम = यज्ञ का नाम अध्वर है। (अध्वर शब्द में) ध्वरति हिंसाकर्मा = ध्वृ-हिंसार्थक धातु है। तत्प्रतिषेध: (अध्वर इति भाव:) = उसका निषेध (ही अध्वर है)।

हिन्दी-भावार्थ:— आचार्य यास्क ने 'त्व' इस सर्वनाम के उदाहरण के रूप में ''ऋचां त्व'' इस मन्त्र की निरुक्तिपूर्वक व्याख्या की है। यहाँ मन्त्र के तीसरे एवं चौथे चरण की व्याख्या पूर्ण होती है, जिसमें ब्रह्मा, ब्रह्म, अध्वर्यु: एवं अध्वर शब्द के निर्वचन दिये गये हैं, जिसका विवरण इस प्रकार है—

(1) ब्रह्मा सर्वविद्यः = ब्रह्मा सभी ऋग्वेदादि का ज्ञाता होता है। सर्वं वेदितुमर्हति = सब कुछ जानता है तथा सबों में ज्ञान के क्षेत्र में श्रेष्ठ होता है, अतः उसे ब्रह्मा कहते हैं। ब्रह्म एवं ब्रह्मा में समानता की दृष्टि से आचार्य यास्क कहते हैं कि ब्रह्म भी सब ओर व्याप्त रहता है तथा सबसे श्रेष्ठ होता है। अतः वेदान्त के ब्रह्म एवं ऋत्विज ब्रह्मा में समानता यह है कि कर्म जगत् का नियन्ता ब्रह्मा एवं सृष्टि जगत् का नियन्ता आध्यात्मिक ब्रह्म है।

(2) अध्वर्युः = अध्वरयुः – अध्वर + युज् या अध्वर–युः–से अध्वर्यु शब्द बनता है।

(क) (=अध्वर्-यु = अध्वर्युः।

(ख) अध्वरं युनक्ति = यज्ञ को जोड़ता है।

(ग) अध्वरस्य नेता = अध्वर = यज्ञ का प्रणेता होता है।

(घ) अध्वरं कामयते = यज्ञ की कामना करता है।

(ङ) अध्वर + यु = अध्ययनार्थ में। अर्थात् जो यज्ञ का अध्ययन करता है, से'अध्वर्यु कहते हैं।

(3) अध्वर– ध्वृ + अच् + सुः = ध्वरः, (ध्वरः = हिंसा) जिसमें हिंसा का अभाव हो, उसे यज्ञवाची अध्वर कहते हैं।

निपात इत्येके। तत् कथमनुदात्तप्रकृतिनाम स्यात् ?

दृष्टव्यं तु भवति।

''उत त्वं संख्ये स्थिरपीतमाहुः'' (ऋ. 10; 71 : 5)

इति द्वितीयायाम्।

''उतो त्वस्मै तन्वं'' विसस्त्रे (ऋ. 10 : 71 : 4)

इति चतुर्थ्याम् ।।8।।

प्रसंग—त्व-विषयक शास्त्रार्थ—

हिन्दी-अर्थः— निपात इत्येके = ('त्व' को कुछ विद्वान्) निपात मानते हैं। तत् कथमनुदात्तप्रकृति नाम स्यात् = वह अनुदात्त स्वभाव वाला नाम (सर्वनाम पद) कैसे हो सकता है? दृष्टव्यं तु भवति = (त्व के) एकाधिक विभक्तियों में रूप दिखाई देते हैं–(यथा) उतत्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुः = और एक को ज्ञान में अविचलित या प्रशस्त कहते हैं। (अथरा देवसख्ये = रमणीय देवलोक में, उसे अविचलति कहते हैं) इति द्वितीयायाम् = इस प्रकार द्वितीय में 'त्व' शब्द है तो त्वस्मै तन्वं विसस्त्रे = और एक (अर्थज्ञ = वेदार्थ को जानने वाले के समक्ष) के लिए (अपने) शरीर को (वाणी) फैला देती है। इति = यह, चतुर्थ्याम् = चतुर्थी विभक्ति में है।

हिन्दी-भावार्थः— 'त्व' को यास्क ने सर्वनाम पद माना है; लेकिन कुछ विद्वान इसे निपात मानते हैं। सर्वनाम एवं निपात को अलग-अलग समझने के लिए विशेष कोई उपाय नहीं होने से स्वर का सहारा लिया जाता है। वेद में उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित से मुख्य तीन स्वर होते हैं, जिनके अलग-अलग ऋग्वेदादि में भेद बताए गये हैं। सर्वनाम की दो विशेषताएँ हैं– पहला यह है कि वह ''फिषोऽन्त उदान्तः'' सूत्र से अन्तोदात्त होता है, अर्थात् अन्तिम स्वरवर्ण विशिष्ट व्यञ्जनवर्ण उदात्त होता है तथा दूसरा यह कि सर्वनाम अर्थवद्. इस सूत्र की सहायता से प्रतिपादिक है।

अथापि प्रथमाबहुवचने-

मन्त्र—अक्षण्वन्त कर्णवन्तः सखाये-

मनो जवेष्वसमा बभूवुः।

आदघ्नास उपकक्षास

उत्वे ह्रदा इव स्त्वा उत्वे ददृशे।। (ऋ. 10 : 71 : 7)

आंगिरस-बृहस्पति ऋषि

छन्छ-त्रिष्टुप्

देवता—विद्या।

प्रसंग— त्व का व्ययत्व प्रतिपादन।

हिन्दी-अनुवादः—और प्रथमा के बहुवचन में (भी त्व यह सर्वनाम दिखाई देता है।)

मन्त्रार्थः— आँखों एवं कानों के समान सहपाठी भी मनोवेग में असमान होते हैं, कोई मुख तक पानी वाले (कोई) काँख (बाहुमूल) तक पानी वाले और कोई स्नाना करने योग्य जलवाले तालाब के तुल्य दिखलायी पड़ते हैं।

हिन्दी-भावार्थः— मूलरूप से आचार्य यास्क यहाँ 'त्व' इस सर्वनाम का दृष्ट-व्ययत्व सिद्ध करना चाहते हैं। द्वितीया एवं चतुर्थी में 'त्व' के रूप दर्शाने के बाद इस मन्त्र के माध्यम से "उत्वे" = और कुछ समान ज्ञान वाले सहपाठी मित्र इस अंश के द्वारा प्र. वि. बहुतवचन में 'त्व' का रूप प्रदर्शित करना चाहते हैं, लेकिन अपनी निर्वचन-दृष्टि को सब जगह प्रदर्शित करते हैं। इस मन्त्र का यास्कीय भाष्य आगे दिया जायेगा। 'त्व' के बहुवचनान्त रूप वाले इस ऋग्वैदिक मन्त्र में तीन प्रकार के छात्रों या विद्वानों की श्रेणियाँ दर्शायी गयी हैं— जिनमें कुछ विद्वानों की प्रज्ञा को या छात्र को ग्रहण शक्ति को आस्यदघ्नाह्रदा इव = मुखपर्यन्त जलाशय की तरह माना है, दूसरे को उपकक्षासः ह्रदा इव = उपकक्षा पर्यन्त जल वाले जलाशय की तरह तथा तीसरे प्रकार की छात्रप्रज्ञा को, स्नानत्व ह्रदा इव = स्नान करने लायक प्रभूत जलवाले जलाशय की तरह माना है। ये सभी छात्र-प्रज्ञा के प्रकारों के उपलक्षण हैं। अतः छात्रों की शारीरिक पूर्णता तथा समान शास्त्रीय श्रम के होते हुए भी ग्रहण, धारण की मानसिक एवं बौद्धिक क्षमता भिन्न-भिन्न होती है।

अक्षिमन्तः कर्णवन्तः सखायः। अक्षि चष्टेः अनक्तेरि त्याग्रायणः। तस्मादेते व्यक्ततरे इव भवतः इति ह विज्ञायते। कर्णः कृन्ततेः, निकृतद्वारो भवति। ऋच्छतेरित्याग्रायणः। ऋणच्छन्तीवरेवेउदगन्ताम्' इति ह विज्ञायते।

प्रसंगः— "अक्षण्वन्त." मन्त्र की यास्कीय व्याख्या।

हिन्दी-अनुवादः— आँख एवं कान वाले सहपाठी अक्षि शब्द चक्षिङ् धतु से बना है। आग्रायण आचार्य अञ्ज् धातु से (अक्ष शब्द को निष्पनन मानते हैं; क्योंकि ये (आँखें) अपेक्षाकृत व्यक्ततर होती हैं। (अतः अञ्ज् धतु से निष्पनन अक्षि शब्द है) ऐसा ज्ञात होता है। कर्ण शब्द कृती (छेदने) से बना है (क्योंकि) कटे हुए द्वारा वाले होते हैं। आग्रायण आचार्य ऋ (गतौ) धातु से (कर्ण को निष्पन्न मानते हैं (क्योंकि ये) आकाश की ओर जाते हुए शरीर के ऊपरी भाग में स्थित रहते हैं"— ऐसा विश्लेषण से (या ब्राह्मण वाक्य से) ज्ञात होता है।

हिन्दी-भावार्थ:— इस अंश में आचार्य यास्क ने 'अक्षण्वन्त: कर्णवन्त: सखाय:' तक अपना भाष्य प्रस्तुत किया है जिसमें -अक्षण्वन्त: को अक्षिमन्त: के रूप में लौकिक संस्कृत पद की कल्पना आचार्य ने की है। विशेष रूप से-अक्षि एवं कर्ण शब्द्द का इन्होंने निर्वचन किया है।

मनसां प्रजवेष्वसमा बभृवु:। आस्यदघ्ना अपरे उपकक्षदघ्ना अपरे। आस्यम् अस्यते:। आस्यदन्दत एतदन्नमिति वा।। दघ्नं दघ्यते: स्रवति कर्मण: दस्यतेर्वा स्यात, विदस्ततरं भवति। प्रस्नेया ह्रदाय इवैके। प्रस्नेया: ददृशिरे स्नानार्हा:। ह्रदो ह्रदते: शब्द कर्मण:। ह्लादतेर्वा स्यात् शीतीभावकर्मण:।।

प्रसंग:— ''अक्षण्वन्त:'' इस मन्त्र का शेष यास्कीय भाष्य एवं निरुक्ति।

हिन्दी-अनुवाद:- मन के वेग में (वे) असमान होते हैं। कुछ मुखपर्यन्त (जलवाले जलाशय की तरह) दूसरे उपकक्ष (बाहुमूल-काँख) पर्यन्त (जलवाले जलाशय की तरह होते हैं) असु-क्षेपणे-धातु से आस्य शब्द बनता है। अथवा आ + स्यन्दू-प्रस्रवणार्थ = पिघलने या पिघलाने = द्रवीकरणार्थक धातु से बना है (क्योंकि) यह अनन को द्रव बनाता है। दघ्न शब्द दघ् = प्रस्रवणार्थक धातु से या दसु-उपक्षये = क्षीणार्थक (धातु) से (बना है) (क्योंकि) (विदस्ततरम्) क्षीणतर होता है। (कुछ एक प्रस्नेया ह्रदा इव = स्नान करने योग्य तालाब की तरह ददृशिरे = दिखाई देते हैं। प्रग्नेय का अर्थ है स्नान-योग्य (जलवाले) ह्रद-ह्र (शब्दार्थक) (धातु) से (बना है) अथवा ह्लादी (सुखे इस) शीतल-अर्थवाली (धातु) से बना है।

हिन्दी-भावार्थ:— यहाँ अक्षण्वन्त: कर्णवनत: इस मन्त्र की यास्कीय निरुक्ति समाप्त होती है, जिसमें अपरे एवं एके शब्द के द्वारा मंत्रगत—'त्वे' के एकार्थता को समझाया है, जो त्व के प्रथमा ब. व. का रूप है। इसी सन्दर्भ में आचार्य ने आस्य, दघन, एवं ह्रद शब्द का निर्वचन भी दिया है— जो संक्षेप में इस प्रकार समझे जा सकते हैं-

(1) आस्यम् अस्—अस् + ण्यत् = जिसमें अन्न के ग्रास डाले जाते हैं।

(2) आ + स्यन्दू— ड: = इस निर्वचन एवं व्युत्पत्ति के अनुसार मुख अन्न को द्रव के रूप में परिणत कर देता है।

दघ्न (क) दघ्नच् प्रत्यय (आस्यदघ्ना)

(ख) दघ्-प्रस्रवण-बहने के अर्थ में = दघ् + नन् = दघ्न:।

(ग) दसु—उपक्षय—क्षीण या कम हाने के अर्थ में दस्—नन् = 'स' को घ = दघ्नन्—न् लोप = दघ्न।

ह्रद (क) ह्राद्—शब्द करना—ह्रस्व करने पर = ह्रद् + अच्—ह्र।

(ख) हलाद् + अच्—हलाद्—रत्न (पृषोदरादि नियम से) ह्राद— ह्रस्व करने पर—ह्रद।

टि.— यहाँ मात्र यास्कीय निर्वचन के संभावित — आधारों का निरूपण किया गया है। विशेष ज्ञान के लिए दुर्गवृत्ति एवं स्कन्दस्वामिभाष्य देखें।

अथापि समुच्चयार्थे भवति।

''पर्याया इव त्वदाश्विनम्''। (कौषी: ब्रा. 17/8)

आश्विनं च पर्यायाश्चेति।।8।।

प्रसंग:— 'त्वत्' इस निपात का वर्णन।

हिन्दी-अनुवाद:— इसके अतिरिक्त (त्वत् यह भी एक निपात है जो) संमुच्चयार्थक है। उदा.—पर्याया इव त्वदाश्विनम् = आश्विननश्च पर्यायाश्चेति = आश्विन एवं पर्याय (पात्र या सूक्त के नाम)।

हिन्दी-भावार्थ— 'त्व' के विभिन्न विभक्तियों एवं वचनों में रूप प्रदर्शित करके आचार्य यास्क ने स्वर के आधार पर 'त्व' के निपातत्व का खण्डन कर दिया है। यहाँ उसी के समान 'त्वत्' इस निपात को समुच्चयार्थक माना है। पूर्व के 'त्व' एवं इस 'त्वत्' में मात्र हलन्त त् का भेद है, अत: ''अथापि'' यह पद सार्थक ही है।

अथ ये प्रवृत्तेऽर्थेऽमिता क्षरेषु ग्रन्थेषु

वाक्यपूरणा आगच्छन्ति, पदपूरणास्ते

मिता क्षरेष्वनर्थकाः कमीमिद्विति।।1।।

प्रसंगः— पदपूरणा निपातों के लक्षण।

हिन्दी-अनुवादः— और जो कम्, ईम्, ईत्, एवं उ (ये निपात) अर्थ की परिसमाप्ति हो जाने पर गद्य ग्रन्थों में वाक्य पूरणार्थ आते हैं, वे (ही) अर्थरहित (कम्, ईम्, इत् एव उ) पद्यग्रन्थों में पदपूरण (निपात) होते हैं।

हिन्दी-भावार्थः— कम्, ईम्, इत् एवं उ ये चार निपात पदपूरण निपात माने गये हैं। इनका प्रयोग यजुर्वेद एवं ऋग्वेद की रचना पर आधारित सभी वैदिक मन्त्रों एवं ब्राह्मणों में होता है। अत: आचार्य यास्क ने अमिताक्षरेषु के द्वारा गद्यात्मक यजुषों की ओर तथा मिताक्षरेषु के द्वारा ऋग्वेदीय मंत्रों या ऋचाओं की ओर संकेत किया है। यजुर्वेद में ये निपात वाक्यपूरणार्थक माने जाते हैं तथा ऋग्वेद या पद्य ग्रन्थों में इन्हें पदपूरण माना जाता है। यहाँ ऋग्वेद एवं यजुर्वेद के ग्रन्थों के लिए ही मिताक्षर एवं अभिमाक्षर शब्दों का प्रयोग यास्क ने किया है।

निष्ट्व क्त्रासश्चि दिन्नरो

भूरितोका वृका दिव।

बिभ्यस्यन्तो व वाशिरे

शिशिरं जीवनायकम्।

प्रसंगः— पदपूरण निपातों में 'कम्' इस निपात का उदाहरण।

अन्वयः— चिदित्, भूरितोका, निष्टवक्त्रासः नरः वृकादिव बिभ्यस्यन्तः, शिशिरम् जीव नायकम् (इति) ववाशिरे।

हिन्दी-अनुवादः— बहुत संतति वाले, वस्त्रविहीन लोग, भेड़िये से डरे हुए के समान चिल्लाते हैं; कि शिशिर हमारे जीवन के लिए (सुखप्रद) है शिशिर हमारे जीवन के लिए है।

हिन्दी-भावार्थः—हेमन्त ऋतु में ठण्ड से व्याकुल होते, वस्त्र विहीन दीन जन, जो अधिक संतति वाले हैं, वे उसी प्रकार चिल्लाते हैं, जैसे कोई व्यक्ति हिंसक पशु भेड़िये या भालू या अन्य किसी भयावह जीव, चोर या दस्यु को देखकर भय के कारण जोर से चिल्लाता है। बहुत संतति दारिद्रय का कारण होता है— यह परिवार सीमित रखने का वैदिक सूत्र है, जो इस मन्त्र के द्वारा सूचित होता है। जो कम संतति वाला होता है उसे जाड़े से भय नहीं होता, क्योंकि वस्त्र इत्यादि को वह खरीद सकता है, जिससे शीत-ऋतु में सुखपूर्वक जी सकें, लेकिन गरीब जन बहुत संतति के कारण पूरी सुरक्षा का उपाय अपने परिवार के लिए नहीं कर सकते अत: वे चिल्लाते हैं— हमारे लिए तो कम शीत या ठण्ड वाली शिशिर ऋतु ही सुखप्रद है।

शिशिरं जीवनाय। शिशिरं श्रृणातेः

शम्नातेः वा। एमेनं सृजता सुते''।

आसृजत एनं सुते

तमिद्वर्द्धन्तु नो गिरः। तं वर्धयन्तु

नो गिरः स्तुतयः। गिरो गृणातेः।

:अयमुते समतसि। अयं ते समतसि।

इवोऽपि दृश्यते। 'सुविदुरिव'। सुविज्ञायेते इव।

अथापि 'न' इति एषः 'इत्' इत्येतेन

सम्प्रयुज्यते परिभये ।।10।।

प्रसंगः— ईम् इत्यादि अवशिष्ट निपातों का सोदाहरण निरूपण।

हिन्दी-अनुवादः— शिशिरं जीवनायकम् = शिशिर जीवन के लिए है। शिशिर शृणातेः शिशिर शब्द शृ हिंसार्थक धातु से अथवा शमु—उपशमनार्थक धातु से (बनता है)। (ईम् निपात का उदा.) एमेनम् + (आ + ईम् + एनम्) सृजतासुते = इसे अभिषुत (सोम वाले घड़े) में (छोड़ों या) बहने दो। (इत्-नि. का उदा.) तमिद्वर्धन्तु नो गिरः = हमारी स्तुतियाँ उसे (सोम को) बढ़ाएँ। (उपर्युक्त मन्त्रांश का यास्कीय अर्थ है) तं वर्द्धयन्तु नो गिरः = स्तुतयः = उसे हमारी वाणियाँ = स्तुतियाँ बढ़ाएँ। गिरो-गृणातेः = गिर्-शब्द (गीः गिरौ, गिरः में गृ-शब्दार्थक धातु है) अथवा गृणाति से गिरः बना है। (उ-निपात का उदा.) अयमुते समतसि = अयं ते समतसि (यास्कीय अनुवाद) = यह तुम्हारा (सोम है जिसके लिए) तुम बराबर भ्रमण करते हो, इवोऽपिदृश्यते = 'इव' यह (निपात) भी (पदपूरण के अर्थ में) देखा जाता है— (उदा.) सुविदुरिव = (यास्क) सुविज्ञायेते इव = यज्ञ एवं नक्षत्र, ब्राह्मणों द्वारा जाने जाते हैं।

अथापि 'न' इत्येषः 'इत्' इत्येतेन सम्प्रयुज्यते परिभये = एवं परिभय के अर्थ में 'न' यह निपात इत् निपात के साथ मिलकर प्रयुक्त होता है।

हिन्दी-भावार्थः— प्रस्तुत खण्ड में निष्ट्वक्त्रासः इस मन्त्र की यास्कीय व्याख्या की गयी है जिसमें कम्, ईम्, इत् एवं 'उ' के साथ इव एवं (न + इत्) = नेत् इन निपातों का सोदाहरण निरूपण इनके पदपूरणभाव को दर्शाने के लिए किया गया है। इन निपातों के वर्णन प्रसंग में ''शिशिर'' शब्द या यास्कीय निर्वचन भी प्रस्तुत किया गया है।

हविर्भिरके स्वरितः सचन्ते।

सुन्वन्त एके सवनेषु सोमान्।

शचीर्मदन्त उत दक्षिणाभि

र्नेज्जिह्मायन्त्यो नरकं पताम।।

प्रसंगः— (न + इत् =) नेत् — इस निपात का सोदाहरण वर्णन—

अन्वयः— एके हविर्भिः इतः स्वः सचन्ते, एके सवनेशु सोमान् सुन्वन्त। (एके) दक्षिणाभिः, उत शचीः मदन्तः (स्व सचन्ते। वयम्) जिह्मायन्त्यः नेत् नरकं पताम।

हिन्दी-अनुवादः— कुछ लोग हवियों के द्वारा यहाँ से स्वर्ग जाते हैं। दूसरे प्रातः—माध्यन्दिन एवं सायं-सवनों में सोम का अभिषव करते हुए (स्वर्ग) जाते हैं, (अन्य) दान (पूर्वक) वैदिक मंत्रों (या स्तुतियों से देवताओं को)

प्रसन्न कर के (यहाँ से स्वर्ग चले जाते हैं, लेकिन हमें) भय है (कि हम असुर-स्त्रियाँ) कुटिल आचरण करती हुयी नरक में गिरेंगी।

हिन्दी-भावार्थः— वस्तुतः यहाँ "न" एवं "इत्" इन दो निपातों के संयोग से बने "नेत्" इस परिभयार्थक निपात के प्रयोग को आचार्य यास्क समझाना चाहते हैं। इसी सन्दर्भ में नैत्कि मूल्य के विषय में जो कुछ इस मंत्र में कहा गया है, वह यह है कि आसुरीवृत्ति एवं दैवीवृत्ति में बहुत भेद हैं। इस संसार में तीन तरह के लोग, धर्मों, शास्त्रों एवं आचरणों में विश्वास रखने वाले होते हैं— एक प्रकार के वे लोग हैं जो अग्नि में हवि देकर अर्थात् अग्नि होत्रादि होत्रकर्म करके स्वर्ग-सुख की प्राप्ति करते हैं। दूसरे वे लोग होते हैं, जो सोम याग करके स्वर्ग को प्राप्त करते हैं तथा तीसरे प्रकार के वे लोग हैं, जो विभिन्न देवताओं की वेद मंत्रों से स्तुति करके स्वर्ग को प्राप्त करते हैं। ये सभी सात्विक व्यक्तियों के प्रकार हैं। इस से भिन्न जो कुटिलता का आचरण करते हैं, वे नरक में गिरते हैं। यहाँ असुर-स्त्रियों को विलाप है, जो नरक पतन के भय से ग्रस्त है। इसी भय को प्रकट करने के लिए इस मंत्र में "नेत्" यह निपात माना गया है। तात्पर्य यह है कि

"नासति स्त्रीणां पृथक् यज्ञोनास्ति चाप्युपपोषणम्।

शूश्रूषयति भर्तारिं तेन स्वर्गं महीयते।"

इस धर्मवचन के अनुसार पति सेवा के अतिरिक्त स्त्रियाँ यज्ञादि नहीं कर सकतीं, जिससे उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति हो, अतः असुरस्त्रियाँ कहती हैं कि पति की सेवा नहीं करके हम कुटिलता का आचरण कर रही हैं, अतः हमें भय है कि हम इस दोष से कहीं नरक में न गिर जाएँ। संस्कृत व्याख्या (स्कन्दभाष्य) में यही भाव है।

(यास्कीय व्याख्या)

नरकं न्यरकं नीचैर्गमनम्।।

नास्मिन्नमणकं स्थानमल्पमप्यस्तीत वा।।

अथापि न चेत्येष इदित्येतेन संप्रयुज्यतेऽनुपृष्टे।।

न चेत्सुरां पिबन्तीति।। सुरा सुनोतेः।।

प्रसंगः— 'नरक' शब्द का निर्वचन एवं "न च" का "इति्" निपात के साथ अनुपृष्टार्थ प्रयोग का उदा.।

हिन्दी-अनुवादः— नरक का अर्थ है न्यरक (नि+ऋ-गत्यर्थक धातु-वुन्-यज्) = नीचे जाना। अथवा इसमें अल्प-स्थान (भी) आनन्ददायक नहीं होता (इसलिए इसे नरक कहते हैं) (न चेत् निपात) एवं न एवं च (ये दोनों) निपात अनुपृष्टार्थ में इत् के साथ प्रयुक्त होते हैं। (उदा.) यदि (वे) सुरा नहीं पीते हों तो या पी रहे हों सुरा-शब्द षुज्-अभिषवे से (रक् प्रत्यय करके बना है।)

हिन्दी-भावार्थः— नेज्जिह्मायन्त्यो नरकं पताम" यही विशेष स्थल यास्क द्वारा व्याख्यात है, जिसमें सर्वप्रथम नरक का निर्वचन किया गया है। इसके बाद न च—इन निपातों का इत् निपात के साथ सम्बन्ध स्थापित कर "न चेत्" इस निपात का सोदाहरण निरूपण किया गया है। नेत् इस निपात में न एवं इत् ये दो निपात आपस में सम्बद्ध होकर प्रयुक्त होते हैं, तथा "न चेत्" में न च एव इत् ये तीन मिलकर प्रयुक्त होते हैं, यही दोनों में भेद है। यहाँ न एवं इत् के बीच 'च' का आगमन हुआ है, जो एक नए निपात के स्वरूप को सिद्ध करता है।

एवमुच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति त उपेक्षितव्याः।।1।।

प्रसंग:— प्रकरण समाप्ति पर निपातों का अभिप्राय है।

हिन्दी-अर्थ:— इस प्रकार अनेक अर्थों में निपात प्रयुक्त होते हैं, उनका (निपातों का अर्थानुसार) विचार कर लेना चाहिए।

हिन्दी-भावार्थ:— अनेक अर्थों में आने वाले निपातों का परीक्षण वैदिक मन्त्रार्थ करते समय कर लेना चाहिए, जिससे उपयुक्त अर्थ ज्ञात हो सके।

निपातों का विवरण

निपात

उपमार्थीय कर्मोप- पदपूरण भिन्नार्थक प्रातिपदिक समूहात्मक

संग्रहार्थीय एवं सर्वनाम- निपात

प्रधान निपात

1. इव	1. च	1. कम्	1. हि किल	1. सीमतः	1. नेत्
2. न	2. आ	2. ईम्	2. न किल	2. त्व	2. न चेत्
3. चित्	3. वा	3. इत्	3. ननु	3. त्वत्	इत्यादि।
4. नु	4. उ	4. मा			
	5. इव	5. खलु			
		6. शश्वत्			
		7. नूनम्			
		8. सीम्			

टि— निपातों का यह एक सामान्य स्वरूप है। निपातों का ठोस स्वरूप या वर्गीकरण का आधार यास्कीय निरुक्त से ज्ञात नहीं होता, अत: निपातों के पूर्णज्ञान के लिए अन्य पा. व्याकरणमहाभाश्य एवं प्रातिशाख्य ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए।

चतुर्थः पादः

इति इमानि चत्वारि पदजातानि अनुक्रान्तानि नामाख्याते चोपसर्ग निपाताश्च। तत्र नामानि आख्यात जानि इति शाकटायनः नैरुक्तसमयश्च। न सर्वाणि इति गार्ग्यः वैयाकरणानां चैके।।

हिन्दी अनुवाद— नाम, आख्यात्, उपसर्ग एवं निपात - इन चतुर्विध पद समूहों का वर्णन सम्पन्न हुआ। उनमें नाम (पद) आख्यातज (क्रिया से उत्पन्न) है - ऐसा शाकटायन एवं निरुक्तकारों का सिद्धान्त है। सभी नाम (आख्यातज) नहीं हैं - ऐसा कुछ वैयाकरण एवं (निरुक्त के आचार्य) गार्ग्य मानते हैं।

हिन्दी-भावार्थ— नाम, आख्यात, उपसर्ग एवं निपात-इन चतुर्विध पदों के निरुपण के बाद सभी नाम आख्यातज होते हैं, इस सिद्धान्त को स्थापित करने के उद्देश्य से कुछ आचार्यों (जिनमें निरुक्त के आचार्य तथा व्याकरण शास्त्र

के प्राचीन आचार्य भी हैं) के सिद्धान्तों को आचार्य-यास्क यहाँ उपस्थापित करते हैं - जिसे संक्षेप में हम निम्न रूप में समझ सकते हैं-

आचार्य के मत में सँज्ञाए .. आख्यातज हैं/सभी नाम

आख्यातज नहीं हैं

(क) शाकटायन सँज्ञाएँ या नाम आख्यातज हैं।

(वैयाकरण)

(ख) निरुक्तसिद्धान्तों के

अनुगामी आचार्य या निरुक्तकार

(ख) गार्ग्यएवं कुछ वैयाकरण-सभी नाम आख्यातज नहीं हैं।

तद्यत्र स्वर संस्कारौ समर्थौं प्रा देशिकेन गुणेन अन्वितौ स्याताम्......संविज्ञातानि तानि। यथा गौ: अश्व: पुरुष: हस्तीति। अथ चेत्सर्वाणि आख्यातजानि नामानि स्यु:, य: कश्च तत्कर्म कुर्यात् सर्व तत् सत्वं तथा आचक्षीरन्। य: कश्च अध्यावन् अश्नुवीत, अश्व: स वचनीय: स्यात्। यत् किच्चित् तृन्द्यात् तृण तत्। अथापि चेत्सर्वाणि आख्यातजानि नामानि स्यु:, यावद्भि: भावै: संप्रयुज्येत तावद्भ्यो नामधेयप्रतिलम्भ: स्यात्। तत्र एवं स्थूणा दरशया च सञ्चनी च स्यात् ।।12।।

प्रसंग:—पूर्ववत् नाम का आख्यातत्व विचार।

हिन्दी अनुवाद—जिन नामों में स्वर एवं व्युत्पत्ति (प्रकृति प्रत्यय) संगत हों तथा प्रादेशिक गुण (क्रिया-गुण पर आधारित नामकरण) से युक्त हों वे निश्चित रूप में आख्यातज हैं (संविज्ञातानि = आख्यातज रूप में प्रसिद्ध है) (लेकिन) गौ, अश्व, पुरुष हाथी (हस्ति) जैसे नाम (आख्यातज या धातुज नहीं हैं। और यदि सभी नाम धातुज होते तो जो कोई व्यक्ति जो कुछ कर्म करता वह जीव या मानव (क्रियानुकूल) उसी नाम से पुकारा जाता। (अत:) जो भी मार्ग को व्याप्त करता उसे ही लोग अश्व = घोड़ा कहते। जो कुछ भी चुभता उसे तृण कहते। तथा यदि सभी नाम आख्यातज होते, तो जिन जिन क्रियाओं से प्राणी सम्बद्ध होता (या जिन-जिन क्रियाओं को करता) उन अनेक नामों से (एक व्यक्ति) पुकारा जाता। उन नामों में ऐसा (सिद्धान्त अपनाने) करने पर स्थूणा = खम्भे को दरशया = गड्ढे में सोने वाल) एवं सञ्चनी = (बांस का या छत को ठहराने वाला) कहते हैं।

हिन्दी-भावार्थ— गार्ग्य एवं कुछ वैयाकरणों के मत में सभी शब्द धातुज नहीं होते। गार्ग्य-मत की पुष्टि में यहाँ कई प्रमाण दिये गए हैं। गार्ग्य का मानना है कि जिस शब्द में स्वर एवं संस्कार (धातु-प्रत्यय इत्यादि) सुसंगत लग रहे हों, वे शब्द तो निर्विवाद रूप से आख्यातज ही हैं, लेकिन गौ-पुरुष इत्यादि शब्द नहीं। गार्ग्य के मत में अगर सभी नाम या प्रतिपादित शब्द धातुज होते, तो किसी एक क्रिया को जितने प्राणी करते उन सबों को एक ही नाम से कहा जाता यथा ''अश्व'' — यह अश्व शब्द अशूञ् व्याप्तौ = व्याप्त करने के अर्थ वाली धातु से बना है, क्योंकि अश्व मार्ग को व्याप्त करके चलता है। यदि उसी मार्ग को अन्य भी प्राणि व्याप्त करें अर्थात् उस पर दौड़ें या चलें तो उन्हें भी अश्व कहा जाए। सामान्यतया मार्ग पर चलते या दौड़ते व्यक्ति को यदि कोई अश्व कह दे तो उसे अच्छा नहीं माना जाएगा। इसी प्रकार जो कुछ भी चुभने वाला पदार्थ होता, उसे तृण कहते, क्योंकि 'तृण' में ''उतृदिर हिंसानादरयो:'' = हिंसा एवं अनादर वाली उतृदिर धातु है। अत: तदेन = चुभन क्रिया के योग से चुभने वाले पदार्थों को लोग तृण कहते, लेकिन ऐसा नहीं देखा जाता। इसी प्रकार स्थूणा = खम्भा को गड्ढे में रहने के

कारण दर्शाया तथा छप्पर या बांस को अवलम्बन देने के कारण सञ्जनी कहते; लेकिन स्थूणा को न दरशया कहते हैं, न सञ्जनी कहते हैं। अत: सभी नाम आख्यातज नहीं हैं। यह स्थूणा शब्द अनेक क्रियाओं (गड्ढे में रहना या सोना एवं छप्पर को अवलम्बन देना) को करता है अत: इसे दरशया एवं सञ्जनी कहा जाता जो व्यवहार विरुद्ध है। अत: सभी नाम धातुज नहीं हैं।

अथापि य एषां न्यायवान् कार्मनामिकः संस्कारः यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युः तथा एनान्याचक्षीरन्। पुरुषं पुरिशय इत्याचक्षीरन्। 'अष्टा' इत्यश्वम्, तर्दनमिति तृणम्।

हिन्दी अनुवाद— इसके अतिरिक्त इन में जो व्याकरणानुकूल क्रिया गुण वाले प्रकृति प्रत्यय युक्त नाम, जिससे स्पष्ट अर्थ अभिव्यक्त (होते) उसी रूप में उन्हें (लोग) कहते (यथा) पुरुष को "पुरिशय" (ऐसा) कहते अष्टा अश्व को तथा तर्दन तृण को कहते।

हिन्दी भावार्थ— उपर्युक्त अंश का भाव यह है कि यदि नाम आख्यातज ही होते, तो व्याकरणानुकूल नियमों के अनुसार धातु एवं प्रत्यय का प्रयोग कर जो नाम बनाए जाते हैं उन नामों में धात्वर्थ तथा जिस अर्थ में प्रत्यय लगता है इन दोनों का भाव स्पष्ट दिखाई देता तथा उपर्युक्त प्रकार से जिस शब्द रूप के माध्ययम के जो अभिधेयार्थ मालूम होता अर्थात् शीघ्र ही अपने अर्थ को संकेतित करता उसके अनुकूल ही किसी पदार्थ का नाम रखते तथा अश्व को अश्व न कहकर अष्टा = व्याप्त करने वाला पुरुष को पुरिशय = शरीर में शयन करने वाला जीवात्मा तथा चुभने के कारण तृण को गर्दन कहते; लेकिन लोग ऐसा नहीं कहते, अत: सभी नाम आख्यातज नहीं हैं।

अथापि निष्पन्नेऽभिव्याहारेऽभिविचारयन्ति। प्रथनात् पृथिवो इत्याहुः। क एनां अप्रथयिष्यत् किं आधारश्चेति?

हिन्दी-अनुवाद— इसी प्रकार नामों के पहले (लोक में) प्रयुक्त हो जाने पर विचार करते हैं। (कि) प्रथन क्रिया के कारण (पृथिवी को) पृथिवी कहते हैं। (यदि ऐसा नहीं होता तो यह पूछा जा सकता है कि) इसे किसने फैलाया? और इसका (पृथिवी का या फैलाने वाले का) आधार क्या था (जहां पृथिवी को रखकर या स्वयं स्थित होकर किसी ने इसे फैलाया था।)

हिन्दी भावार्थ— आचार्य यास्क ने गार्ग्यमत की एक और युक्ति को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापित करते हुए कहा है कि सभी शब्द आख्यातज इसलिए भी नहीं हो सकते, क्योंकि लोक में या समाज में परम्परागत रूप से शब्द प्रयोग एवं व्यवहार में आते रहते हैं। उन प्रचलित शब्दों की व्युत्पत्ति या धातु-प्रत्यय-योग के अनुसार निष्पत्ति बाद में शब्दशास्त्री किया करते हैं। पूर्व में इन नामों की क्रियाओं को हमेशा ज्ञान में नहीं रखा जाता। अत: सभी शब्द ध ातुज या आख्यातज नहीं होते-जैसे पूर्व में प्रचलीत पृथिवी को विस्तृत देखकर प्रथ-विस्तारे धातु से निष्पन्न मान लिया गया। इसकी प्रथन क्रिया को किसी ने देखा नहीं। अत: सभी नाम आख्यातज नहीं हो सकते।

अथ अनिन्व तेऽर्थे, अ प्रादेशिके विकारे, पदेभ्यः पदेतरार्द्धान संचस्कार शाकटायनः। एते कारितं च यकारादिं च अन्तकरणम्। अस्तेः शुद्धं सकारादि च। अथापि सत्वपूर्वो भावः इत्याहुः। अपरस्मात् भावात् पूर्वस्य प्रदेशों नोपपद्यते इति। तत् एतत् नोपपद्यते।।13।।

प्रसंगः— शाकटायन पर आक्षेप।

हिन्दी-अनुवाद— इसके अतिरिक्त (यह भी दोष है कि) शाकटायन अर्थ की असंगति के होने पर तथा शब्दार्थानुकूल धातु-प्रत्यय के सिद्ध न होने पर पद-पदान्तर के अर्धांश को ग्रहण करके (शब्दों या नामों) की सिद्धि करते हैं। (सत्य शब्द के निर्माण में) इण् के कारितम् = णिच् प्रत्यय से यकार को प्रत्यय के रूप में (अन्तकरणम् = प्रत्यय्, अन्त में प्रयुक्त होने के कारण) अस् धातु के विशुद्ध स कार को आदि में रखते हैं।

हिन्दी भावार्थ— यह गार्ग्य के मत की अन्तिम कड़ी है, जिसे यास्क ने पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है। यहाँ मुख्य दो तर्क हैं-पहला तो यह कि जो शकटायन आचार्य सभी नामों को आख्यातज सिद्ध करना चाहते हैं; वे ही स्वयं असंगति का शिकार होते दिखाई देते हैं। ''सत्य'' शब्द में धातु एवं प्रत्यय की संगति लगाने के लिए वे ''इण्+णिच्'' एवं ''अस्+शत्'' इन दो प्रकार के धातु-प्रत्यय के जोड़ों की सहायता लेते हैं। दूसरा तर्क यह है कि बाद वाली क्रिया के आधार पर पहले से विद्यमान पदार्थ या द्रव्य का नामकरण नहीं किया जा सकता- अतः सभी नाम आख्याताज नहीं हो सकते।

यथो हि नु वै एतत् तद् यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौं स्यातां सर्वं प्रादेशिकम् इत्येवम् सत्यानुपालम्भ एष भवति।।

प्रसंगः— पूर्व पक्षी के इस मत का समर्थन करते हैं कि स्वर संस्कार में समर्थ पद आख्यातज होते हैं।

हिन्दी अनुवाद— जैसा (पूर्व में गार्ग्य) ने यह कहा है (कि) जहां स्वर एवं व्युत्पत्ति आख्यातानुकूल हों वे सभी आख्यातज (प्रादेशिक) गुण वाले नाम हैं। ऐसा तो आक्षेप के योग्य नहीं है।

हिन्दी भावार्थ— अर्थात् जैसा कि आचार्य गार्ग्य ने यह तर्क दिया था कि जहां स्वर एवं संस्कार धातु-प्रत्यय के अर्थ से मेल खा रहे हों उन पदों में आख्यातक धर्म स्पष्ट प्रतीत होने के कारण उन्हें आख्यातज पद मान लेना चाहिए। यह गार्ग्य मत तो हम सभी यास्क से लेकर अन्य आख्यातज नाम मानने वाले पूर्व के आचार्यों को भी मान्य है। अर्थात् हम आख्यातज नाम के पक्ष को मानने वालों की दृष्टि में तो सभी नाम नाना प्रकार के प्रादेशिक गुणों = धातु-प्रत्यय के गुणों से युक्त हैं एवं वे आख्यातज हैं। यहाँ हमारी अनापत्ति है।

यथो एतत्। यः कश्च तत्कर्म कुर्यात् सर्वं तत् सत्वं तथा आ चक्षीरन् इति। पश्यामः समानकर्मणां नामधेयप्रतिलम्भम् एकेषां न एकेषाम्। यथा तथा परिव्राजको जीवनों भूमिज इति। एतेनैव उत्तरः प्रत्युक्तः।

प्रसंग— गार्ग्य के मत का खण्डन।

हिन्दी अनुवाद— और यह जो (गार्ग्य) ने कहा (है) कि जो कोई व्यक्ति या प्राणी उस कर्म को (जिस कर्म को भी) करते उन सभी प्राणियों को उसी क्रियानुसार नाम से लोग पुकारते (तो हम) देखते कि (लोक में) तो समान कर्म करने वाले प्राणियों में कुछ को तो उसी (कार्यानुसार पड़े) नाम से पुकारते हैं (परन्तु) कुछ को नहीं, इसी से बाद वाले का खण्डन हो जाता है।

हिन्दी भावार्थ— यह जो पहले गार्ग्यमत के अनुसार कहा गया था कि जो प्राणी जिस कर्म को करे, उसे उसी क्रिया के अनुसार नाम लेकर पुकारा जाता, तो इस सन्दर्भ में हम पाते हैं कि लोक में एक ही कर्म करने वाले अनेक लोगों या प्राणियों में तो कुछ को उनके कर्मानुसार नाम से पुकारते हैं, लेकिन सभी को नहीं। उदाहरण के रूप में ''तक्षा' शब्द बढ़ई के लिए प्रयुक्त होता है। ''तक्षा' का काटना, छेदना इत्यादि से सम्बन्ध है। इस कर्म को ब्राम्ह्मणादि भी सामान्य रूप से करते हैं, तो हम ''ताक्षा'' नहीं कहते, बल्कि बढ़ई जाति के लिए ही यह शब्द प्रचलित है- यही ''एकेषाम्'' नैकेषाम्, नामधेयप्रतिलम्भम्'' रस एव वृक्ष के लिए रूढ़ हैं, न कि अन्य के अर्थ में। इसी तर्क से गार्ग्य के तृतीय पक्ष का भी खंडन हो जाता है; जिसमें उन्होंने कहा है- कि जितने भावों से प्राणी का सम्बन्ध हो उन-उन नामों से उन्हें पुकारा जाता - (यावदिर्भाव:0)

यथो एतत्। यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युस्तथा एतानि आचक्षीरन् इति। सन्त्यल्प्रयोगाः कृतोऽपि ऐक पदिकाः। यथा व्रततिः, दमूनाः, जाट्य, आट्णारः, जागरुकः दर्विहोमी इति।

प्रसंग— पूर्ववत्।

हिन्दी-अनुवाद— यह जो कहा (कि) जैसा भी स्पष्ट अर्थ पदों में प्रतीत हो रहा हो, उन्हें उसी प्रकार प्रयोग करते (तो इसका उत्तर यह है कि ऐसे) स्पष्टार्थक ऐकपदिक प्रयोग (प्रयोग होने वाले शब्द) बहुत कम हैं - यथा व्रतति दमूना, जाट्य: आट्णार:, (तथा) जागरुक:।

हिन्दी-भावार्थ— यहाँ पूर्व पक्षी के उस मत का खण्डन किया गया है, जिसमें उसने कहा है कि यदि नाम आख्यातज ही होते, तो जिस भाव को शब्द स्पष्ट रूप से कहते तद्नुकुल शब्द से ही पदार्थों के बोधन के लिए लोगों के प्रयोग में वे पद आते, लेकिन ऐसा नहीं होता। यहाँ आख्यातवादियों का यह मत है (जिसमें शाकटायन एवं यास्क सम्मिलित है) कि दो तरह के नाम होते हैं- एक तो वे जो सुनते ही अपना भाव स्पष्ट कर देते हैं। दूसरे वे जो व्याकरण शास्त्र प्रवृत्ति की अपेक्षा रखते हैं। अर्थात् जिनके भाव व्याकरण शास्त्र के द्वारा स्पष्ट किए जाते हैं। (यथा उणादि इत्यादि से बनने वाले शब्द जिन्हें सभी महत्व नहीं देते) गार्ग्य इत्यादि के मत को अगर मान लिया जाए, तो ऐसे बहुत कम शब्द व्यावहारिक क्षेत्र में होंगे जो कृदन्तादि प्रत्ययों से निर्मित होकर स्पष्टार्थक होंगे। कृदन्त पदों में भी कुछ ऐकपदिक = अस्पष्टार्थक होते हैं, जिनकी व्युत्पत्ति शास्त्र द्वारा अपेक्षित होती है, अत: भावार्थक होते हुए भी वे रूढ़ार्थक होते हैं। (भावार्थक = धात्वर्थक)।

कुछ विद्वान यहाँ जागरुक: दर्विहोमी तथा जाट्य: को स्पष्टार्थक के उदाहरण मानते हैं तथा शेष को ऐकपदिक या अस्पष्टार्थक मानते हैं।

यथो एतत्। निष्पन्ने अभि व्याहारे अभिविचारयन्ति इति। भवति हि निष्पन्ने अभिव्याहारे योगपरीष्टि:। प्रथनात् पृथिवीत्याहु: क: एनाम् अप्रथयिष्यत्, किमाधारश्चेति। अथवै पृथु: अप्रथिता चेत् अपि अन्यै:। अथापि एवं सर्व एव दृष्टप्रवादा: उपालभ्यन्ते।

प्रसंग—पूर्ववत्।

हिन्दी अनुवाद— यह जो कहा कि शब्दों के प्रसिद्ध हो जाने पर (शब्दशास्त्री शाकटायनादि प्रकृति-प्रत्यय इत्यादि) का विचार करते हैं (तो कुछ हद तक यह ठीक है कि) शब्दों या नामों के लोक प्रसिद्धि के बाद ही योगपरीष्टि = प्रकृति-प्रत्यय की परीक्षा (या धातु-प्रत्यय के सम्बन्ध की परीक्षा) होती है (तब हम पृथिवी को फैली हुयी होने के कारण पृथिवी कहते हैं। (जहाँ तक यह प्रश्न है कि किसने इसे फैलाया ? उसका आधार क्या था, तो इस सन्दर्भ में यह समझना चाहिए कि) किसी ने इसे नहीं भी फैलाया, तो भी देखने में यह फैली हुई है तथा इसी प्रकार (लोक में) सभी लोग किसी वस्तु को देखकर ही उसका नामकरण करते हैं या ऐसा नहीं मानने पर तो इस प्रकार सभी उदक इत्यादि शब्द दृष्टप्रवाद - दृष्टविवाद में पड़ जाएँगे। (कि किसने इसे द्रव के रूप में बनाया इत्यादि।)

हिन्दी भावार्थ— अस अंश के माध्यम से आचार्य यास्क ने पूर्व पक्षी की ओर से पूर्व में उठाई गयी उस शंका का निराकरण किया है, जिसमें यह कहा गया था कि निरुक्तकार या वैयाकरण किसी शब्द के लोक प्रचलन में आ जाने पर उनकी व्युत्पत्ति पर विचार करते हैं- यथा पृथिवी इत्यादि। इस स्थिति में अगर सभी नामों को आख्यातज माना जाए, तो अनेक आपत्तियाँ आ सकती हैं - जैसे इस पृथिवी शब्द के विषय में ही विचार करके देखें तो यह प्रश्न होगा कि यदि फैलने (प्रथम क्रिया) के कारण पृथिवी को पृथिवी कहते हैं, तो यह जिज्ञासा होगी कि इसे किसने फैलाया तथा उसने कहां खड़ा होकर इसे फैलाया आदि। इस सन्दर्भ में आख्यातवादियों का यह कहना कि इस तरह के प्रश्न से तो अन्य शब्दों पर भी आक्षेप आ सकता है जो पहले से लोक में प्रचलित शब्द उदक इत्यादि हैं, अत: यह बात तो हम भी स्वीकार करते हैं कि सम्पूर्ण लोक, शब्द के अधीन है न कि शब्द लोक के अधीन हैं। शब्द पहले से विद्यमान होते हैं तथा शब्दशास्त्री उन्हीं शब्दों की व्युत्पत्ति पर विचार करते हैं। ऐसी स्थिति में इस तरह

की शंका या तर्क उचित नहीं हैं। जहां तक पृथिवी शब्द का प्रश्न है, भले ही से इसे किसी ने नहीं फैलाया हो, लेकिन देखने में तोयह चपटी = फैली हुयी (फैलना क्रिया = सम्पन्न क्रिया वाली) दिखाई देती है अत: इसे पृथिवी कहते हैं। लोक में भी किसी वस्तु को देखकर ही उसके नामकरण पर विचार करते हैं, अत: यह कोई दोष नहीं है।

यथो एतत्। पदेभ्यः पदेतरार्धान् संचस्कार इति। यः अनन्विते अर्थे संचस्कार स तेन गर्ह्यः सा एषा पुरुषगर्हा। (न शास्त्रगर्हा)

प्रसंग—सत्य शब्द के निर्माण प्रक्रिया की आलोचना का प्रत्युत्तर।

हिन्दी अनुवाद— यह जो कहा (कि) पद-पदान्तर के अर्धांश को लेकर सत्य शब्द को सिद्ध किया (तो उत्तर यह है कि) जिस ने असंगतार्थ में व्युत्पत्ति की हो, वह उस असंगत संस्कार के कारण निन्द्य है। ऐसी वह निन्दा पुरुष निन्दा है।

हिन्दी भावार्थः— यहां गार्ग्य के उस आक्षेप का खण्डन किया गया जिसमें कहा गया था कि सत्य शब्द के निर्माण के लिए आचार्य शाकटायन ने अस्ति, इण्+णिच् ''शतृ'' इत्यादि प्रत्यय की बेमेल कल्पना से सत्य शब्द का निर्माण किया है। यहां अनेक पदों से किसी-किसी अंश को लेकर 'सत्य' शब्द का निर्माण किया गया है, जिससे शब्दों को आख्यातज सिद्ध करने के प्रति शाकटायनादि शब्दशास्त्रियों की हठधर्मिता सूचित होती है। आचार्य यास्क का इस सन्दर्भ में उत्तर यह है कि आचार्य शाकटायन ने तो अन्वितार्थ में संस्कार किया है, अर्थात् संगत अर्थ में प्रकृति-प्रत्यय की उन्होंने कल्पना की है। निन्दनीय तो वह है, जो अल्पज्ञता के कारण असंगत अर्थ में शब्दव्युत्पत्ति करता है। अत: किसी अल्पज्ञ व्यक्ति की व्युत्पत्तिदोष को शाकटायन या शाकटायनादि शब्दशास्त्रियों के शब्दशास्त्रों के दोष के रूप में देखना समुचित नहीं होगा।

यथो एतदपरस्माद्भावात्पूर्वस्य प्रदेशे नोपपद्यत इति।

पश्यामः पूर्वोत्पन्नानां सत्वानामपरस्माद् भावान्नामधेय- प्रतिलम्भेमेकेषाम् नैकेषाम्। यथा बिल्वादो लम्बचूड इति। बिल्वंभरणाद् वा भदेनाद् वा।।14।।

प्रसंग— गार्ग्य के अन्तिम तर्क का विखण्डन।

हिन्दी-अनुवाद— यह जो कहा कि बाद में होने वाली क्रिया के आधार पर पूर्व विद्यमान पद का नामकरण युक्तिसंगत नहीं है (तो इस तरह के उदाहरण हम सभी) देखते हैं कि कुछ पूर्वोत्पन्न पदार्थों या जीवों का बाद में होने वाली क्रियाओं के आधार पर नामकरण होता है कुछ का नहीं होता - यथा बिल्वाद् = बेल खाने वाला एक पक्षी तथा लम्बचूड़ = एक पक्षी जिसकी चोटी लम्बी होती है। बिल्व शब्द-भू = भरणे अथवा भिद्-विदारणे धातु से बना है।

हिन्दी-भावार्थ— यहां गार्ग्य के अन्तिम तर्क का खण्डन कर दिया गया, जिसके माध्यम से उन्होंने यह कहा था कि उत्तरकालीन क्रिया के आधर पर पूर्वोक्त द्रव्य का नामकरण करना युक्तिसंगत नहीं है। आचार्य यास्क प्रभृति आख्यात सिद्धान्त को मानने वाले आचार्यों का मत है कि लोक व्यवहार में जो प्रचलित शब्दहै, वे ही हमारे आदर्श हैं तथा उन शब्दों में कुछ तो ऐसे मिलते हैं, जिनका नाम बाद वाली क्रिया के आधार पर होता दिखाई देता है। जैसे बिल्वाद एवं लम्बचूड़ ये दोनों शब्द पक्षियों के लिए आए हैं। ''बिल्वाद'' नामक पक्षी बेल खाता है, अत: बेल को खाने के आधार पर इसका नाम बिल्वाद पड़ा। बिल्वाद का बच्चा भी बिल्वाद ही कहा जाएगा, भले ही वह बेल खाने लायक बाद में होता है, अत: यहां आने वाली अदन क्रिया के आधार पर बिल्व का अदन = भक्षण करने के कारण बिल्वाद उस पक्षी का नाम पड़ा। इसी प्रकार लम्बचूड - पक्षी की चूल या चोटी धीरे-धीरे बाद में बढ़ती

है; लेकिन इसके पहले से ही उसे लम्बचूड़ कहने की प्रथा लोक में है। अतः पूर्व की तरह यहाँ भी वही स्थिति है। नैकेषाम् का उदाहरण है- अग्निष्टोम याजी एवं लावकः इत्यादि। इस प्रकार आख्यातवादी यास्क एवं अन्य आचार्यों के मतानुसार सभी नाम आख्यातज हैं; यह सिद्ध हुआ।

पञ्चम पाद

अथापि इदमन्तरेण मन्त्रेषु अर्थ प्रत्ययो न विद्यते। अर्थम् अप्रतियतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशः। तदिदं विद्यास्थानम्। व्याकरणस्य कात्स्न्र्यम्। स्वार्थ साधकञ्च। यदि मन्त्रार्थ प्रत्ययाय, अनर्थकं भवति इति कौत्सः। अनर्थका हि मन्त्राः। तदेतेन उपेक्षितव्यम्।

प्रसंगः— निरुक्त का प्रयोजन।

हिन्दी-अनुवाद— एवं इस (निरुक्त) के बिना मन्त्रों में अर्थ की प्रतीति (= ज्ञान) नहीं होती। अर्थ को नहीं जानने वाले व्यक्ति को उदात्तादि स्वर सवं लोपागम-इत्यादि संस्कार ज्ञात नहीं होते। इस कारण यह विद्या का स्थान = ज्ञान का साधन है। व्याकरणशास्त्र का पूरक है तथा अपने प्रयोजन (वेदार्थ ज्ञान) का साधक है। यदि मन्त्रार्थज्ञान के लिए (यह निरुक्त) है तो व्यर्थ है- ऐसा (आचार्य) कौत्स (मानते हैं, क्योंकि उनके मत में) मन्त्र अनर्थक हैं। इस (निरुक्त के द्वारा) से उस (उपर्युक्त मत) को समझना चाहिए। (कि कौत्स इत्यादि का मत ठीक है कि यास्क इत्यादि का जो वैदिक मन्त्रों में अर्थ की सत्ता मानते हैं।)

हिन्दी-भावार्थ— नामों के आख्यातत्वप्रतिपादन के द्वारा जहाँ एक ओर आचार्य यास्क ने निरुक्त के प्रथम प्रयोजन को दर्शाया है, वहीं इस के द्वारा नामों के आख्यातज होने के कारण उनके अन्तर्गर्भित भावों को प्रकृति-प्रत्यय के विचार के माध्यम से निर्वचन द्वारा प्रकट करना निरुक्त का प्रयोजन है, अतः इसे भी प्रयोजन के रूप में माना गया है। यह व्याकरण शास्त्र का सहायक तथा अपने वेदार्थ प्रतिपादनरुपस्वार्थ का साधक है, अतः उभयत्र इसकी स्वतंत्र प्रवृत्ति है। यहाँ आचार्य कौत्स का सिद्धान्त पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापित करते हुए आचार्य यास्क ने एक शास्त्रार्थ का प्रारंभ किया है कि क्या वैदिक मंत्रों में अर्थ है? या वे अनर्थक हैं? आचार्य कौत्स का मत यह है कि निरुक्त का प्रयोजन यदि वैदिक मन्त्रार्थ की प्रतीति कराने के लिए है तो व्यर्थ है, क्योंकि वैदिक मंत्र निरर्थक है। इस मत की परीक्षा स्वयं निरुक्त के सिद्धान्तों एवं कार्यों के द्वारा आगे होगी-अत एवं कहा- तदेतेन उपेक्षितव्यम्।

नियतवाचो युक्तयः नियतानुपूर्व्याः भवन्ति। अथापि ब्राह्मणेन रुप सम्पन्नाः विधीयन्ते। 'उरुप्रथस्व' इति प्रथयति। 'प्रोहाणि इति प्रोहति। अथापि अनुपपन्नार्थाः भवन्ति। 'औषधे' त्रायस्व एनम्। स्वधिते ''मा एनं हिंसी'' इत्याह हिंसन्। अथापि विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति। एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः। असंख्याता सहस्त्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्। अशत्रुरिन्द्रजज्ञिसे। शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः इति।

प्रसंग— पूर्वपक्षी कौत्स-मत का विवरण।

हिन्दी-अनुवाद— वैदिक मन्त्रों में निश्चित शब्दों की योजना है। (तथा उनके) आनुपूर्वीक्रम निर्धारित होत हैं। तथा (वे मंत्र विनियोग में) सामर्थ्यवान होते हुए भी ब्राह्मण वाक्यों द्वारा कर्म में विनियुक्त होते हैं- यथा ''उरु प्रथस्व इति प्रथयति = चारों और फैलाओ- तो फैलाता है प्रोहाणि इति प्रोहति = आगे सरकाऊं तो आगे (पुरोडाश को) सरकाता या ठेलता है। तथा (मन्त्र) असंगतार्थक होते हैं (यथा)-औषधे त्रायस्वैनम् = हे ओषधे। इस (यजमान या बटु) की रक्षा करो। स्वधिते मैनं हिसीः = हे क्षुर। इस (बटु) की हिंसा मत कर- इस प्रकार हिंसा करता हुआ कहता है। एवं (मंत्र) विरुद्धार्थक होते हैं यथा एक एव रुद्रोअवतस्थे, न द्वितीयः = एक ही रुद्र स्थित था, दूसरा नहीं (अन्यत्र) असंख्याता सहस्त्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम् = असंख्य हजारों जो रुद्र भूमि पर विद्यमान हैं। (तथा) अशुत्ररिन्द्रजज्ञिषे = हे इन्द्र। तुम अजातशत्रु पैदा हुए हो (अन्यत्र) शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः = इन्द्र ने सैंकड़ों सेनाओं को एक साथ परास्त कर दिया- (इस प्रकार विरुद्धार्थक होने से मन्त्र निरर्थक हैं।)

हिन्दी-भावार्थ—कौत्स के अनुसार वैदिक मंत्रों के निरर्थक होने में निम्न कारण हैं–

(क) वैदिक मंत्र नियत शब्द एवं नियत क्रम वाले हैं।

(ख) मंत्रों में विनियोग सामर्थ्य होने पर भी वे वैदिक कर्मों में अपने विनियोग के लिए शतपथ इत्यादि ब्राह्मण वाक्यों पर निर्भर करते हैं।

(ग) वैदिक मन्त्र असंगतार्थक हैं।

(घ) वैदिक मंत्र विरुद्धार्थक हैं, अत: वे निरर्थक हैं।

अथापि जानन्तं सम्प्रेष्यत्यग्नये समिध्यमा नायानुब्रूहीति।। अथाप्याहादितिः सर्वमिति अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्'' इति। तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः। अथाप्यविस्पष्टार्था भवन्ति। अम्यक्-यादृश्मिन्-जारयायिकाणुकेति।।15।।

प्रसंग—पूर्ववत्।

हिन्दी-अनुवाद— इसी प्रकार जानने वाले (होता) को (अध्वर्यु मंत्र पाठ करने की विधि) बताता है (कि) प्रदीप्त अग्नि के लिए मन्त्र पाठ करो - इसी तरह कहा गया है (कि) अदिति सब कुछ है (परन्तु अन्यत्र इसके विपरीत कहा गया है कि) अदिति द्यु लोक है अदिति अन्तरिक्ष है-इति। इसकी आगे व्याख्या करेंगे। तथा (मन्त्र) अविस्पष्टार्थ = अस्पष्टार्थक होते हैं (यथा) अम्यक्, यादृश्मिन्, जारयायि, काणुका इत्यादि।

हिन्दी-भावार्थ— यज्ञविधि के जानकार होता को मन्त्रपाठादि विधि का अध्वर्यु द्वारा पुन: उपदेश करने के कारण असंगतार्थ होने के कारण तथा अविस्पष्टार्थक होने के कारण वैदिक मन्त्र निरर्थक हैं।

यहाँ पूर्वपक्षी का मत समाप्त होता है।

अर्थवन्तः शब्दसामान्यात्। एतद्वै यज्ञस्य समृद्धम् यद्रूप समृद्धं यत्कर्मक्रियमाणम् ऋग्यजुः वा अभिवदतीति च ब्राह्मणम्। क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिः। यथो एतत्। नियतवाचो युक्तयः नियतानुपूर्व्याः भवन्ति इति। लौकिकेष्वप्येतत्। यथा-इन्द्राग्नी, पिता पुत्रौ इति। यथो एतत्। ब्राह्मणेन रुपसम्पन्नाः विधीयन्ते इति। उदितानुवादः स भवति। यथो एतत्। अनुपपन्नार्थाः भवन्ति इति। आम्नाय वचनादहिंसा प्रतीयेत।

प्रसंग— मन्त्र सार्थक हैं।

हिन्दी-अनुवाद— (लौकिक एवं वैदिक संस्कृत के) शब्दों में समानता के कारण (मन्त्र) अर्थवान है। जिस यज्ञ कर्म का कथन ऋग्वेद या यजुर्वेद करता है वही (मन्त्रों का) कर्म सम्पादन सामर्थ्य यज्ञ की समृद्धि या पूर्णता है। (यथा) ''पुत्र एवं नाती''-पोतों के साथ खेलते हुए'' (तुम पति पत्नी इस लोक में रहो) यह जो (कहा है कौत्स ने कि वैदिक मन्त्रों में) निश्चित आनुपूर्वी क्रम से निश्चित शब्दों की योजना = (व्यवस्था) हुयी है, (अत: मन्त्र निरर्थक हैं, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि) यह लौकिक संस्कृत में भी (देखा जाता) है। यथा- इन्द्रानी, पिता पुत्रौ। यह जो कहा कि ब्राह्मण ग्रन्थ मन्त्रों को रूप सम्पन्न = (क्रिया सम्पादन सामर्थ्य से युक्त करता है, अत: मन्त्र अनर्थक हैं, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि) वह तो मन्त्रोक्तभाव का अनुवाद है। यह ज़ो (कौत्स ने कहा कि वैदिक मंत्र) अनुपपन्नार्थक = (असंगत अर्थ वाले हैं, अत: अनर्थक हैं तो इसका उत्तर यह है कि यहाँ) वेद या श्रुति वचन = (वाक्य) से अहिंसा का भाव समझना चाहिए।

हिन्दी-भावार्थ— मन्त्र सार्थक है कि निरर्थक हैं- इस पर न केवल निरुक्त में ही विचार हुआ है, बल्कि जै. न्या. माला में भी पूर्ण रूप से इस पर प्रकाश डाला गया है। आचार्य यास्क यहाँ निम्नलिखित आधारों पर वैदिक मन्त्रों

की सार्थकता सिद्ध करना चाहते हैं। इनके द्वारा मन्त्रों की सार्थकता की सिद्धि सामान्य सिद्धान्त के आधार पर एवं पूर्वपक्षी के मत के खण्डन के आधार पर है। यथा—

(1) चूँकि लौकिक एवं वैदिक शब्दों में समानता है तथा शब्दों का अर्थों से नित्य सम्बन्ध सिद्ध है, अत: जिस प्रकार लौकिक शब्दों में अर्थ की प्रतीति होती है उसी प्रकार वैदिक मन्त्रगत शब्दों के भी अर्थ होते हैं एवं वैदिक शब्दों का समूह की मंत्रों में होता है, अत: मन्त्र सार्थक है।

(2) अनुष्ठीयमान कर्म का समर्थन ऋग्वेदादि के मंत्र प्रसंगानुसार किया करते हैं। इसी से यज्ञों की रूप समृद्धि मानी जाती है। यह रूप समृद्धि = कर्म सम्पादन सामर्थ्य रूप, यज्ञ की समृद्धि है। चूंकि रूप समृद्धयर्थक-अर्थ मन्त्रों में निहित हैं, अत: वैदिक मन्त्र सार्थक हैं, जिसका संकेत ब्राह्मण साहित्य करता है। यथा क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभि: = पुत्रों एवं नातियों (पोतों का भी उपलक्षण इसे मान लेना चाहिए) के साथ खेलते हुए (इस लोक में रहे) यह वैवाहिक मन्त्र आशीर्वादार्थक है।

(3) इन्द्राग्नी, पितापुत्रौ इत्यादि शब्दों में समान रूप में जिस प्रकार निश्चित शब्दों के क्रम निश्चित हैं उसी प्रकार वैदिक मन्त्रों में नियत शब्दों का क्रम निश्चित होता है, अत: जिस प्रकार हम लौकिक संस्कृत के शब्दों में निश्चित शब्दों एवं क्रम की योजना में भी अर्थ की प्रतीति मानते हैं तथा उसमें कोई अर्थबाधकता का दोष नहीं देखते; उसी प्रकार हमें वैदिक मन्त्रों के विषय में भी समझना चाहिए कि निश्चित शब्द योजना एवं शब्दों का क्रम निर्धारण मंत्रार्थनिरुपण में बाधक नहीं बनता। अत: मन्त्र सार्थक हैं।

(4) ब्राह्मण ग्रन्थ मन्त्रों को रूप सम्पन्न नहीं बनाते, बल्कि मंत्रों के भावार्थ को ही अपनी व्याख्येय पद्धति (Descriptive Methodology) से अभिव्यक्त करते हैं। वह रूप सम्पन्नता = कार्य सम्पादन सामर्थ्य मन्त्रोक्त भाव का अनुवाद ही है, अत: इस आधार पर मन्त्रों को निरर्थक नहीं माना जा सकता।

(5) इसी प्रकार "स्वधिते मैनं हिसी:" इत्यादि मंत्रों को अनुपपन्नार्थक न मानकर अहिंसा का निर्देशक मानना चाहिए। अर्थात् "औषधे त्रायस्वैनम्" "स्वधिते मैनं हिंसी:" इत्यादि मन्त्रों से अहिंसा का भाव सूचित होता है, अत: ये उपपन्नार्थक होने से सार्थक हैं।

यथो एतत्। विप्रतिषिद्धार्थाः भवन्ति इति। लौकिकेषु अपि एतत्। यथा असपत्नोऽयं ब्राह्मणः। अनमित्रो राजा इति। यथो एतत्। जानन्तं संप्रेष्यति इति। जानन्तम् अभिवादयते। जानते मधुपर्कं प्राह। यथो एतत्। अदितिः सर्वमिति। लौकिकेषु अपि एतत्। यथा सर्वरसाः अनुप्राप्ताः पानीयम् इति। यथो एतत्। अविस्पष्टार्थाः भवन्ति इति। नैषस्थाणोः अपराधः यदेनम् अन्धो न पश्यति। पुरुषापराधः स भवति। यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुशविशेषी भवति। पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति।।16।।

प्रसंग— पूर्ववत्।

हिन्दी-अनुवाद— यह जो कहा कि वैदिक मन्त्र विपरीत अर्थ वाले होते हैं तो इसका उत्तर यह है कि ऐसा तो लौकिक संस्त वाक्यों में भी होता है-यथा यह ब्राह्मण अजातशत्रु है। यह राजा शत्रुहित है। यह जो (कौत्स ने) कहा है (कि) विधिज्ञ को निर्देश देता है- (यह कोई अर्थबाधकता का हेतु नहीं है, क्योंकि) (शिष्य के नाम से) परिचित (गुरू) को (भी अपना नामोच्चारणपूर्णक शिष्य) प्रणाम करता है। (मधुपर्कग्रहण से) परिचित (वैवाह्य वर) को (आचार्य मधुपकों मधुपर्क: प्रतिगृह्यताम्) ऐसा कहता है। यह जो कौत्स ने कहा है कि अदिति सब कुछ है- (ऐसा) लौकिक वाक्य में भी देखा जाता है-यथा जल में सभी रस प्राप्त हैं। यह जो कहा कि कुछ वैदिक शब्द अस्पष्टार्थक होते हैं- (जिसका उत्तर यह है कि) यह स्थाणु (ठूँठ पेड़) का अपराध नहीं है कि उसे अन्धा व्यक्ति नहीं देखता। वह (देखने वाले) अन्धे पुरुष का अपराध होता है। जिस प्रकार जनपद या लोक में होने वाली शिल्पादि विद्याओं या क्रियाओं में विद्या के कारण (व्यक्ति विशेष) विशेषज्ञ (पुरुष विशेष = विशेष ज्ञान वाला अनुभवी पुरुष) होता है, उसी प्रकार वैदिक परम्परा के अनुसार प्राप्त ज्ञान वालों में अधिक विद्या = (ज्ञान) वाला श्रेष्ठ होता है।

हिन्दी-भावार्थ— यहाँ आचार्य यास्क ने कौत्स के अवशिष्ट 4 मन्त्रानार्थक्य साधक तर्कों का खण्डन करके मन्त्रार्थ की सिद्धि निम्नलिखित रूप में की है।

वैदिक मन्त्र सार्थक है। विरुद्धार्थता के कारण वैदिक मन्त्रों को इसलिए अनर्थक नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसे अर्थ तो लौकिक संस्कृत वाक्यों में भी पाए जाते हैं। यथा यह ब्राह्मण अजातशत्रु है, यह राजा शत्रु रहित है इत्यादि, अत: जैसे इन विपरीत भावों के रहते लौकिक संस्कृत के वाक्यों के अर्थ मान्य है, उसी प्रकार प्रथम दृष्टि में विप्रतिषिद्धार्थक प्रतीत होने वाले वैदिक मन्त्रों को निरर्थक नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार ''जानन्तमभिवादयते'' ''जानते मधुपर्कमाह'' इन दो वाक्यों के द्वारा आचार्य यास्क ने कौत्स के ''जानत्तं संप्रेष्यति'' इस वाक्य के द्वारा उपस्थापित कारण को निरर्थक बताया है, क्योंकि अपने आचार्य को प्रणाम करते समय ब्राह्मण बटु स्वनाम का उच्चारण करता है। तथा वैवाह्य वर जो मधुपर्क-पान के विषय से पूर्ण परिचित रहता है, उस जानकार वर को भी आचार्य ''मधुपर्को मधुपर्को मधुपर्क: प्रतिगृह्यताम्'' कहकर मधुपर्क ग्रहण का निर्देश करता है। अत: जिस प्रकार इन स्थलों में अर्थ की प्रतीति होती है, उसी प्रकार वैदिक मन्त्रों में अर्थ की प्रतीति निश्चित रूप से होती है। आचार्य यास्क आगे पूर्वपक्षी के उस मन्त्रानार्थक्य कारण का खण्डन करते हैं, जिसमें यह कहा गया है कि मन्त्रों में एक ही देवता को अनेक रूपों में प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि अदिति: सर्वम् अदिति सर्वरूप है। यास्क कहते हैं कि लौकिक वाक्य प्रयोगों में भी इस तरह के उदाहरण मिलते हैं, यथा ''सर्वरसा: अनुप्राप्ता: पानीयम्'' पानी में सभी रस हैं। अत: जिस प्रकार लौकिक संस्कृतवाक्यों के अर्थ में कोई बाधा नहीं होती, उसी प्रकार वैदिकमन्त्रार्थ-करण में भी कोई बाधा नहीं होती।

आचार्य यास्क ने अभ्यक् इत्यादि वैदिक शब्दों के अस्पष्टार्थत्व के कारण वैदिक मन्त्रों के निरर्थकत्व को सिद्ध करने के तर्क को यह कहकर विखण्डित कर दिया है कि वैदिक मन्त्रार्थ को जानने के लिए निरुक्त इत्यादि शास्त्रों का गहन अध्ययन अपेक्षित है। यदि इन शास्त्रों में श्रम नहीं कर पाने के कारण किसी व्यक्ति को उपर्युक्त अम्यक् इत्यादि वैदिक शब्दों का अर्थ नहीं लग रहा हो तो इसके लिए वैदिक मन्त्र अपराधी नहीं हैं। इसी भाव को अभिव्यक्त करते हुए आचार्य यास्क कहते हैं कि यदि अन्धा व्यक्ति किसी ठूँठ (पेड़) को नहीं देख पाता तो यह उस व्यक्ति का अपराध है न कि उस वृक्ष का। यहाँ रूपान्तर से अल्पज्ञ को अन्धा कहा है, जिसे वैदिक मन्त्रों में अर्थ की प्रतीति नहीं होती। लोक में अल्पज्ञ की नहीं, बल्कि बहुज्ञ की पूजा होती है। जहाँ तक वैदिक मन्त्रार्थ बोध ा की बात है, वह तो एक वैदिक परम्परागत अध्ययन से प्राप्त संस्कार से संभव है। इसी कारण परम्परा प्राप्त वैदिक ज्ञान वालों में भी जो अधिक विद्या वाला व्यक्ति होता है, वही यशस्वी एवं श्रेष्ठ होता है। जिसका संकेत ''आदघ्नास:'' इत्यादि ऋग्वेदीय मन्त्र करते हैं।

षष्ठ पाद

अथापि इदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते। अवसाय पद्वते ''मृड'' इति। पद्वत् अवसम्। गाव: पथ्यदनम्। अवते: गत्यर्थस्य। असौ नामकरण:। तस्मात् न अवृहणन्ति। अवसायाश्वान् (ऋ. 1/7/18/1) इति। स्यति: उपसृष्टौ विमोचने। तस्मात् हवगृहणन्ति।

प्रसंग—निरुक्त का प्रयोजन

हिन्दी-अनुवाद— इस निरुक्त के बिना (वैदिक मन्त्रों का पदपाठ के समय) पदविभाग करना असंभव है। (यथाहे रुद्र हमारे इस) पैरों से युक्त पाथेय-साधन = गाय को सुखी रखो। पद्वत अवसम् = पथ्यदनम्, गाव: = पैरों से युक्त मार्ग का भोजन = पाथेय का साधन गाय- (यह अर्थ है) (यहां) गत्यर्थक अब धातु से अस प्रत्यय किया गया है। अत: (असमस्त अर्थात् एक पद मानकर ''अव एवं साय'' = अव+साय के बीच पदपाठ के समय पदपाठकार) अवग्रह का चिह्न (ऽ) नहीं लगाते। (इसके विपरीत) अवसायाश्वान् = घोड़ों को मुक्तकर इस उदाहरण में (अव) उपसर्गपूर्वक (षोन्तकर्मणि) छोड़ने के अर्थ में ''सो'' धातु है। तस्मात् (अवगृहणन्ति = जिसके कारण अव एवं साय में उपपद समास मानकर पदपाठाकार अवग्रह का प्रयोग करते हैं।)

हिन्दी-भावार्थ— इस षष्ठ पाद में यास्क पदपाठ एवं पदपाठ के आधार पर ही क्रम पाठ तथा जटा इत्यादि विकृति पाठ बनाने के लिए निरुक्तशास्त्र का प्रयोजन सिद्ध करना चाहते हैं। ''तद्यानि चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च'' इन चार प्रकार के पदों का जब तक ज्ञान नहीं होगा तब तक वैदिक मन्त्रों का अर्थ ज्ञात नहीं हो सकता, क्योंकि मन्त्रव्याख्या के लिए पद पदार्थ का ज्ञान परमावश्यक है। इसी प्रकार निरुक्तशास्त्र के ज्ञान के अभाव में पदसंहिता एवं क्रम-संहिता की रचना प्रक्रिया का पता भी नहीं लग सकता। अत: आचार्य यास्क ने इदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते कहा है। यद्यपि यहां मात्र पद विभाग के लिए निरुक्त का अध्ययन आवश्यक रूप से प्रतीत होता है, लेकिन यास्क की यह पंक्ति वेद सुरक्षा की मूलभावना को पद पाठ में निहारती प्रतीत हो रही है, क्योंकि वैदि मन्त्रों के द्विविध पाठ प्रचलित हैं, संहिता पाठ एवं विकृति पाठ। संहिता पाठ भी आर्षी संहिता पाठ, पद संहिता पाठ से क्रम संहिता पाठ— इन त्रिविध रूपों में माना जाता है। इनके अतिरिक्त आठ प्रकार के विकृत पाठ हाते हैं। मन्त्र के व्याख्यान के लिए मन्त्रगत पदों को अलग-अलग करना पड़ता है। अत: इसमें आठों जटादि विकृति पाठ भी निर्भर हैं, अत: यास्क का यह कहना कि इदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते बहुत वैज्ञानिक है। इस निरुक्तशास्त्र की उपयोगिता को एक ''अवसाय'' पद के द्विविध के माध्यम से आचार्य यास्क सिद्ध करते हैं।

अवसाय की निष्पत्तिः—

(1) अव + अस् = अवस-ङ् - अवस+य = (ङ् र्य:) = अवसय - अवसाय (सुपि च से दीर्घ) - यह एक ही सुबन्तपद है। अत: निरुक्त का जानकार जब ''अवसायपद्वते मृड'' इस ऋक् खंड का पदपाठ करेगा तो उपर्युक्त व्युत्पत्ति के कारण अव+साय— ऐसा खण्ड अनुपयुक्त मानकर यहां अवग्रह (ऽ) नहीं लगायेगा।

(2) जबकि अन्यत्र अवयाय में। अव (उपसर्ग) + (षो+ल्यप् सो+य) साय— इस व्युत्पत्ति को समझकर निरुक्त शास्त्र का ज्ञाता ''अवसायाश्वान्'' = (अश्वों को छोड़कर) इस ऋवेदीय अवसाय पद के पदपाठ में अव एवं साय के बीच गति समास को समझता है तथा गति समास के कारण यहाँ अव एवं साय में अवग्रह का प्रयोग करता है। यथा— अवऽसाय अत: एक ही अवयाय शब्द की द्विविध निष्पत्ति को समझकर भिन्न-भिन्न अर्थों (अवसाय = पाथेय का साधन-गाय एवं अवसाय = छोड़कर) को दृष्टि में रखकर पदपाठ करना निरुक्तशास्त्र के अध्ययन के बिना असंभव है।

दूतो निर्ऋत्र्या इदमा जगाम इति। पञ्चम्यर्थप्रेक्षा वा षष्ठ्यर्थप्रेक्षा वा। आ: कारान्तम्। 'परो निर्ऋत्र्या ''आ चक्ष्य'' इति। चतुर्थ्यर्थप्रेक्षा। ऐकारान्तम्। पर: सन्निकर्ष: संहिता। पदप्रकृति: संहिता। पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि।

प्रसंग— पूर्ववत्।

हिन्दी-अनुवाद— (यह निर्ऋर्ति का दूत) निऋरति के पास से यहां (हमारे घर) आया है। यहां पञ्चमी विभक्ति या षष्ठी विभक्ति के अर्थ का दर्शन है। (निर्ऋत्या इदमाजगाम में 'निर्ऋत्या:) आ: कारान्त पद है। पर: = दूर जाकर निर्ऋत्या आचक्ष्व = (पाप देवता या मृत्यु देवता) निर्ऋति को कहो। यहाँ निर्ऋत्यै-रूप चतुर्थी विभक्ति के अर्थ का दर्शक है (या यहाँ चतुर्थी विभक्ति के अर्थ की अपेक्षा है) (यह निर्ऋत्यै 4/1) ऐसा ऐकारान्त पद है। पर: सन्निकर्ष: संहिता = वर्णो का प्रकृष्ट समीपता संहिता है। पद प्रकृति वाली संहिता होती है। पद-प्रकृति = (मूल) वाले सभी शाखाओं (सर्वचरणानाम्) के पार्षदानि = प्रातिशाख्य हैं।

हिन्दी-भावार्थ:— पद विभाग में सहायक होने के कारण निरुक्त का अध्ययन करना चाहिए। इसी सिद्धान्त की पुष्टि के लिए आचार्य यास्क ''निर्ऋत्या'' शब्द को उद्धृत करते हैं। इस निर्ऋत्या पद में चतुर्थी, पञ्चमी एवं षष्ठी इन तीनों ही विभक्तियों को भिनन-भिन्न मन्त्रगत अथो के आधार पर समझाया है। ''परोनिर्ऋत्या आचक्ष्व'' में निर्ऋति शब्द चतुर्थ्यन्त है जो व्याकरण की प्रक्रिया के कारण (एचों. एवं लोप; शा.) आगे आचक्ष्व के ''आ'' के चलते ''निर्ऋत्या'' बन गया है। ''दूतोनिर्ऋत्या इदमाजगाम में ''निर्ऋत्या:'' मूल शब्द था, लेकिन इदमाजगाम पद के आदि में स्थित ''इ'' के चलते विसर्ग का लोप हो गया है। यह शब्द पञ्चमी एवं षष्ठी विभक्ति के एकवचन

में एक समान ही बनता है। अत: निरुक्त की सहायता से ही मन्त्रों के पदों को अलग-अलग करके अर्थ निकाले जा सकते हैं। पदों को इतना महत्व देने के कारण आचार्य यास्क ने पदों के समूह से बनने वाले अपौरुषेय वाक्य रूप मन्त्रों के संकलन रूप संहिता शब्द को भी आनुषंगिक क्रम से परिभाषित करते हुए वर्णों के अतिसामीप्य को संहिता कहा है। इस संहिता के दो अर्थ होते हैं— वैदिक संहिताएं जिनमें ऋगादि का संकलन है। दूसरा व्याकरण का पारिभाषिक शब्द जिसका उपयोग आचार्य पाणिनी ने किया है। यहाँ संहिता शब्द निश्चित रूप से वैदिक संहिता का सूचक है, क्योंकि एक प्राणयोग से अविलम्ब ही परस्पर मिले हुए मन्त्रगत वर्णों एवं पदों का उच्चारण वेदाध्यायी करता है। शास्त्र में पद प्रधान एवं संहिता प्रधान दो अवधारणाएं मिलती हैं जिनमें कुछ विद्वान् संहिता को प्रकृति एवं पद संहिता को विकृति मानते हैं। इस के विपरीत कुछ विद्वान पद को प्रकृति एवं संहिता को विकृति मानते हैं। प्रातिशाख्य ग्रन्थ पदों को लेकर ही प्रवृत्त हैं। अत: पदप्रधानत्व का सिद्धान्त भी महत्वपूर्ण है, लेकिन दुर्गाचार्य प्रभृति आर्षेय परम्परागत विद्वान् संहिता को ही सभी पदों को मूल मानते हैं। इस प्रकार आचार्य यास्क ने यहां आनुषंगिक रूप से संहिता शब्द का भी प्रतिपादन कर दिया है। पद विभाग के उद्देश्य से तथा देवता ज्ञान के उद्देश्य से निरुक्त का अध्ययन आवश्यक है, क्योंकि इस प्रकार के पद विभाग के द्वारा ही हम मन्त्रार्थ तक पहुँच सकते हैं। देवता ज्ञान भी पदपदार्थ ज्ञान पर ही निर्भर करता है। अत: निरुक्त के प्रयोजनों में यज्ञीयमंत्रगत देवताओं का निर्णय निरुक्त के दैवतकाण्ड के आधार पर किए जा सकते हैं। इस देवता मूलक प्रयोगजन के विषय में सोदाहरण निरुपण आगे किया जाएगा।

अथापि या ज्ञै दैवतेन बहव: प्रदेशा: भवन्ति। तदेतेनोपे-क्षितव्यम्। ते चेद् ब्रूयु:। ''.....लिङ्गज्ञा अत्र स्म:'' इति। इन्द्रं नत्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति इति। वायु लिङ्ग च इन्द्र-लिङ्ग च आग्नेये मन्त्रे (ऋ. 4, 5, 6, 2। अग्निरिव मन्यो त्विषित: सहस्व इति। तथा अग्नि: मान्यवे मन्त्रे (ऋ. 18, 3, 19, 2)। त्विषित: ज्वलित:। त्विषिरित्यप्यस्य दीप्तिनाम भवति।

प्रसंग— पूर्ववत् निरुक्त प्रयोजन का प्रतिपादन।

हिन्दी-अनुवाद— इसके अतिरिक्त यज्ञ-कर्मों में बहुत-सी विधियां होती हैं, उन्हें इस निरुक्त के माध्यम से समझना चाहिए। यदि वे (याज्ञिक लोग कहें कि) यहां (याज्ञिक देवता के निर्णय में हम, मंत्रों में स्थित देवता के) लिंग = अभिधान (या संकेत) को जानते हैं (तो उन्हें यह समझ लेना चाहिए कि मात्र मन्त्र-गत लिंग के आधार पर देवता का निर्णय नहीं हो सकता; क्योंकि) इन्द्रं नत्वा शवसा देवता वायु प्रीणन्ति इति = बल के कारण देवता तुम्हें इन्द्र की तरह एवं वायु की तरह पूजते हैं या आदर देते हैं। इस अग्नि देवता से सम्बन्धित मंत्र में (तो) वायु एवं इन्द्र का अभिधान = नामनिर्देश है। (इसी प्रकार) अग्निरिव मन्यो त्विषित: सहस्व'' इति = हे क्रोध - देवते। (मन्यु।) तुम प्रदीप्त अग्नि की तरह शत्रुओं को अभिभूत या पराजित करो। वैसे ही यहां मन्यु देवता से सम्बन्धित मंत्र में अग्नि का अभिधान है। त्विषितु: का अर्थ है ज्वलित: = प्रदीप्त। त्विषिरिति = त्विषि यह अपि= भी, अस्य = इस का दीप्तिनाम भवति = दीप्ति शब्द का पर्याय है। (अर्थात् त्विषि शब्द दीप्ति का ही वाचक है।)

हिन्दी-भावार्थ— निरुक्त के प्रयोजनों में से यज्ञीय देवताओं का मन्त्रों में प्रधनप्रधान भाव से विचार करना भी एक प्रयोजन है। निरुक्त के दैवतकाण्ड में वैदिक देवताओं से सम्बन्धित विचार प्राप्त होते हैं। इसी दैवत काण्ड में देवताओं के आकार विषय पर विचार किया गया है-यथा ''अथाकारचिन्तनं देवतानाम्'' इत्यादि। अत: पदविभाग से लेकर यज्ञविधि एवं वैदिक मन्त्रों में देतवा ज्ञान तक के विषय वेद के अर्थ विज्ञान से सम्बन्धित हैं, जिसके लिए निरुक्त शास्त्र का प्रयोजन सिद्ध होता है।

निरुक्तादि शास्त्रों के अध्ययन से वैदिक मन्त्रों के अर्थ का प्रकाशन होता है। इसमें शास्त्र स्वयं प्रमाण है, क्योंकि शास्त्र में वेदार्थज्ञाता की प्रशंसा तथा वेदार्थ ज्ञान से रहित व्यक्ति की निन्दा स्वयं दिखाई देती है, जिसका वर्णन आचार्य यास्क आगे करने जा रहे हैं। यथा—

अथापि ज्ञानप्रशंसा भवति अज्ञाननिन्दा च।।

प्रसंग— वेदार्थज्ञ की प्रशंसा वेदार्थज्ञान से रहित व्यक्ति की निन्दा।

हिन्दी-अनुवाद— इसके अतिरिक्त ज्ञान की प्रशंसा अज्ञान की निन्दा (लोक में) होती है।

हिन्दी-भावार्थ—आचार्य यास्क यहाँ एक ओर तो मन्त्रार्थज्ञान के लिए निरुक्त के अध्ययन की महत्ता को सिद्ध करना चाहते हैं, तो दूसरी ओर मन्त्रार्थ ज्ञान की प्रशंसा एवं अज्ञान की निन्दा को श्रुति प्रमाण से प्रमाणित करके, मन्त्रों में अर्थ को नहीं मानने वालों को सप्रमाण यह उत्तर देना चाहते हैं कि वैदिक मन्त्रों में आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक अर्थ है। आगे इसी सन्दर्भ में एक श्लोक का उल्लेख करके आचार्य यास्क अपनी छोटी सी निरुक्ति भी देते हैं। यथा—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभू-
दधीत्यवेदं न विजानाति योऽर्थम्।
यज्ञोऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते,
नाकमेति ज्ञानविधूपाप्मा।।

हिन्दी-अनुवाद— जो अर्थ को नहीं जानता वह वेद पढ़कर भी भार ढोने वाले सूखे वृक्ष की तरह है। (इसके विपरीत) जो अर्थज्ञ है वही सम्पूर्ण (अध्ययन जनित) कल्याण को प्राप्त करता है तथा ज्ञान से विध्वस्त-पाप वाला वह अर्थज्ञ स्वर्ग को प्राप्त करता है। (अथवा वेदार्थ ज्ञान के प्रभाव से अपने पापों का विनाश कर स्वर्ग सुख को प्राप्त करता है।)

हिन्दी-भावार्थ— जो नियमपूर्वक वैदिक मन्त्रों को कंठ करने के साथ वैदिक मन्त्रों का अर्थ एवं तात्पर्य भी समझता है वह ऐहित सुख को प्राप्त कर मरने के बाद स्वर्ग को जाता है जबकि वेदार्थ ज्ञान से ही व्यक्ति सूखे वृक्ष की भांति रटे हुए मन्त्रभार को ढोता है। अर्थात् उसके वेदाध्ययन से न समाज को कोई लाभ होता न उसे ही लाभ मिलता। मात्र मन्त्रपारायण से जो कुल फल मिलता है उतना ही उसके वेदाध्ययन का फल है विशेष नहीं। शास्त्रों में अर्थ के साथ वेदाध्ययन ही पूर्ण वेदाध्ययन माना गया है।

यद्गृहीतविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैन्धो न तज्जवलति कर्हिचित्।।

प्रसंग— पूर्ववत्, अर्थज्ञ की प्रशंसा एवं अनर्थज्ञ की निन्दा।

हिन्दी अनुवाद— वैदिक मन्त्रों को (गुरु से) पढ़ लेने पर भी जो अर्थ नहीं जानता, वह वैदिक-शब्द मात्र का उच्चारण करता है (अतः) उसका वेदाध्ययन वैसे ही निष्फल होता है जैसे शुष्क-इन्धन (भी) अग्निरहित स्थान में (अपने आप) नहीं प्रज्वलित होता।

हिन्दी-भावार्थ— गुरु से मन्त्रमात्र का उच्चारण करना सीख कर कोई व्यक्ति पूर्ण रूप से वेदज्ञाता नहीं माना ज सकता। वैदिक मंत्रपाठ एवं मन्त्रार्थज्ञान ये दोनों प्रकार के अध्ययन पूर्ण वेदाध्ययन के स्वरूप को पुष्ट करते हैं। केवल मन्त्रपाठी का वैदिक-अध्ययन उस सूखी लकड़ी की तरह है, जो प्रज्वलित होने के लिए अर्थज्ञान रूपी अग्नि की अपेक्षा रखती है। अतः अधीत वैदिमन्त्र जब अर्थविज्ञान से युक्त होता है, तो वेदाध्यायी को प्रकाशित करता है। यह प्रस्तुत अंश का भावार्थ है।

स्थाणुः तिष्ठतेः। अर्थे अर्ते। अरणस्थः वा।

प्रसंग—पूर्व के मंत्र में पठित स्थाणु इत्यादि शब्दों का निर्वचन।

हिन्दी-भावार्थ—स्थाणु एवं अर्थ-शब्द पूर्णवाले व्याख्येय पद्य में आए हैं। प्रसंगवश आचार्य यास्क ने इन दोनों का निर्वचन भी कर दिया है।

स्थाणु— में ऋ + थन् अथवा ऋ + ल्युट्-स्था-क-है।

उत त्वः पश्यन्न द दर्श वाच-
मुतत्वः श्रृण्व न्न श्रृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्त्रे,
जायेव पत्य उशती सुवासाः।। (ऋ. 8/2/23)

प्रसंग— वेदार्थज्ञ की प्रशंसा तथा अज्ञानी की निन्दा।

हिन्दी-अनुवाद— एक (अल्पज्ञ व्यक्ति) वाणी = शब्द को देखता हुआ भी नहीं देखता (तथा) वाणी को सुनता हुआ ही नहीं सुनता (जबकि) एक (विद्वान्) के लिए वाणी अपने शरीर को उसी तरह फैला देती है, जैसे कोई कामयमाना सुवसना पत्नी अपने पति के लिए अपने स्वरूप को प्रकट करती है।

हिन्दी-भावार्थ— इस मंत्र में ज्ञानी की प्रशंसा एवं अज्ञानी व्यक्ति की निन्दा के माध्यम से शब्द ज्ञानी एवं शब्दार्थ ज्ञानी के बीच भेद को भी सूचित किया गया है। केवल मन्त्र को पढ़ लेने वाला व्यक्ति शब्द को तो (''गणानान्त्वा. '' इत्यादि मंत्रों में स्थित शब्दों को तो) जानता है, लेकिन शब्दार्थ को नहीं जानता, अतः वह शब्द को देखता हुआ भी तात्पर्यार्थ ज्ञान की दृष्टि से नहीं देखता, जबकि अर्थज्ञ विद्वान के समक्ष शब्द का सम्पूर्ण रहस्य स्पष्ट हो जाता है। इस मन्त्र के द्वारा उपमा के माध्यम से यह सूचना मिलती है कि वाणी, उस पत्नी की तरह है, जो अपने सौन्दर्य का प्रदर्शन अपने पति के समक्ष करती है। अर्थात् उसके सौन्दर्य-प्रेक्षण का अधिकारी उसका पति ही है। वाणी के पक्ष में इसका तात्पर्य यह है कि वाणी अपने रहस्य की जानकारी शब्दार्थज्ञानी को ही देती है, अर्थात् शब्दरहस्यज्ञान का अधिकारी विद्वान ही होता है, अल्पज्ञ नहीं।

अपि एकः पश्यन् न पश्यति वाचम्।

अपि च श्रृण्वन न श्रृणोति एनाम्। इति अविद्वांसम् आह अर्द्धम्। अपि एकस्मै तन्वं विसस्त्रे इति स्वम् आत्मानं विपृणते ज्ञानम्। प्रकाशनम् अर्थस्य आह अनया वाचा। उपमा उत्तमया वाचा। जाया इव पत्ये कामयमाना सुवासाः ऋतुकालेषु। सुवासाः कल्याणवासाः। कामयमाना ऋतुकालेषु यथा स एनां पश्यति स श्रृणोति। इति अर्थज्ञप्रशंसा। तस्य उत्तरा भूयसे निर्वचनाय ।।19।।

प्रसंग— उपर्युक्त मन्त्र की यास्कीय व्याख्या।

हिन्दी-अनुवाद— एक (अल्पज्ञ) वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता तथा सुनता हुआ भी नहीं सुनता। इस प्रकार आधी ऋचा अविद्वान् के प्रति निर्दिष्ट है। तथा एक (विद्वान्) के लिए शब्द ज्ञान अपने शरीर को (या स्वरूप को) अरावृत्त कर देता है। इस वाक्य से अर्थ का प्रकाशन कहा गया है। अन्तिम (वाक्य या) वाणी से (उपमा) = सादृश्य का निर्देश किया गया है। ऋतुकालों में पति की कामना करने वाली सुन्दर वस्त्र को धारण करने वाली पति के लिए (जिस प्रकार एक) पत्नी (अपने स्वरूप को प्रकट करती है, उसी तरह वाणी भी विद्वान को अपना स्वरूप प्रकट करती है- यही सादृश्य है) वह (विद्वान्) जिस प्रकार इसे (वाणी को) देखता है वैसे ही पारमार्थिक रूप से उसे सुनता (भी) है। यह अर्था की प्रशंसा है। उस मन्त्र के आगे की ऋचा इसी भाव को अधिक स्पष्ट करने के लिए है- (उत त्वं. यह ऋक्)

हिन्दी-भावार्थ— उत त्वः पश्यन्.- इस ऋचा की व्याख्या में आचार्य यास्क ने सूत्रात्मक शैली में शब्द विज्ञान एवं अर्थ विज्ञान का स्वरूप दर्शाया है। शब्द एवं अर्थ की नित्य सम्बन्ध शास्त्रों में निरुपित है, जिनमें निरुक्त, महाभाष्य

एवं वाक्यपदीय मुख्य हैं। अच्छा विद्वान् वही है, जिसे शब्द विज्ञान के साथ अर्थ विज्ञान का भी पूर्ण बोध हो। इस प्रकार के विद्वान को वाणी अपना पूर्ण स्वरूप उसी तरह प्रकट कर देती है, जिस प्रकार पतिव्रता सुन्दरी अपने स्वामी के समक्ष अपने लावण्य का प्रदर्शन करती है। इसके विपरीत अल्पज्ञ अर्थात् मात्र वैदिक मन्त्रों का अर्थरहित पाठ करने वाला व्यक्ति मानो वाणों को देखता हुआ भी नहीं सुनता। अत: मन्त्रपाठ के साथ मन्त्रार्थ का ज्ञान भी ज़रूरी है। इस भाव को अभिव्यक्त करने की दृष्टि से आचार्य यास्क लिखते हैं- यथा स एनां पश्यति स श्रृणोति।

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहु-

नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।

अधेन्वा चरति माययैष

वाचं शुश्रुवां अफलामपुष्पाम्।। (ऋ. 8/2/23)

प्रसंग— पूर्ववत् अर्थज्ञ की प्रशंसा, अनर्थज्ञ की निन्दा।

हिन्दी-अनुवाद— इसके अतिरिक्त ऋषियों ने एक (अर्थज्ञ) को देव सभा में ज्ञान या विद्वत्सभा में स्थिरप्रज्ञ कहा है, इससे वाणी से ज्ञान करने के विषयों (वाजिनेषु) में कोई व्यक्ति (अल्पज्ञ) मुकाबला भी नहीं कर सकता। इससे भिन्न ग्रह (एक अल्पज्ञ होता है जो) अर्थरूप पुष्पफल रहित वाणी को सुनकर गोत्वधर्मविहीन (जो गौ न बछड़ा दे न दुग्ध दे - ऐसी झूठी) गाय के साथ अर्थात् (झूठी वाणी के साथ) संसार में (व्यर्थ ही) घूमता रहता है।

हिन्दी-भावार्थ— ज्ञान के क्षेत्र में कुछ विद्वान् अविचलप्रतिभा एवं अविचलज्ञान वाले होते हैं, जिन्हें शास्त्रार्थ में कोई पराजित नहीं कर सकता। दूसरे वे लोग होते हैं, जो वैदिक मन्त्रों का परम्परानुसार पाठ-मात्र करना जानते हैं, उन्हें वैदिक मन्त्रों का अर्थज्ञान नहीं होता। वे उस गौ की तरह हैं जो दूध नहीं देती। केवल अर्थरहित वैदिक मन्त्रों के पाठ से पूर्ण वैदिक अध्ययन का फल प्राप्त नहीं हाता। अर्थात् अर्थज्ञान पूर्वक वैदिक मन्त्रों के अध्ययन से मन्त्रों का पूर्ण विनियोग एवं आध्यात्मिक इत्यादि त्रिविध प्रयोजन भी सिद्ध होते हैं। इस मंत्र में शब्दश: अनुवाद के माध्यम से मन्त्र के उद्देश्य तक नहीं पहुँचा जा सकता, क्योंकि यह ऋङ्मत्र सांकेतिक भाषा में वैदिक-अध्ययन की दो परम्पराओं को अभिव्यक्त करता है; जो आज भी कहीं न कहीं भारत में दिखाई देती हैं। वैदिक अध्ययन की इन परम्पराओं में एक परम्परा केवल वैदिक मन्त्रों एवं ब्राह्मणों के मौलिक अध्ययन पर बल देती है जिसमें छात्र वैदिक मंत्रों को विकृति सहित रट लेते हैं। यह परम्परा दक्षिण भारत में अभी भी दिखाई देती है। दूसरी परम्परा में मौलिक अध्ययन के साथ वैदिक भाष्यों का भी अध्ययन छात्रों को कराया जाता है, जिससे यज्ञमीमांसा को समझने में सहायता मिलती है। आचार्य यास्क के समय भी ये दोनों परम्पराएं रहीं होगी, जिससे अनर्थज्ञों के प्रति क्षुभित होकर पहले ही मन्त्रानर्थक्यवादियों के प्रति कह दिया है कि नायं स्थाणोरपराध: यदेनमन्धं न पश्यति। यहाँ इस वैदिक मन्त्र से भी अर्थ सहित वैदिक मन्त्रों के अध्ययन पर प्रकाश पड़ता है।

अपि एकं वाक्सख्ये स्थिरपीतमाहु: रममाणं विपीतार्थम्। देवसख्ये रमणीये स्थाने इति वा। विज्ञातार्थं य न्न आप्नुवन्ति। वाग्ज्ञेयेषु बलवत्सु अपि। अधेन्वा हि एष चरतिं मायया वाक्प्रति-रुपया। न अस्मै कामान् दुग्धे वाक् दोह्यान देवमनुष्यस्थानेषु। यो वाचं श्रुतवान् भवति अफलाम् अपुष्पाम् इति। अफला अस्मै अपुष्पावाक् भवति इति वा। किञ्चत्पुष्पफला इति वा। अर्थं वाच: पुष्पफलमाह। याज्ञदैवते पुष्पफले। दैवताध्यात्मे वा।

प्रसंग:— यास्कीय मंन्त्रव्याख्या।

हिन्दी-अनुवाद:— अपि एवं वाक् सख्ये स्थिरपीतमाहु: रममाणं विपीतार्थम् = प्राप्तज्ञान (या प्राप्त मन्त्रार्थ) से आनन्दित होने वाले एक (विद्वान्) को (ऋषिजन) वाणी के साथ मित्रता में, (विद्वत्सभा, या ज्ञान में) अविचलज्ञानी कहते हैं। देवसख्ये रमणीये स्थाने इति वा = अथवा (यास्क के अनुसार सख्ये का अर्थ है) स्वर्ग के देवसमूह में। विज्ञानार्थं (विज्ञातार्थं-पाठभेद) यं न आप्नुवन्ति वाग्ज्ञेयेषु बलवत्स्वपि = शब्द-प्रतिपाद्य अतिकठिन विषयों की शास्त्रार्थ-प्रक्रिया में जिसे कोई छू नहीं सकता (या प्राप्त नहीं कर सकता)। (इसके विपरीत अर्थ

विज्ञान से रहित) यह (अल्पज्ञ है जो) अन्धेवा कि एष चरति माययावाक्प्रतिरूपया = कृत्रिमशब्दरूपी बाँझ गौ के साथ (संसार में) विचरण करता है। न अस्मै कामान् दुग्धे वाक् दोह्यन देवमनुष्यस्थानेषु = इस अर्थविहीन अल्पज्ञ के लिए देवलोक एवं मनुष्य लोक में यह वाणी वाग्जन्यकामनाओं को पूर्ण नहीं करती। (वह कौन अल्पज्ञ है? इस जिज्ञासा की पूर्ति के रूप में आगे कहा जा रहा है-) यो वांच श्रुतवान् भवति अफलाम् अनुष्पाम् इति = जो पुष्प-फलरहित = (अर्थ रहित) शब्द को सुना हुआ होता है। अफला अस्मै अपुष्पावाग् भवति इति वा= (अल्प परिणाम वाली) वाणी होती है। अर्थं वाच: पुष्पफलमाह = वाणी के अर्थ को पुष्प व फल कहा गया है। याज्ञदैवते पुष्पफले दैवताध्यात्मे वा = अथवा यज्ञीय तत्वों एवं देवता-ज्ञान को या देवशास्त्र एवं अध्यात्म को (वाणी का) पुष्प-फल कहा है।

हिन्दी-भावार्थ— मन्त्रार्थ के माध्यम से जो विद्वान मन्त्रगत यज्ञीयत्व, देवतत्व एवं अध्यात्मतत्व को जानते है, वह पृथिवीलोक एवं स्वर्गलोक के सम्पूर्ण सुफलों को प्राप्त करता है तथा शास्त्रार्थ में उसे कोई पराजित नहीं करता। इसके विपरीत शब्द-रूप वैदिक मंत्रपाठ को ही महत्व देने वाला व्यक्ति मानो शब्दरूप मिथ्या गाय को लेकर संसार में विचरण करता रहता है। उसका शब्द ज्ञान उसके अभीष्ट की सिद्धि नहीं करता। अत: मंत्रपाठ एवं मंत्रार्थज्ञान- ये दोनों ही स्वाध्याय को फलदायी बनाते हैं।

साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयो बभूवुः। ते अवरेभ्यः असाक्षात्कृतधर्मेभ्यः उपदेशेन मन्त्रान् संप्रातुः। उपदेशाय ग्लायन्तः अवरे बिल्मग्रहणाय इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः। वेदं च वेदाङ्गानि न। बिल्मं = भिल्मम्। भासनामिति वा।

प्रसंग— वेदांग-रचना का प्रयोजन।

हिन्दी-अनुवाद— (प्राचीन काल में) प्रत्यक्षकृत धर्म वाले ऋषि हुए। उन्होंने अवान्तर कालीन अप्रत्यक्षकृत ध र्मवाले ऋषियों को उपदेश के माध्यम से मन्त्रों को प्रदान किया। उपदिष्ट मंत्रों के लिए (मंत्रों को मौखिक रूप से सुरक्षित रखने में) कष्ट का अनुभव करते हुए अवान्तरकालीन (उन ऋषियों) ने (सुरक्षा के) उपाय-लाभ के लिए इस निघण्टु-ग्रन्थ को बनाया। ब्राह्मण एवं वेदाङ्गों का सम्पादन किया।)

बिल्म का अर्थ है भिल्म = वेदों का भेदन या वैदिक शाखाओं का नाना रूप में सम्पादन करना अथवा नाना रूप में वैदिक शाखाओं का प्रकाशन।

हिन्दी-भावार्थ— प्राचीन काल में मन्त्रदृष्टा ऋषियों ने अपने शिष्य प्रशिष्यों को मौखिक रूप में वेद का उपदेश दिया था क्योंकि उन अवान्तर कालीन ऋषियों में मंत्रों को स्वयं देखने की शक्ति नहीं थी। इसके बाद इन प्राप्त वैदिक मंत्रों की सुरक्षा को लेकर वे अवान्तर कालीन ऋषि भी (मानवीय बौद्धिक सम्पदा में क्रमिक ह्रास को देखकर) बहुत दु:खी हुए। वैदिक साहित्य की सुरक्षा के लिए उन ऋषियों ने वैदिक शाखाओं का, ब्राह्मण साहित्य एवं वेदांगों का स्पष्ट विभाजन किया। इसी श्रृंखला की एक कड़ी निघण्टु-ग्रन्थ का सम्पादन भी है जिस पर अनेक निरुक्तकारों ने व्याख्याएं लिखीं हैं। यथा- ''निरुक्तं चतुर्दशप्रभेदम्'' - द्र दुर्गवृत्ति एवं वै. सा. व सं. प्रो. ब. उ. पृ. 357

एतावन्त: समानकर्माणो धातव: धातु: दधाते:। एतावन्ति अस्य सत्वस्य नामधेयानि। एतावताम् अर्थानाम् इदम् अभिध ानम्। नैघण्टुकमिंद देवतानाम। प्राधान्येय इदमिति। तत् यद् अन्यदैवते मन्त्रे निपतित नैघण्टुकं तत्। ''अश्वं न त्वा वारवन्तम्'' (ऋ. 1, 2, 22, 1)। अश्वमिव त्वा बालवन्तम्। बाला दंशवारणार्था: भवन्ति। दंशो दंशते:।

प्रसंग— निघण्टु के विषय।

हिन्दी-अनुवाद— इतनी धातुएँ समानार्थक हैं। धातुर्दधाते: = धातु शब्द धा (+तुन्) धारण पोषणार्थक धातु से बना है। इस (वस्तु या पदार्थ) के इतने नाम हैं। इतने अथो का वाचक यह नाम है देवता का यह नाम (इस मंत्र में) (नैघण्टुक =) गौण है (तथा) यह देवता (नाम) प्रधान है। वह जो देवता नाम अन्य देवता से सम्बन्धित मंत्र में आ

जाता है, वह नैघण्टुक - देवतानाम है। उदा. अश्वं न त्वा वारवन्तम् = घोड़े के तुल्य बाल वाले तुझ को उपर्युक्त मन्त्र या यास्ककृत अर्थ है - अश्वमिव त्वा बालवन्तम् (अर्थ में कोई भेद नहीं है) बला: दंशवारणार्था: = बाल दंश = (डाँस एक प्रकार का मच्छर जो गाय-भैंस इत्यादि पशुओं को काटते या डंसते रहते हैं।) को वारणार्थ भगाने के लिए होते हैं। दंशो दशते: = दंश शब्द दशति = डसता है में प्रयुक्त दंश से अच् प्रत्यय करके बना है।

हिन्दी-भावार्थ— आचार्य यास्क यहाँ निघण्टु ग्रन्थ जिस पर निरुक्त का निष्पादन हुआ है के पाँच अध्यायों के शब्दों को क्रमश: नैघण्टुक, नैगम एवं दैवत काण्डों में विभक्त कर समझना चाहते हैं। प्रथम तीन अध्यायों को नैघण्टुक काण्ड माना जाता है; चतुर्थ अध्याय को नैगम एवं पञ्चम अध्याय को दैवत काण्ड कहा जाता है। इनमें समानार्थक धातुओं का एक पदार्थ के वाचक अनेक पर्याय वाचक नाम का तथा अनेक अर्थों के लिए एक नाम वाले शब्दों के साथ देवतानाम का भी संकलन है। इसके अतिरिक्त आचार्य यास्क नैघण्टुक देवता एवं प्रधान देवता के बीच भेद को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अन्य देवता प्रधान मंत्र में यदि किसी दूसरे देवता का उल्लेख हो तो उसे नैघण्टुक = गौण देवता मानना चाहिए। इसका विवेक तो दैवत काण्ड के निरुक्ति के अध्ययन से ही उत्पन्न हो सकता है। उदाहरण के रूप में ''अश्वं न त्वा वारवन्तम्'' इस मन्त्र में यद्यपि अश्व-शब्द पठित है, फिर भी यह गौण या नैघण्टुक नाम है, अर्थात् अप्रधान देवता नाम के रूप में अश्व शब्द है। प्रधान देवता अग्नि है।

''मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः। (ऋ. सं. 8/8/38/2)'' मृग इव भीमः कुचरः गिरिष्ठाः। मृगः मार्ष्टेः गतिकर्मणः। भीमः बिभ्यति अस्मात्। भीष्मः अपि एतस्मादेव। कुचरः इति चरित कर्म कुत्सितम्। अथ चेत् देवताभिधानम् क्व अयं न चरित इति। गिरिष्ठाः गिरिस्थायी। गिरिः पर्वतः। समुद्गीर्णो भवति। पर्ववान् पर्वतः। पर्व पुनः पृणातेः प्रीणातेः वा। अर्धमास-पर्व देवान् अस्मिन् प्रीणन्ति इति। तत्प्रकृती तरत् सन्धि सामान्यात्। मेघस्थायी। मेघोऽपि गिरिः एतस्मात् एव।

प्रसंग— पूर्ववत् गौण-प्रण्धान देवता का उदाहरण।

हिन्दी-अनुवाद— सिंह-सा भयंकर हिंसक एवं पर्वत निवासी (हे इन्द्र।) मृग शब्द गत्यर्थक मृज्-धातु से (बन सकता है) भीम (भी+मक्) इसलिए कहते हैं, क्योंकि (जीव) इससे डरते हैं। भीष्म (शब्द) भी इसी (भी-भयार्थक धातु) से बना है- (भी-षुक्+मक्)। कुत्सित (हिंसादि) कर्म का आचरण करना या चलना कुचर कहलाता है और यदि यह देवताभिधान = देवता का कथन करता है (या देवता का विशेषण है) तो कुचर: का अर्थ होगा) क्व अयं न चरित ? यह इन्द्र कहाँ नहीं विचरण करता ? (अर्थात् हर जगह विचरण करता है।) गिरिष्ठा: का अर्थ है पर्वत निवासी। (अब मंत्रगत पदों का निर्वचन किया जा रहा है-)।

गिरि:— गिरि = पर्वत: = पर्वत का पर्यायवाची शब्द गिरि है, (क्योंकि) वह समुद्गीर्णो भवति = गिरि सम-विषम पत्थरों वाला होता है या उदगीर्ण = वान्त की तरह होता है।

पर्वत: — पर्ववान् पर्वत: = पर्वत ''पोर'' या गाँठ वाला होता है।

पर्व— पर्व:—पृणाते: प्रीणाते: वा = पर्वशब्द पृ (पूरा करना या भरना) धातु से अथवा प्रीत्यर्थक प्री-धातु से (बना है)।

अधर्मासपर्व देवान् अस्मिन् प्रीणन्ति = अमावस्या या पूर्णिमा वाला पर्व (व्रत), इस दिन देवताओं को प्रसन्न करता है। तत्प्रकृति: = उसी मूल स्वभाव के आधार पर इतर = अन्य (अर्थ) सन्धिसामान्यात् = संयोग की समानता के कारण होते हैं। गिरिष्ठा का अर्थ देवपक्ष में मेघस्थायी = मेघ निवासी है। मेघोऽपि गिरि: एतस्मात् एव = मेघ भी गिरि इसी उद्गीर्ण स्वभाव के कारण ही कहा जाता है।

हिन्दी-भावार्थ— ''अश्वं न त्वा वारवन्तम्'' में जिस प्रकार अग्नि प्रधान एवं अश्व नेघण्टुक = गौण देवतानाम है उसी प्रकार ''मृगो न भीम:'' में मृग गौण एवं इन्द्र प्रधान देवतानाम है। विशेष निर्वचन इत्यादि हिन्दी व्याख्या में स्पष्ट कर दिए गए हैं।

तद् यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतं इत्याचक्षते। तद् उपरिष्टात् व्याख्यास्याम: नैघण्टुकानि नैगामानि इह इह ।।20।।

प्रसंग— देवतकाण्डस्वरूप वर्णन।

हिन्दी-अनुवाद— इस निघण्टु में वह जो प्रधान-स्तुति वाल देवताओं के नाम हैं, उसे (निघण्टु के काण्ड को) आचार्य दैवत काण्ड कहते हैं। उसका (उस दैवत काण्ड का) आगे व्याख्यान करेंगे। नैघण्टुक एवं नैगम-पदों का यहीं = नैघण्टुक काण्ड में इह = नैगम काण्ड में (व्याख्यान करेंगे)।

हिन्दी-भावार्थ— आचार्य यास्क जहाँ निघण्टु के शब्दों के त्रिविध विभाजन को सूचित कर रहे हैं, वहीं निरुक्त में इसी क्रम से इन पदों में से कुछ पदों की व्याख्या व्युत्पत्ति एवं निर्वचन की ओर भी संकेत कर रहे हैं। (यहाँ हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि निघण्टुगत सभी शब्दों की व्याख्या निरुक्त में नहीं है।)

सारांश :

प्रस्तुत इकाई में आपने अथर्ववेद, सामवेद तथा यजुर्वेद के कुछ महत्वपूर्ण सूक्तों का अध्ययन किया है। साम्मनस्य सूक्त में हमें सहृदयता का व्यवहार करने, पिता, पुत्र, पत्नी, भाई आदि सभी से सामंजस्य बनाकर रहने, परस्पर मधुरतापूर्वक बोलने तथा अपने बड़े-बुजुर्गों का सम्मान करने की शिक्षा दी गयी है। तक्मनाशन सूक्त में ज्वर के कोप से मनुष्यों को बचाने के लिए वैद्य की स्तुति की गयी है। ज्वर की सर्प तथा धूर्त कहकर निंदा की गयी है। काल सूक्त में काल (समय) के स्वरूप का वर्णन करते हुए उसके महत्व का परिचय दिया गया है। शत्रुनाशन सूक्त में शत्रुओं के नाश हेतु सूर्य की स्तुति की गयी है। अन्य सूक्तों के माध्यम से भी अनेक शिक्षाएँ प्रदान की गयी हैं।

यह इकाई वेद के छठवें अंग निरुक्त शास्त्र का परिचय भी निरुक्त के प्रथम अध्याय के माध्यम से कराती है। यास्क द्वारा रचित निरुक्त का प्रथम अध्याय निरुक्त शास्त्र का प्रवेश द्वार माना जाता है। वैदिक पदों की निरुक्ति तो वस्तुत: द्वितीय अध्याय से प्रारम्भ होती है। यास्क के मतानुसार व्याकरण की परिपूर्णता निरुक्त में आकर ही होती है। वैदिक मंत्रों की व्याख्या में निरुक्त आचार्य यास्क की महत्वपूर्ण दैन है। वेद मंत्रों के अर्थ की पूर्णता, विविध शब्दों के स्वरूप, विषय के ज्ञान तथा देवताओं के स्वरूप का परिचय प्राप्त कराने में निरुक्त का महत्वपूर्ण स्थान है।

अभ्यास-प्रश्न :

1. साम्मनस्य सूक्त में निहित शिक्षाओं का विवेचन कीजिए।
2. काल सूक्त के वर्ण्य-विषय की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
3. तक्मनाशन सूक्त में वैद्यराज से क्या प्रार्थना की गयी है?
4. तक्मनाशन सूक्त में ज्वर की निन्दा क्यों की गयी है?
5. काल सूक्त में वर्णित काल (समय) की विशेषताएँ बताइए।
6. शत्रुनाशन सूक्त की विषय-वस्तु की समीक्षा कीजिए।
7. निरुक्तशास्त्र के रचयिता आचार्य यास्क का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
8. निरुक्त का अर्थ स्पष्ट करते हुए इसके उद्देश्यों का वर्णन कीजिए।
9. आचार्य यास्क की निर्वचन पद्धति पर प्रकाश डालिए।
10. 'भाव विकार' का विस्तृत वर्णन कीजिए।

NOTES

3 ईशावास्योपनिषद्

इकाई में सम्मिलित है :

- अध्ययन के उद्देश्य
- प्रस्तावना
- उपनिषदों का महत्व
- ईशावास्योपनिषद् का दार्शनिक महत्व
- योगी की मुक्ति
- ईशावास्योपनिषद् में सर्वात्मवाद
- ईशावास्योपनिषद् की सम्पूर्ण व्याख्या
- सारांश
- अभ्यास-प्रश्न

अध्ययन के उद्देश्य :

इस इकाई में ईशावास्योपनिषद् की सम्पूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। इस व्याख्या के क्रम में उपनिषदों की विशेषताओं तथा ईशावास्योपनिषद् की विलक्षण दार्शनिकता पर भी प्रकाश डाला गया है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् छात्र :

- उपनिषद् साहित्य की महत्ता से परिचित हो सकेंगे।
- ईशावास्योपनिषद् की दार्शनिक विशिष्टता जान सकेंगे।
- योगियों की मोक्ष-प्राप्ति के साधनों से परिचित हो सकेंगे।
- ईशावास्योपनिषद् के सर्वात्मवाद एवं सर्वत्याग से परिचित हो सकेंगे।
- उपनिषद् साहित्य में ईशावास्योपनिषद् का स्थान निर्धारित कर सकेंगे।
- आत्मा तथा परमात्मा के स्वरूप का समुचित विवेचन कर सकेंगे।
- ईशावास्योपनिषद् के सभी श्लोकों की सप्रसंग व्याख्या कर सकेंगे।

NOTES

प्रस्तावना :

वेद के चार भाग हैं- संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनषिद्। इनमें से उपनषिद् वेद का अन्तिम भाग होने से वेदान्त भी कहलाती हैं। संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थों में मुख्यतया वेद का कर्मकाण्ड भाग ही विद्यमान है जबकि उपनिषद् वेद का ज्ञानकाण्ड है। ब्रह्म, जीव, जगत् आदि गूढ़ातिगूढ विषयों पर जितना गहन विचार-मन्थन उपनिषदों में हुआ है, उतना संसार में अन्यत्र दुर्लभ है। भारतवर्ष की प्राय: प्रत्येक चिन्तनधारा का स्रोत उपनिषदों में उपलब्ध होता है। यहाँ तक कि शरीर को ही आत्मा मानने वाले लोकायतों, शून्य से ही जगत् की सृष्टि मानने वाले बौद्धों और स्याद्वीदी जैनियों के सिद्धान्त भी उपनिषदों में उपलब्ध हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में, उपनिषद् ज्ञान की अनन्तराशि है। **ब्लूमफील्ड** के शब्दों में, ''भारतीय चिन्तन का कोई भी महत्वपूर्ण रूप ऐसा नहीं, बौद्ध धर्म भी नहीं, जो उपनिषदों से नि:सृत न हो।''

'उपनिषद्' शब्द की अनेक व्युत्पत्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं, जिनसे उपनिषदों के स्वरूप और विषय की अभिव्यंजना होती है। यदि इसे 'उप' (निकट), 'नि' (नीचे) और सद (बैठना) से व्युत्पन्न माना जाये तो इसका तात्पर्य है-वह विद्या जो गुरु के अत्यन्त निकट नीचे बैठकर प्राप्त की जाती है। इससे सिद्ध होता है कि उपनिषद् विद्या परम गुह्य विद्या है जो योग्य अन्तेवासी शिष्य द्वारा ही ग्राह्य है। **शंकराचार्य** आदि दार्शनिक विद्वान् 'उप + नि' पूर्वक 'सद्' धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'उपनिषद्' रूप की सिद्धि बतलाते हैं। 'सद्' धातु के तीन अर्थ हैं- विशरण (विनाश), गति (ज्ञान और प्राप्ति) तथा अवसादन (शिथिल करना)। **स्वामी शंकराचार्य** के शब्दों में, **''सदेर्धातोर्विशरणगत्यवसादनार्थस्योपनि पूर्वस्य क्विप्रत्ययान्तस्य रूपमुपनिषदिति।''** इन अर्थों के आधार पर 'उपनिषद्' शब्द की विशद व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है-

''उपनिषादयति सर्वानर्थकंरसंसारं विनाशयति, संसाराकरणभूतामविद्यां च शिथिलयति, ब्रह्म च गमयति इति उपनिषद्।'' अर्थात् ''जो समस्त अनर्थों को उत्पन्न करने वाले संसार का विनाश करती है, संसार की कारणभूत अविद्या को शिथिल करती है तथा ब्रह्म की प्राप्ति कराती है, वह उपनिषद् है।'' इस प्रकार ब्रह्म विद्या को ही 'उपनिषद्' नाम से कहा गया है। यह वेद के अन्त में है और इसमें वेद का अन्त चरम सिद्धान्त भी वर्णित हुआ है, इसलिए इसे 'वेदान्त' भी कहते हैं। 'रहस्य' के अर्थ में भी 'उपनिषद्' शब्द का प्रयोग हुआ है जैसे 'इत्युपनिषत्' (तैत्रि.) अर्थात् यह उपनिषद् है- परम रहस्यभूत आत्मतत्त्व का बोध कराने वाली विद्या है। यह आत्मतत्त्व अन्य सब रहस्यों से अधिक रहस्यभूत, क्योंकि यह हमारे भीतर सबसे अत्यन्त निकट है तथापि अज्ञानी मनुष्य के लिए बहुत दूर है। इसी आशय को ईशोपनिषद् ने **'तद्दूरं तद्वन्तिके'** कहकर स्पष्ट भी कर दिया है। इसके अतिरिक्त, इस आत्मतत्त्वरूपी रहस्य ज्ञान के प्राप्त हो जाने पर संसार में दूसरी कोई वस्तु जानने योग्य नहीं रह जाती। उसके ज्ञात हो जाने पर सब कुछ ज्ञात हो जाता है- **''एकस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति** (छान्दोग्य.)। ऐसा ही अन्य श्रुतियाँ भी कहती हैं।

उपनिषदों का महत्व

चारों वेदों की प्रत्येक शाखा से सम्बन्ध रखने वाली एक-एक उपनिषद् है। वेदों की कितनी शाखाएँ थीं, यह तो बता पाना बड़ा कठिन है। महाभाष्यकार के समय में प्रत्येक वेद की इतनी शाखाएँ थीं- **''एकशतमध्वर्युशाखा, सहस्रवर्त्मा सामवेद:, एकविंशतिधा बह्वच्य:, नवधाऽऽथर्वणो** वेद:'' अर्थात् यजुर्वेद की एक सौ एक, सामवेद की सहस्र, ऋग्वेद की इक्कीस और अथर्ववेद की नौ शाखाएँ। इस समय वेदों की अनेक शाखाएँ लुप्त हैं और उनसे सम्बन्ध रखने वाली अनेक उपनिषदें भी आज उपलब्ध नहीं हैं। इस समय शताधिक उपनिषदें प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमें ईश, केन, कठ, प्रश्न मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक-ये दस उपनिषदें ही गम्भीरतर अर्थ का प्रतिपादन करने वाली हैं तथा इन्हीं

को सब आचार्यों ने ब्रह्मविद्या के लिए प्रमाणभूत माना है। जगद्गुरुशंकराचार्य ने भी इन्हीं दस उपनिषदों पर भाष्य लिखे हैं, अन्य किसी पर नहीं। इन दसों में माण्डूक्य उपनिषद् सबसे छोटी है और बृहतारण्यक सबसे बड़ी।

उपनिषदों की रचना सरल भाषा और रोचक शैली में हुई है जिसके कारण अध्यात्म ज्ञान के जिज्ञासुओं को उनके पठन-पाठन में अरुचि नहीं होती। प्राय: सभी उपनिषदें अध्यात्म तत्व का ही बोध कराती हैं। वृहदारण्यक और छान्दोग्य उपनिषद् में यद्यपि कुछ अन्य उपासनाओं का भी उल्लेख है, तथापि ब्रह्म और आत्मा के एकत्व का बोध ही प्रधानरूप से उनका भी प्रतिपाद्य विषय है। उपनिषदीय ऋषियों द्वारा खोजे गये महान् और सूक्ष्म निष्कर्षों का सार्वकालिक महत्त्व है। आधुनिक विचारधारा की अनेकानेक प्रवृत्तियाँ उपनिषदीय तत्व सिद्धान्तों से प्रभावित हैं। भारतीय जीवन, धर्म और दर्शन तो पूर्णतया उपनिषदीय दर्शन से ही अनुप्राणित रहा है। उपनिषदों में जिस तत्त्व ज्ञान का विवेचन हुआ है, उससे आगे एक पग भी अभी तक कोई तत्व ज्ञान नहीं बढ़ा सका। उनमें वर्णित तथ्य और सिद्धान्त आज भी पूर्ववत् प्रामाणिक बने हुए हैं। यही कारण है कि विचार, दृष्टि और मूल्यों में इतना परिवर्तन होने पर भी विद्वानों का उपनिषदों के प्रति आकर्षण कम नहीं हुआ है। **विण्टरनित्ज** के अनुसार ''लुडविन स्टाइन ने जिस एकत्ववाद को विश्व की समस्याओं के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण माना है, वह दार्शनिक विचार भारतीय उपनिषदों में तीन सहस्रवर्ष पूर्व ही प्रतिपादित हो चुका था।''

इस समय संसार में भौतिकवाद और नास्तिकता के भाव बढ़ गये। बड़े-बड़े साधन-सम्पन्न राष्ट्र दुर्बल राष्ट्रों का राजनीतिक और आर्थिक शोषण कर रहे हैं। भूमण्डलीकरण के छद्मवेष में उनका व्यक्तिवाद छिपा हुआ है। इससे सम्पूर्ण विश्व अशान्त है। परमाणु आयुधों के निर्माण ने तो विश्व-विनाश की आशंका भी उत्पन्न कर दी है। यदि वर्तमान समय में तथा आगे भी जगत् में पूर्णरूप से शान्ति अपेक्षित है तो उसके लिए हमें उपनिषदों की ही शरण लेनी पड़ेगी। उपनिषदों का सर्वात्मवाद ही इस अशान्ति का पूर्ण निदान है, क्योंकि सकल भूतों में अपनी आत्मा और अपनी आत्मा में सकल भूतों की आत्मा देखने वाले मनुष्य को किससे घृणा होगी, किसी से नहीं और घृणा नहीं होगी तो वैर होगा ही कैसे? ईशोपनिषद् यही तो बतलाती है-

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजिगुप्सते॥

इस सर्वात्मवाद या समष्टिवाद का जो परित्याग कर स्वेच्छाचारी हो जाता है वह विनाश को प्राप्त हो जाता है, जैसा कि **बृहदाण्यकोपनिषद्** बतलाती है- **''ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यदात्मनो ब्रह्म पश्यति''** अर्थात् ब्राह्मण जाति उसे परास्त कर देती है जो ब्राह्मण को आत्मा से भिन्न मानता है। वास्तव विश्व में जो बिखराव और विस्फोट की स्थिति दृष्टिगत हो रही है, उसका कारण सर्वात्मवाद का अभाव ही है। उपनिषदों के इस सर्वात्मवाद ने न केवल भारतवासियों को अपितु पाश्चात्य मनीषियों को प्रभावित किया है। प्रख्यात जर्मन दार्शनिक **शोपेनहार** तो उपनिषदों का परम भक्त हो गया था। उसके व्यथा के अतुल सिन्धु में डूबे लम्बे एकाकी जीवन में उपनिषदों ने जीवन के प्रति जो उत्साह संचारित किया था, उसे मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते हुए उसने कहा है- "It has been the solace of my life and will be the solace of my death." अर्थात् उपनिषद् मेरे जीवन में शान्ति का साधन रही है और मृत्यु में शान्ति का साधन रहेगी।

उपनिषद् अध्ययन भारतीय संस्कृति के आध्यामिक स्वरूप का सच्चा परिचायक है। उपनिषदों की विचारशक्ति आध्यात्मिक जिज्ञासु को जीवन के गन्तव्य की ओर प्रेरित करती है। **आचार्य बलदेव उपाध्याय** के शब्दों में, ''भारतीय तत्वज्ञान तथा धर्मसिद्धान्तों के मूल स्रोत होने का गौरव इन्हीं उपनिषदों को प्राप्त है। उपनिषद् वस्तुत: वह आध्यात्मिक मानसरोवर है जिससे ज्ञान की भिन्न-भिन्न सरिताएँ निकलकर इस पुण्यभूमि में मानव-मात्र के ऐहिक कल्याण तथा आनुष्मिक मंगल के लिए प्रवाहित होती हैं। वैदिक धर्म की मूल

तत्त्व-प्रतिपादिका प्रस्थानत्रयी में मुक्य उपनिषद् ही है। अन्य प्रस्थान गीता और ब्रह्मसूत्र उसी के ऊपर आश्रित हैं। भारतवर्ष में उदय होने वाले समस्त दर्शनों-सांख्य तथा वेदान्त आदि का ही यह मूलग्रन्थ नहीं है, अपितु जैन तथा बौद्ध दर्शनों के भी मौलिक तथ्यों की आधारशिला यही है। उपनिषद् का इसलिए भारतीय संस्कृति से अविच्छेद्य सम्बन्ध है। इनके अध्ययन से इस संस्कृति के आध्यात्मिक रूप से सच्चा परिचय हमें उपलब्ध होता है। इसलिए जब किसी विदेशी विद्वान् की इसको पढ़ने का तथा मनन करने का अवसर मिला है, तब से ही इसकी समुन्नत विचारधारा, उदात्त चिन्तन, धार्मिक अनुभूति तथा आध्यात्मिक जगत् की रहस्यमयी अभिव्यक्तियों की शतमुख से प्रशंसा करता है।''

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि वैदिक धर्म की तत्त्व-प्रतिपादिका और दार्शनिक परम्परा की आधारभूता प्रस्थानत्रयी में उपनिषदें ही प्रमुख हैं। ये हमें दार्शनिक तर्क प्रणाली और आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि प्रदान करती हैं। इनमें दर्शनशास्त्र की समस्त मूल समस्याओं पर गहन और गूढ़ विचार-विमर्श उपलब्ध हैं। उपनिषदों में वेद का सर्वोत्कृष्ट सारतत्त्व और प्रान उद्देश्य निहित है, अत: वैदिक वाड्मय में उपनिषदों का गौरवमय स्थान है। उनकी गौरव-महिमा को रेखांकित करते हुए **डॉ. राधाकृष्णन्** ने कहा है-"उपनिषदों का इतना आदर इस कारण नहीं है कि ये श्रुति या प्रकट हुए साहित्य का एक भाग होने के कारण एक विशिष्ट स्थान रखती हैं, अपितु इसका कारण यह है कि वे अपनी अक्षय अर्थवत्ता और आत्मिक शक्ति से भारतवासियों की पीढ़ी-दर-पीढ़ी को अन्तर्दृष्टि और बल प्रदान कर प्रेरणा देती रही हैं।"

ईशावास्योपनिषद् का दार्शनिक महत्व

यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिनी संहिता का चालीसवाँ अध्याय है। इस संहिता में चालीस अध्याय हैं, जिनमें से अन्तिम अध्याय को इस उपनिषद् का रूप दे दिया गया है। शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिनी संहिता के चालीसवें अध्याय के मन्त्रों को ही 'ईशावास्योपनिषद्' कहा जाता है।

नामकरण-इस उपनिषद् का अथवा शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिनी संहिता के चालीसवें अध्याय का प्रथम मन्त्र इस प्रकार है-

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम् ॥

(यह सारा संसार ईश्वर द्वारा व्याप्त है। इस सारे संसार में ईश्वर बसा हुआ है। इस गमनशील विश्व में जो कुछ है, वह ईश्वर ही है। इस कारण से दूसरों का भाग त्यागकर भोग करो अथवा त्याग के साथ, संयम के साथ संसार के सुखों का, संसार के पदार्थों का भोग करो। इस गतिविधि को अपनाते हुए किसी के भी धन को लालच की दृष्टि से मत देखो। अपने ही धन पर सन्तोष करो, दूसरे का धन प्राप्त करने का लालच मत करो। तुम्हारे पास जो जीवनयापन के साधन हैं, उन्हीं पर सन्तोष करो, दूसरों के सुख-साधनों को पाने की, उनसे छीनने की इच्छा मत करो, क्योंकि उन दूसरे व्यक्तियों में भी ईश्वर समाया हुआ है। उनके धन का लालच करना ईश्वर का अपमान करना है, ईश्वर से विद्रोह करना है।)

इस मन्त्र का आरम्भिक भाग अथवा आरम्भिक शब्द है- ईशावास्य। इसी 'ईशावास्य' शब्द से 'उपनिषद्' शब्द को जोड़कर- 'ईशावास्योपनिषद्' (ईशावास्य + उपनिषद्) शब्द बना है। तात्पर्य यह है कि शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिनी संहिता के अन्तिम अर्थात् चालीसवें अध्याय के प्रथम मन्त्र के आरम्भिक शब्द के आधार पर इसका नामकरण हुआ है।

आकार-यह एक लघु आकार वाला उपनिषद् है। इसमें केवल 18 (अठारह) मन्त्र हैं। इस उपनिषद को लघुकाय, किन्तु महत्त्वपूर्ण बताते हुए **डॉ. कर्णसिंह** ने लिखा है-

''इसका (ईशावास्योपनिषद् का) प्रथम मंत्र 'ईशावास्य' शब्द-समूह से ही प्रारम्भ होता है। इसमें केवल 18 (अठारह) मंत्र हैं। यह यजुर्वेद संहिता का अन्तिम भाग है अर्थात् चालीसवाँ, अध्याय है। इसकी गणना प्राचीनतम उपनिषदों में होती है। इसे ही 'ईशोपनिषद्' भी कहा जाता है। 'ईश्यावास्योपनिषद्' में परमार्थ ज्ञान की प्रधानता, कर्म और ज्ञान का समन्वय और ईश्वर की सर्वव्यापकता आदि का विवेचन है। यह लघुकाय, किन्तु महत्वपूर्ण उपनिषद् है।''

महत्व- ईशावास्य उपनिषद् अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। शेष उपनिषद् तो पृथक् से रचे गये हैं। इसका तात्पर्य यह है कि उनकी गणना वैदिक साहित्य में तो की जाती है।, पर वे वेद नहीं है। 'ईशावास्योपनिषद्' तो साक्षात् वेद ही है। यह तथ्य इसकी प्राचीनता का भी प्रमाण है। 'मुक्तिकोपनिषद्' में जो दस प्रमुख उपनिषद् गिनाये गये हैं, उनमें यह उपनिषद् प्रथम है-

ईश केन कठ प्रश्न, मुण्ड माण्डूक्य तित्तिरिः।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारयकं दश॥

दार्शनिक महत्व-उपनिषदों की विचारधारा को वेदान्त-दर्शन कहा जाता है। इसका आशय यह है कि वैदिक कर्मकाण्ड के अन्त में अर्थात् बाद में जो आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी विचारधारा अथवा ब्रह्म के सर्वव्यापक होने की विचारधारा विकसित हुई, उसे वेदान्त (वेद + अन्त) वेद की पश्चाद्वर्ती विचारधारा कहा गया। 'ईशावास्योपनिषद्' तो नाम और ज्ञान दोनों दृष्टियों से वेदान्त है। इसकी विषयवस्तु तो वैदिक कर्मकाण्ड से सर्वथा भिन्न है ही, यह एक वेद अर्थात् शुक्ल यजुर्वेद का अन्तिम आधार होने से भी वेदान्त है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इसमें प्रतिपादित ज्ञान और कर्म के समन्वय की प्रशंसा इन शब्दों में की है-

"यह (ईशावास्योपनिषद्) माध्यन्दिनशाखीय यजुर्वेद संहिता का चालीसवाँ अध्याय है। आद्य पदों (ईशावास्यमिदं सर्वम्) के आधार पर इसका यह नामकरण है। इसमें केवल 18 मन्त्र हैं, जिनमें ज्ञानदृष्टि से कर्म की उपासना का रहस्य समझाया गया है। यह उपनिषद् कर्म-सन्यास का पक्षपाती न होकर यावज्जीवन निष्काम भाव से कर्म-सम्पादन का अनुरागी है और इसी का अनुवर्तन 'भगवद्गीता', अनेक युक्त्यों के उपन्यास के साथ करती है। यहाँ अद्वैत भावना का स्पष्ट प्रतिपादन है। ब्रह्म के स्वरूप के वर्णन के अनन्तर विद्या-अविद्या तथा सम्भूति-असम्भूति का विवेचन है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने 'यावज्जीवन' निष्काम भाव से कर्म-सम्पादन के लिए 'ईशावास्योपनिषद्' के जिस श्लोक अथवा मन्त्र की ओर संकेत किया है, वह इस प्रकार है- .

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

(इस संसार में मनुष्य शास्त्र-विहित कर्मों को करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीवित रहने की इच्छा करे। मनुष्य कर्म करे अवश्य, पर निष्काम कर्म करे। इस प्रकार अर्थात् अनासक्त होकर कर्म करने पर किये जाने वाले कर्म तुझमें लिप्त नहीं होंगे अर्थात् वे कर्म तेरे लिए बन्धन नहीं बनेंगे, तेरे जन्म और मृत्यु के कारण नहीं बनेंगे। निष्काम भाव से कर्म करने के अतिरिक्त कर्म-बन्धन से छूटने का कोई अन्य मार्ग नहीं है।)

'भगवद्गीता' का प्रमुख उपदेश कर्मयोग है। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को समझाते हुए निष्काम भाव से कर्म करने का परामर्श दिया है तथा इसी को 'कर्मयोग' की संज्ञा दी है। **भगवद्गीता** में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है-

कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते।

(कर्मों का त्याग करने अर्थात् कर्म न करने की उपेक्षा कर्मयोग अर्थात् निष्काम कर्म करना श्रेष्ठ है।)

उपनिषदों पर यह आक्षेप लगाया जाता है कि वे कर्म के त्याग की शिक्षा देते हैं। वैदिक कर्मकाण्ड से ऊबे हुए लोगों ने ही ज्ञानकाण्ड प्रधान उपनिषदों की रचना की है। सभी उपनिषदों ने कर्म की अपेक्षा ज्ञान को श्रेष्ठ बताया है। **'ईशोपनिषद्'** में विद्या और अविद्या की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की गयी है-

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥

(जो मनुष्य विद्या तथा अविद्या को अर्थात् ज्ञानानुष्ठान और कर्मानुष्ठान दोनों को साथ-साथ यथार्थ रूप में समझ लेता है, वह अविद्या के द्वारा अर्थात् कर्मों के शास्त्रोक्त अनुष्ठान से मृत्यु को पार करके, मर्त्यलोक-रूपी सागर को पार करके ज्ञान के यथार्थ अनुष्ठान से अमृत का स्वाद चखता है। इसका तात्पर्य यह है कि वह सत्य, ज्ञान-स्वरूप तथा अनन्त ब्रह्म तत्व का साक्षात्कार करता है।)

यह विद्या और विद्या का समन्वंय वास्तव में कर्म और ज्ञान का समन्वय है। सांसारिक जीवन बिताने के लिए, संसार में सुखी जीवन जीने के लिए कर्म करना अत्यन्त आवश्यक है। शास्त्रोक्त कर्मों को ही यहाँ कर्म स्वीकार किया गया है। शास्त्रोक्त होने पर लौकिक जीवन के कर्मों को अविद्या तथा ज्ञानानुष्ठान को विद्या कहा गया है। अविद्या बताते हुए भी लौकिक जीवन के निर्वाह हेतु किये गये कर्मों को संसार-रूपी सागर के पार उतारने की क्षमता वाला बताकर उनकी प्रशंसा की गयी है।

'ईशावास्योपनिषद्' इहलौकिक और पारलौकिक भोग्य पदार्थों में आसक्त होने की निन्दा करता है तथा उसे अन्धकार में प्रविष्ट होने का कारण बताता है। पारलौकिक कर्म से तात्पर्य यज्ञ आदि कर्मों से है, जिनका फल स्वर्ग प्राप्ति बताया गया है। इन दोनों प्रकार के कर्मों को असम्भूति तथा ज्ञानानुष्ठान को सम्भूति बताते हुए 'ईशावास्योपनिषद्' में कहा गया है-

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।

ततो भूय इव ते य उ सम्भूत्यां रताः॥

(जो मनुष्य नश्वर इहलौकिक तथा पारलौकिक भोग के पदार्थों में आसक्त होकर उनकी प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं। अर्थात् नश्वर देव-पितर-मनुष्य आदि की उपासना करते हैं, वे अज्ञान रूपी घने अन्धकार में प्रवेश करते हैं। जो लोग अविनाशी ब्रह्म की प्राप्ति में लगे हैं अर्थात् उनकी तथाकथित उपासना के दम्भ एवं मिथ्याभिमान में चूर हैं, वे उन पूर्वोक्त लोगों से भी अत्यधिक सघन अन्धकार में प्रवेश करते हैं।)

'ईशावास्योपनिषद्' का यह श्लोक भोग्य पदार्थों की प्राप्ति वाले कर्मों में आसक्ति न रखने तथा ब्रह्म की प्राप्ति के प्रयत्न का दम्भ न करने का उपदेश देता है। मिथ्याभिमान भी एक प्रकार की आसक्ति है।

वेदों में कर्मकाण्ड के साथ-साथ ज्ञानकाण्ड का भी सूक्ष्म रूप में वर्णन है। उपनिषदों ने उस ज्ञानकाण्ड पर विस्तार किया है। ये उपनिषद् ही दार्शनिक विचारधारा का आरम्भ करते हैं। इस दृष्टि से इनका महत्व स्वीकार करते हुए **आचार्य बलदेव उपाध्याय** ने लिखा है-

"प्राचीन उपनषिदों का यह विश्लेषण उनके महत्व तथा उपदेश की दिशा बताने में पर्याप्त माना जा सकता है। उपनिषदों के तत्व-ज्ञान तथा कर्तव्यशास्त्र का प्रभाव भारतीय दर्शन पर पूर्णरूप से विद्यमान है। उपनिषद् वेदों के तत्व तथा रहस्य प्रतिपादन के कारण सचमुच ही 'वेदान्त' हैं।''

डॉ. **जयकिशन प्रसाद** ने संक्षेप में 'ईशावास्योपनिषद्' का परिचय इस प्रकार दिया है-

"शुक्ल-यजुर्वेद-संहिता का अन्तिम 40वां अध्याय ही इस उपनिषद् का आधार है, जिसमें केवल 18 मंत्र हैं। अति संक्षिप्त होने पर भी इस उपनिषद् का महत्व बहुत अधिक है। इसमें अध्यात्म सम्बन्धी कई महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का संक्षेप में, किन्तु बड़े मर्मस्पर्शी शब्दों में प्रतिपादन किया गया। इसमें कर्मयोग, सर्वात्मवाद तथा विद्यावाद निरूपण है। इसके प्रथम मन्त्र का प्रारम्भ 'ईशावास्यम्' शब्द होने से इसे 'ईशावास्योपनिषद् या 'ईशोपनिषद्' भी कहा जाता है।

ईशावास्योपनिषद् में सर्वात्मवाद

भारतीय मनीषियों में 'सर्वात्मवाद' एक प्रमुख विचारधारा रही है। प्राय: सभी मनीषी एक ही परमात्मा-तत्व को विश्व के कण-कण में व्याप्त मानते हैं। **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन', एकोऽहं बहु स्याम्', एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा' एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः', 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'** इत्यादि श्रुति-वाक्य इसी सर्वात्मवाद के समर्थक हैं। इसी परम्परा का प्रतिपादन करते हुए 'ईशावास्योपनिषद्' के ऋषि ने भी नि:संकोच कह दिया है-**'ईशावास्यमिदं सर्व यत् किञ्चिज्जगत्यां जगत्',** अर्थात् विश्व में जो भी चराचर प्रपञ्च है वह एक ही परमात्मा से व्याप्त है।

'ईशावास्योपनिषद्' का उपर्युक्त वाक्य ईश (ईश्वर) और जगत् नामक दो पदार्थों की सत्ता स्वीकार करता है जिनमें ईश्वर सर्वव्यापक है और जगत् उस ईश्वर से व्याप्त है। 'ईशावास्यम्' पद से यह ध्वनित होता है कि यह जगत् ईश या परमब्रह्म से वास्य (वास) करने योग्य तो है, किन्तु उसके द्वारा भोग्य नहीं है, अपितु त्यक्त है और त्यक्त होने के कारण हेय भी है। आत्मज्ञानी जन इस जगत् को हेय मानकर उसमें लिप्त नहीं होते, किन्तु संसार में ऐसा कोई भी ज्ञानी या अज्ञानी मनुष्य ऐसा नहीं है जो जीने की इच्छा नहीं रखता हो। इसलिए जीवन-यात्रा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए सांसारिक पदार्थों का भोग तो करना ही पड़ेगा। ऐसा न करने पर जीवन का अस्तित्व ही संकट में पड़ जायेगा। इस पर ऋषि का सुझाव है कि उस जगत् (भौतिक पदार्थों) का त्यागपूर्वक भोग करना चाहिए और उनकी प्राप्ति के लिए निष्काम भाव से कर्म करना चाहिए। ऐसा करने से मनुष्य कर्मरूप अज्ञान में लिप्त नहीं हो सकेगा और न सांसारिक भोगों में आसक्त हो पायेगा।

उपनिषदों में परब्रह्म को ज्ञानस्वरूप बतलाया है। विश्व का आदिकारण होने के कारण वे सर्वज्ञ हैं, इसलिए 'ईशावास्योपनिषद्' में उन्हें 'विद्या' कहा गया है। सांसारिक सुख-भोगों तथा स्वर्गादि दिव्य भोगों की प्राप्ति के लिए किये गये कर्म यहाँ 'अविद्या' कहे गये हैं। इन भोगों की प्राप्ति के उद्देश्य से कर्म करने वाला अज्ञानी मनुष्य सदा जन्म-मरण के चक्र में घूमता रहता है। ईश्वर का चिन्तन न करने के कारण यह मनुष्य कभी ईश्वर के दर्शन नहीं कर पाता, अत: वह अज्ञान के अदर्शनात्मक अन्धकार में ही पड़ा रहता है, जिसे उपनिषद् में 'अन्धं तम:' कहा गया है। परब्रह्म की प्राप्ति तो ईश्वराराधन से ही सम्भव है जिसे ज्ञानीजन ही प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु शास्त्रों से ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर ब्रह्म की मिथ्या आराधना करने वाले कभी सांसारिकता से मुक्त नहीं हो पाते। उनकी भी वही दुर्गति होती है जो अज्ञानियों की होती है। इसी बात लक्ष्य कर ऋषि ने कहा है-

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥

इसलिए ज्ञानवान् मनुष्य को चाहिए कि वह अविद्यारूप समस्त कर्मों में एक ही परमात्मा की सत्ता मानकर निष्काम भाव से इनका सम्पादन करें और उन कर्मों द्वारा परमात्मा की उपासना करता रहे। इस प्रकार अविद्या और विद्या को एक साथ जानने वाला मनुष्य कर्मरूप अविद्या से ही मृत्यु को पार कर लेता है और विद्या का अनुष्ठान करने से अमृतमय परमपद को प्राप्त कर लेता है–

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।।

परब्रह्म परमात्मा विश्व का आदिकारण है। '**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते**' इत्यादि श्रुति-वाक्यों से प्रमाणित होता है कि समस्त भूतों की उत्पत्ति उस एक ही परमात्मा से हुई है। इसी कारण 'ईशावास्योपनिषद्' में उस अविनाशी ब्रह्म को 'सम्भूति' और 'सम्भव' नामों से अभिहित किया गया है। देवता, पितर, मनुष्य आदि भूत उस परमात्मा से उत्पन्न होकर अन्त में उसी में लीन हो जाते हैं, अत: वे सब विनाशशील हैं। इसी कारण इस उपनिषद् में देव–पितर आदि भूतों को 'असम्भूति', 'असम्भव' और 'विनाश' नामों से अभिहित किया गया है। इन विनाशशील देव-पितरों की सांसारिक तथा पारलौकिक भोगों की कामना से उपासना करने वाले कभी परमात्मा के दर्शन न करने के कारण शूकर-कूकर आदि अधम योनियों को प्राप्त करते हैं जिसके कारण वे सदा 'अन्ध' (अदर्शनात्मक) अन्धकार में ही पड़े रहते हैं। केवल सम्भूतिरूप अविनाशी परमात्मा के ज्ञानी उपासक ही सद्गति को प्राप्त करते हैं, किन्तु यदि ये सम्भूति के उपासक भी यदि सांसारिक भोगों के प्रति अपनी आसक्ति का परित्याग नहीं कर पाते तो इनकी असम्भूति-उपासकों से भी बुरी गति होती है जैसा कि श्रुति का वचन भी है–

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूति मुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः।।

किन्तु जो ज्ञानी अविनाशी सम्भूति तथा विनाशशील असम्भूति को साथ-साथ जान लेता है, वह असम्भूति की उपासना से मृत्यु से तर कर सम्भूति की उपासना से अमृतरूप परमपद को प्राप्त कर लेता है–

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते।।

विद्या-अविद्या तथा सम्भूति-असम्भूति की पृथक्-पृथक् उपासना करने वाले साधकों की अभेद बुद्धि का क्षय नहीं हो पाता। अभेद बुद्धि के कारण वे अन्य प्राणियों को अपने से भिन्न मानते हुए उनसे घृणा करते रहते हैं, इसलिए वे श्रेयस् के मार्ग से वंचित रह जाते हैं। विद्या-अविद्या तथा सम्भूति-असम्भूति का एक साथ ज्ञान रखने वाला साधक यह जान लेता है कि संसार के जितने भी प्राणी हैं उनमें एक ही आत्मा का वास है और वह स्वयं भी उन प्राणियों से अभिन्न है। जब वह समस्त प्राणियों का अपने आत्मा में और अपने आत्मा का समस्त प्राणियों का दर्शन करने लगता है तो उसकी अभेद बुद्धि का क्षय हो जाता है जिसके कारण उसके मन से घृणा भाव निष्कासित हो जाता है, जैसाकि श्रुति भी कहती है–

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।

'विजुगुप्सा' से ही तो मनुष्य-मनुष्य में भेद उत्पन्न हो जाता है जिसके कारण काम, क्रोध, द्रोह आदि विकार उत्पन्न होते हैं जो कालान्त में शोक के कारण बनते हैं। सर्वात्मवादी दृष्टिकोण अपना लेने वाला मनुष्य अज्ञान-जनित मोह तथा घृणा-जनित शोक से मुक्त होता है। समस्त प्राणियों में एक ही आत्मा का अस्तित्व प्राप्त कर लेने वाले विवेकी पुरुष को मोह और शोक हो ही नहीं सकते-मोह और शोक तो अनेकत्व-दर्शन में होते हैं, एकत्व-दर्शन में नहीं। इस तथ्य का उद्घाटन करती हुई श्रुति कहती है-

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

'ईशावास्योपनिषद्' में ब्रह्म के जो लक्षण प्रकट किये गये हैं, उनसे इस श्रुति के सर्वात्मवाद की ही पुष्टि होती है। उदाहरणार्थ इसके चतुर्थ मन्त्र को देखा जा सकता है-

अनेज़देकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।

तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥

सर्वप्रथम हम इस मन्त्र के 'एकम्' पद को लेते हैं। इससे अनेकत्व का परिहार हो जाता है। ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है और उससे अन्य कुछ नहीं। 'अनेजत्' पद का अर्थ है-गतिरहित अर्थात् अचल। वह परमात्मा नित्य, अवचिल रहता है, कहीं गमन नहीं करता। इतने पर भी वह 'मनसो जवीयः' अर्थात् मन से भी अधि क गति वाला है। यह कैसे सम्भव है? वस्तुस्थिति यह है कि यह परमात्मा अचल होता हुआ भी सर्वव्यापक है, अतः जहाँ तक मन पहुँच पाता है, वहाँ वह पहले से ही विद्यमान होता है, इसलिए उसे मन से भी अधि क वेगवान् बतलाया है। वह निःस्सीम है, अतः जहाँ तक वह व्याप्त है वहाँ तक यह समीम मन तो कभी पहुँच ही नहीं सकता। सृष्टि से पूर्व केवल यह अविनाशी ब्रह्म ही था, इसीलिए मन्त्र में इसे 'पूर्वम्' का विशेषण दिया गया है। पूर्व होने के कारण ही वह 'अर्थत्' अर्थात् सर्वज्ञ है, क्योंकि वह तीनों कालों के पदार्थों का ज्ञाता है। इन्द्रादि देवता तो उसी के तेज-अंश से उत्पन्न होने के कारण उसके पश्चाद्वर्ती हैं, इसलिए वे उसे यथार्थ रूप में नहीं जान पाते- **नैनद्देवा आप्नुवन्।** यद्यपि यह 'तिष्ठत्'- अचल और ध्रुव हैं तथापि वायु, मन आदि तीव्रगामी पदार्थों का अतिक्रमण कर जाता है क्योंकि ये पदार्थ जिस स्थान पर पहुँचते हैं वहाँ वह परमेश्वर पहले से ही विद्यमान होता है। **'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति'** उप लक्षणार्थ है। इसमें यह बतलाया गया है कि उस एक अविनाशी तथा सर्वव्यापी सत्व की सत्ता शक्ति से ही पवन वर्षा का जल धारण करता है, सूर्य तपता है, अग्नि जलती है, पृथ्वी अन्न उत्पन्न करती है और मेघ वर्षण करते हैं। सबका नियामक एक ही तत्व है। इस प्रकार संसार के सभी पदार्थों में एक ही सत्व की सत्ता विद्यमान है।

ब्रह्म लक्षण-विषयक पाँचवे मन्त्र में भी सर्वात्मवाद का ही समर्थन किया गया है-

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।

तदन्तरस्थ सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

अर्थात् वह परमात्मा गमन करता है और वह गमन नहीं करता, वह दूर है और वह पास भी है, वह इस सकल जगत् के अन्दर व्याप्त है और वह इसके बाहर भी है। मन्त्र के 'तदेजति' वाक्य द्वारा ऋषि यह बतलाना चाहते हैं कि संसार के विभिन्न पदार्थों की गतिशीलता में ब्रह्म की ही गतिशीलता व्यंजित हो रही है, तत्वतः अचल और स्थिर होने के कारण वह परमात्मा गमन-रहित है। सर्वव्यापक होने के कारण वह दूर भी है और पास भी है। संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ वह न हो तथापि अज्ञानियों के लिए वह सदा दूर है और

सर्वात्मवादी ज्ञानियों के लिए वह अति निकट है। वह इस सम्पूर्ण जगत् के कण-कण में व्याप्त है; किन्तु जगत् विशाल होता हुआ भी बाहर भी स्थित है। इस प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् के अन्दर और बाहर दोनों ओर से एक ही सर्वात्मा से परिव्याप्त है, उससे परे कुछ भी नहीं है।

NOTES

ऐसी अवधारणा मन में स्थिर कर योगी जीवनभर समस्त पदार्थों में एक परमात्मा का अस्तित्व मानता हुआ और उसी का नित्य ध्यान करता हुआ अपने कर्तव्य कर्मों को अनासक्त भाव करता रहता है। अपने मन को उस सर्वात्मा ब्रह्म में लीन कर देता है। मरने के समय वह उत्तरायण मार्ग से अभिमानी देवता सूर्य पर अपनी दृष्टि गड़ा कर उससे प्रार्थना करता है कि वह अपनी प्रखर रश्मियों को हटा ले, अपने तेज को समेट ले जिससे वह सूर्यमण्डलान्तवर्ती सत्यस्वरूप पुरुष के दर्शन कर सके, क्योंकि वह सत्य स्वरूप ही तो परम पुरुष है और वह पुरुष योगी के आत्मारूपी पुरुष' (अहम्) से सर्वथा अभिन्न है-

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह।

तेजो यत्ते कल्याणतमं रूपं तत्ते पश्याभियोऽसावसौ पुरुषः सोऽहस्मि।।

इस एकत्वभाव को प्राप्त कर लेने के अनन्तर सर्वत्र समदर्शन योगी मरणोपरान्त जीवन-मरण के चक्र से मुक्त होकर अमृत पद प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'ईशावास्योपनिषद्' में सर्वात्मवाद को ही मोक्ष का द्वार कहा गया है।

योगी की मुक्ति

उत्तर- 'ईशावास्योपनिषद्' में कहा गया है कि इस संसार में जो भी चराचर प्रपञ्च है, उस सब में परमात्मा स्थित है, इसलिए विश्व के सभी पदार्थों का ईश्वर का नित्य स्मरण करते हुए त्यागपूर्वक भोग करना चाहिए। यज्ञ, दान, तप आदि शास्त्रविहित कर्मों को अनासक्त भाव से करते हुए मनुष्य को सौ वर्ष की जीने की इच्छा करनी चाहिए। समस्त कर्मों को अनासक्त भाव से करते हुए उन्हें परमात्मा को समर्पित करते रहने से मनुष्य पाप-पुण्यरूप कर्मफल से लिप्त नहीं होता, जिससे उसका अन्तःकरण सदा निर्मल बना रहता है। नित्य निर्मल अन्तःकरण वाला तथा समस्त भूतों में अपने आत्मा का तथा अपने आत्मा में समस्त भूतों का दर्शन करने वाला मनुष्य ही निष्काम कर्मयोगी हो जाता है। समत्व अथवा एकत्व को प्राप्त कर लेने वाला यह योगी शोक-मोह से रहित हो जाता है जैसाकि यह श्रुति प्रमाणित भी करती है-

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।।

योगी की इस एकत्व प्राप्ति को ही गीता में ब्राह्मी स्थिति कहा गया है जिसे प्राप्त कर वह कभी मोह में नहीं पड़ता और इसमें स्थित होकर अन्तकाल में भी वह ब्रह्म को ही प्राप्त हो जाता है-

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्त विमुह्यति।

स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।।

'ईशोपनिषद्' के अनुसार यह सर्वात्मवादी योगी अपने जीवन काल में ही 'कवि मनीषी परिभूः स्वयंभूः' परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है, जैसाकि इस मन्त्र से स्पष्ट हो रहा है-

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।

कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भूर्याथतथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

यह जीवन्मुक्ति की स्थिति है। इसमें योगी परमात्मास्वरूप का साक्षात्कार कर उसके नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सत्य-स्वरूप में रमता रहता है, किन्तु जब तक उसका स्थूल शरीर से सम्पर्क नहीं टूटता तब तक वह ब्रह्मलीन नहीं हो पाता।

ब्रह्मज्ञानी योगी मृत्यु के अनन्तर उत्तरायण मार्ग से ब्रह्मलोक के लिए प्रयाण करता है। इसके अभिमानी देवता अग्नि, सूर्य, दिन, शुक्ल हैं, जैसाकि गीता में वर्णन है-

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।

तत्र प्रयाता गच्छति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥

अतः मृत्यु का समय आसन्न जानकर यह तत्वज्ञानी योगी द्युलोक के देवता सूर्य पर अपनी दृष्टि स्थिर कर प्रार्थना करता है- हे विश्व का पोषण करने वाले सूर्य देव! तुम्हारे मण्डल में जो सत्यस्वरूप परमपुरुष है उसका मुख तुम्हारी रश्मिरूपी हिरण्यमय पात्र से ढका हुआ है, अतः मुझ सत्यधर्मा के दर्शन के लिए उस पात्र को दूर कर दो-

हिरणमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।

तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

विश्वपोषक, सर्वज्ञ, सर्व नियामक, ज्ञानियों के आराध्य तथा प्रजाति के पुत्र सूर्य से उनकी किरणों तथा तेज को समेट लेने की प्रार्थना करता हुआ योगी अपने चित्त की एकाग्रता से सूर्यामण्डलस्थपुरुष, परम पुरुष तथा स्वशरीरस्थ पुरुष में एकत्व का दर्शन कर लेता है, जैसाकि इस मन्त्र से स्पष्ट है।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह।

तेजो यत्ते कल्याण तमं रूपं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि॥

'सोऽहमस्मि' अनुभूति होते समय योगी के चित्त में सः (तत्ता) तथा अहम् (अहंता) के एकत्व से विशिष्टि सात्विक वृत्ति का उदय हो जाता है, किन्तु जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश के उदय होते ही अन्य सभी प्रकाश क्षीण हो जाते हैं उसी प्रकार स्वयं प्रकाश ब्रह्म के चित्त में साक्षात् होते ही वह सात्विक चित्तवृत्ति भी क्षीण हो जाती है और 'सः' तथा 'अहम्' में अभेद हो जाता है- केवल ब्रह्म हो जाता है।

ब्रह्म में तन्मय होते ही, जिस प्रकार साँप अपनी केंचुली को सहज रूप से त्याग देता है उसी प्रकार, योगी अपने भौतिक शरीर को सहज भाव से त्यागता हुआ परमेश्वर से प्रार्थना करता है-

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।

ॐ क्रन्तो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर॥

हे सच्चिदानन्दघन परमेश्वर! मेरा प्राण वायु इस नित्य वायु में प्रविष्ट हो जाये और मेरा पार्थिव शरीर अग्नि से भस्मीभूत होकर नित्य पृथ्वी में मिल जाये। हे यज्ञमय परम पुरुष! मुझ भक्त का स्मरण करो तथा तुम्हारे साक्षित्व में मैंने जो यज्ञ-दान-तप आदि सत्कर्म किये हैं उनका स्मरण करो! 'क्रतो स्मरं कृतं स्मर' द्वारा

योगी यह कहना चाहता है कि मैंने जो भी यज्ञादि कर्म किये हैं उन सब में मेरी प्रभु में अविचल निष्ठा रही है, अत: हे प्रभो! उस निष्ठा को स्मरण करते हुए अब मेरे आत्मा को अपने आप में समाविष्ट कर लीजिए।

इस संकल्प के साथ अपना शरीर त्याग कर योगी उत्तरायण मार्ग से द्युलोक की ओर प्रयाणोन्मुख हो जाता है- उस लोक की ओर जो भूलोक से असंख्य योजना दूर है। इतना लम्बा मार्ग कुशलतापूर्वक पार करने के लिए उसे एक कुशल दिशा-निर्देशक की आवश्यकता अनुभूत होती है। इस निर्देशक का कार्य करने के लिए अग्नि देव के अधिक सक्षम कोई और नहीं है, क्योंकि उत्तरायण मार्ग के अभिमानी देवता होने के कारण वे उस मार्ग से पूर्ण परिचित हैं। वे पृथ्वी लोक के देवता हैं और योगी के यज्ञादि सभी कर्मों के साक्षी रहे हैं। इसलिए वह अग्निदेव से प्रार्थना करता हुआ कहता है-

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।

युयोध्यस्मज्जुहुराण मेनो भूयिण्णं ते नम उक्तिं विधेम॥

अर्थात् हे अग्निदेव! उस परब्रह्म रूप श्रेष्ठ धन की प्राप्ति के लिए आप हमको सुन्दर उत्तरायण मार्ग से ले चलो। मैंने इस पृथ्वी पर रहते हुए जो-जो कर्म किये हैं उन सबको आप भली-भाँति जानते हैं, इसलिए मेरे कर्मों का समुचित मूल्यांकन करते हुए आप ही मुझे इस सुन्दर मार्ग से ले चलने में सक्षम हैं। यदि इस मार्ग के प्रतिबन्धक के रूप में कोई पाप-यदि कोई हो तो- आड़े आये तो आप उसे नष्ट कर दीजिए। हम आपको बार-बार नमस्कार करते हैं।

इस प्रकार अग्नि देव का साहचर्य पाकर योगी विष्णु के उस परम पद को प्राप्त कर लेता है जो सूर्य की अत्यन्त प्रखर रश्मियों के कारण सदा प्रकाशमान रहता है, जैसाकि ऋग्वेद में वर्णन है-

ॐ ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृंगा अयास:।

अभाहं तदुरुगायस्य विष्ण: परमं पदमवभाति भूरि॥

कहने का तात्पर्य यह है कि उत्तरायण मार्ग से प्रयाण करने वाला योगी मरणोपरान्त ब्रह्मलीन होकर जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है।

उपनिषद्-साहित्य में 'ईशावास्योपनिषद्' का स्थान

उपनिषद्-साहित्यिक अत्यन्त विशाल है। वेदों की असंख्य शाखाएँ हैं और प्रत्येक शाखा की एक उपनिषद् है। इस दृष्टि से उपनिषदों की संख्या भी असंख्य है, किन्तु अभी तक दो सौ से कुछ अधिक उपनिषदें ही उपलब्ध हो सकी हैं, परन्तु इनमें रस उपनिषदें ही प्रमुख, प्राचीन, प्रामाणिक और महत्त्वपूर्ण हैं जिनके नाम हैं- ईश, केन, कतु, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक-

ईशकेनकठप्रश्नमुण्डकमाण्डूक्यत्तित्तिर:।

ऐतरेयं च छन्दोग्य बृहदारण्यकं तथा॥ (मुक्तिको. 1/30)

'ईशावास्योपनिषद्' शुक्लयजुर्वेद संहिता का चालीसवां अध्याय है। मन्त्र भाग का अंश होने के कारण इसका विशेष महत्व है। मन्त्रोपनिषद् या संहितोपनिषद् होने के कारण इसको सबसे पहली उपनिषद् माना जाता है। शुक्लयजुर्वेद के प्रथम उनतालीस अध्यायों में कर्मकाण्ड का निरूपण हुआ है। यह उस काण्ड का अन्तिम

अध्याय है और इसमें आत्मतत्त्व रूप ज्ञानकाण्ड का निरूपण किया गया है। इसके पहले मंत्र में 'ईशावास्यम्' वाक्य आने से इसका नाम 'ईशोपनिषद्' अथवा 'ईशावास्योपनिषद्' पड़ा है।

मुक्तिकोपनिषद् में निर्दिष्ट क्रम के अनुसार 'ईशावास्योपनिषद्' उपनिषद् ग्रन्थों में प्रमुख एवं अग्रगण्य है। शुक्लयजुर्वेद संहिता का चालीसवाँ अध्याय होने के कारण भी इसे सभी उपनिषदों में प्राचीनतम माना जाता है। इसी को अधिकाधिक उपनिषदों के मूल रूप और वेदों के साररूप में अभिहित किये जाने का गौरव प्राप्त है। जीव, जगत् और ब्रह्म के स्वरूप और सम्बन्ध आदि से सम्बद्ध जो तथ्य इस उपनिषद् में निहित हैं वे सर्वतो भावेन सिद्ध और प्रामाणिक माने गये हैं। पूर्ववर्ती तथा परवर्ती दर्शनों के अनेक सिद्धान्तों की परिकल्पना और अवधारणा इसी उपनिषद् पर प्रतिष्ठित हैं। इसके प्रत्येक मन्त्र से अनेक नवीन विचार प्रकट होते हैं और वेदान्त के कई मूल सिद्धान्त निकलते हैं। उदाहरणार्थ, इसके प्रथम मन्त्र को ही लिया जा सकता है – **"ईशावास्यमिदं सर्व यत्किञ्च जगत्यां जगत्।"** इस मंत्र के 'ईशावास्यम्' पद की ब्रह्मवादियों द्वारा व्याख्याएँ इस प्रकार की जाती हैं- 'ईशावास्यम्', 'ईशेन परब्रह्मणा आवास्यम् आसमन्ताद् वास्यम् आच्छादनीयम्' अर्थात् ईश या परब्रह्म द्वारा सब ओर से व्याप्य तथा 'ईशा ईष्टे इतीट् तेनेशा वास्यंव्याप्यम्' अर्थात् सर्वेश्वर परमात्मा द्वारा अच्छादनीय। वहीं पर 'शक्तिकारणवाद' के समर्थक 'ईशावास्यम्' पद का विग्रह इस प्रकार करते हैं- 'इशायाआवास्यम्' अर्थात् 'ईशा' या 'परा' शक्तिरूप परब्रह्म द्वारा आवास्य। **पं श्रीपाद दामोदर सातवलेकर** के मतानुसार जो ज्ञान अन्य उपनिषदों में है वह इसमें है, परन्तु जितना उपदेश इसमें है उतना अन्य उपनिषदों में है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। उनकी मान्यता है कि सम्पूर्ण केनोपनिषद् ''नैनद्देवा आप्नुवन् (ईशा.4) मंत्र-भाग की व्याख्या है। केनोपनिषद् में जो कहा गया है वह ईशावास्योपनिषद् के एक मंत्रांश में कह दिया गया है। फिर बृहदारण्यक उपनिषद् ईशोपनिषद् की दौड़ती टीका ही है। इस प्रकार इस उपनिषद् का सम्पूर्ण आत्मविद्या के ग्रन्थ-भण्डार में अत्यन्त महत्त्व है।

सातवलेकर जी द्वारा बृहदारण्यकोपनिषद् को ईशोपनिषद् का परवर्ती मानना विवाद का विषय है। पाश्चात्य विद्वानों-विशेषकर **एफ. मैक्समूलर** और **ऑर्थर ए. मैकडॉनव** 'ईशावास्योपनिषद्' को छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों से परवर्ती मानते हैं। मैक्समूलर की धारणा है कि संहिता, ब्राह्मण और आरण्यकों में स्थान प्राप्ति उपनिषदें निःसन्देह प्राचीनतम हैं, अतः वाजसनेयिसंहिता का अंश होने से ईशोपनिषद् को भी प्राचीनतम उपनिषदों में स्थान मिलना चाहिए, किन्तु यह शुक्लयजुर्वेद की उपनिषद् हैं और शुक्लयजुर्वेद की संहिता कृष्ण यजुर्वेद की संहिता की तुलना में परवर्ती काल की मानी जाती है, अतः प्राचीन ब्राह्मणों और आरण्यकों में प्राप्त उपनिषदों की अपेक्षा इस उपनिषद् को प्राचीन मानना उचित नहीं होगा। पॉल डायन के शोध के अनुसार समान्यतया उपनिषद् क्रम में दो ईशोपनिषद् का स्थान प्रथम ही है, परन्तु संहिता का अंश होने पर भी ऐतिहासिक दृष्टि से इसे प्रथम मानना उचित नहीं है, क्योंकि यह विकास क्रम की उत्तरकालिक अवस्था में आती हैं। मैकडॉनल भी इसे अपेक्षाकृत बाद की उपनिषद् मानते हैं। उनके दृष्टिकोण से यह काठक से अधिक विकसित है और श्वेताश्वतर से पहले की प्रतीत होती है। **ए. ली. कीथ** के अनुसार ईशोपनिषद् स्पष्टतः कठ पर आधारित है और श्वेताश्वतर निश्चित रूप से कठ से परिचित है, किन्तु वह ईश से बाद की है। **ओटो बेकर** ने प्रमुख उपनिषदों को चार समूहों में विभाजित किया है। उनके अनुसार प्रथम समूह में बृहदारण्यक, छान्दोग्य और कौषीतकि हैं, दूसरे में ऐतरेय, तैत्तिरीय और कठ हैं, तीसरे में केन और ईश हैं तथा चौथे समूह में श्वेताश्वतर और मैत्री हैं, **प्रो. आर. डी. रानाडे** के मतानुसार छान्दोग्य और बृहदारण्यक तो प्राचीनतम उपनिषदें हैं और उन्होंने ईश को दूसरे वर्ग में केन के साथ रखा है। **डॉ. राधाकृष्णन्** के मतानुसार, "विश्व की सबसे प्रारम्भिक रचनाएँ, गद्य में लिखी प्राचीन उपनिषदें तथा ईश और कठ उपनिषदें ईशापूर्व आठवीं और सातवीं शताब्दी की हैं।'' किन्तु महर्षि अरविन्द और स्वामी निखिलानन्द प्रभृति भारतीय मनीषी ईशावास्योपनिषद् की प्राचीनतम उपनिषदों में ही स्थान देने के पक्ष में हैं।

NOTES

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ईशोपनिषद् प्राचीनतम् उपनिषद् ही या न हो, किन्तु इसमें अन्य सभी प्रमुख उपनिषदों के महत्त्वपूर्ण विवेच्य अंश सूत्र रूप में विद्यमान हैं। अद्वैतचार्य स्वामी शंकर ने इस उपनिषद् में दो निष्ठाओं-ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा का पृथक्तया प्रतिपादन माना जाता है। वह प्रतिपादन कठोपनिषद् में भी उपलब्ध होता है, इसलिए विद्वान इसे कठ से प्रभावित मानते हैं। इसके प्रथम मंत्र **'ईशावास्यमिंद सर्वं यत्किञ्चजगत्यां जगत्।** तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा: मागृध: कस्यस्विद्धनम्।। में ज्ञाननिष्ठा है तो 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं सभा:।' में कर्मनिष्ठा है। किन्तु मोक्ष की प्राप्ति कर्मरहित ज्ञाननिष्ठा और ज्ञानरहित कर्मनिष्ठा से कदापि सम्भव नहीं है। निष्कामभाव से शास्त्रविहित कर्म करने वाला ज्ञानी मनुष्य ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा के समन्वय की विस्तृत व्याख्या गीतोपनिषद् में है। सच कहा जाये तो गीतोपनिषद् के निष्काम कर्मयोग की आधारशिला 'ईशावास्योपनिषद्' ही है। गीताशास्त्र में भी समस्त भूतों प्रवृत्ति एक परमात्मा से ही मानी गयी है, उसी से यह सब व्याप्त बतलाया गया है और निष्काम कर्म द्वारा उसकी अर्चना करने में परम सिद्धि बतलायी गयी हैं-

यत: प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव:।। (गीता 18/46)

वृहदारण्यकोपनिषद् में आदित्यमण्डलस्थ तथा दक्षिणाक्षस्थे पुरुषों को एक ही सत्यात्मा कहा गया है- **''तद्यत्तत्सत्यसौ स आदित्यो य एल एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्''** (बृ. उ. 5/5/2) इसी पुरुष के साक्षात्कारार्थ ईशोपनिषद् का ऋषि सूर्य से याचना करता हुआ कहता है-

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।। (ईश. 15)

उसका साक्षात्कार हो जाने पर वह अनुभव करने लगता है कि वह सत्यात्मा मैं हूँ-

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह।
तेजो यत्रे रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामिथोऽसोवसौ पुरुष: सोऽहमस्मि।।

(ईश. 16)

'सोऽहमस्मि' वाक्य वेदान्त के महावाक्यों में एक प्रमुख स्थान प्राप्त करता है।

इस उपनिषद् में कुछ ऐसे भी पद हैं जो विशेष व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं। इनमें प्रथम युगल है- विद्या और अविद्या। ये क्रमश: ज्ञान और अवज्ञान के पर्याय हैं। शंकराचार्य जी ने इन्हें क्रमश: ज्ञान और कर्म कहा है। दूसरा युगल है-सम्भूति और असम्भूति। इस श्रुति के ऋषि ने 'सम्भूति' को 'सम्भव' और 'असम्भूति' को 'असम्भव' और 'विनाश' भी कहा है। इनकी व्याख्या करने में स्वामी **शंकराचार्य** भटके हुए से दृष्टिगत होते हैं। वे 'सम्भूति' को कार्यब्रह्म और 'असम्भूति' को अव्याकृत प्रकृति मानते हैं, किन्तु चौदहवें मंत्र में वे सम्भूति और असम्भूति के विपरीत अर्थ कर डालते हैं-

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युंतीर्त्वा सम्भूत्या सुखमश्नुते।। (ईश.14)

NOTES

इस मंत्र में वे 'सम्भूतिम्' पद में वर्णलोप मानते हैं- **'सम्भूति च विनाशंचेत्यवर्ण लोपेन निर्देशो द्रष्टव्यः प्रकृतिलय फलश्रुत्यनुरोधात्।**

हमारी सम्मति यह है यहाँ 'सम्भूति' शब्द समष्टि का वाचक है और 'असम्भूति' शब्द व्यष्टि। सम्भूति नित्य संभवशील है और असम्भूति या व्यष्टि नित्य विनाशशील अतएव उसे 'विनाश' की संज्ञा दी गयी है। जो मनुष्य सम्भूति या समष्टि के साथ रहता है वह सुखी होता है और जो व्यष्टि का सेवन करता है वह दु:खी होता है। छान्दोग्य उपनिषद् के 'भूमा' और 'अल्प' शब्द इन्हीं शब्दों के पर्याय प्रतीत होते हैं। वहाँ **ऋषि सनत्कुमार** नारद से कहते हैं- **''भूमैव सुखम् नाल्ये सुखमस्ति''** (भूमा ही सुख है अन्य में सुख नहीं है)। भूमा ही अमृत है और अल्प मर्त्य (मरणशील) है- **''यो वै भूमा तदमृतं यद्वा अल्पं तन्मर्त्यम्।''** ईशोपनिषद् को ऋषि की मान्यता है कि सम्भूति और असम्भूति (विनाश) से मृत्यु को तो पार कर जाता है, किन्तु अमृतत्व सम्भूति से ही प्राप्त करता है। इससे भूमा और सम्भूति तथा अल्प और असम्भूति सपर्याय प्रतीत होते हैं। अब यह कह पाना कठिन है कि असम्भूति और सम्भूति का विचार ईश के ऋषि ने छान्दोग्य से ग्रहण किया है अथवा भूमा और अन्य का विचार छान्दोग्य के ऋषि ने ईश के ऋषि से ग्रहण किया है। पर इतना सुनिश्चित है कि भारतीय दर्शन के जो प्रमुख प्रतिपाद्य विचार कठ, बृहदारण्यक, छान्दोग्य आदि प्रमुख उपनिषदों में विद्यमान हैं वे सूत्र रूप में इस श्रुति में भी दृष्टिगोचर होते हैं। परवर्ती वेदान्ती आचार्यों को तो इसने चिन्तन की एक विशिष्ट धारा ही प्रदान की है तभी तो उन्होंने इसके 'सोऽहमस्मि' वाक्य को वेदान्त का एक महावाक्य स्वीकार कर लिया है।

कहना न होगा कि ईशावास्योपनिषद् का वैदिक वाङ्मय में वही आदरणीय स्थान है जो छान्दोग्य और वृहदारण्यक-सदृश विशालकाय उपनिषदों का है। इसने यदि प्राचीन उपनिषदों से कुछ ग्रहण किया है तो परवर्ती उपनिषदों और शास्त्रों को बहुत कुछ दिया भी है। अत: हम नि:संकोच कह सकते हैं कि **"ईशावास्योपनिषद् को ही अधिकाधिक उपनिषदों के मूलरूप और वेदों के सार रूप में अभिहित किये जाने का गौरव प्राप्त है।"**

ईशावास्योपनिषद् : सम्पूर्ण व्याख्या

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
ॐ शान्तिः ! शान्तिः ! शान्तिः !

अन्वय– ॐ अद: पूर्णम्, इदं पूर्णम्, पूर्णात् उदच्यते। पूर्णस्य पूर्णम् आदाय पूर्णम् एव अवशिष्यते। ॐ शान्ति: ! शान्ति: ! शान्ति: !

शब्दार्थ- ॐ = सच्चिदानन्दघन। **अदः** = वह परब्रह्म। **पूर्णम्** = पूर्ण है। **इदम्** = यह (जगत् भी)। **पूर्णम्** = पूर्ण ही है। **पूर्णात्** = उस पूर्ण ब्रह्म से। **पूर्णम्** = यह पूर्णरूप जगत्। **उदच्यते** = उत्पन्न हुआ है। **पूर्णस्य** = पूर्ण के। **पूर्णम्** = पूर्ण को। **आदाय** = ग्रहण कर लेने पर भी। **पूर्णम् एव** = पूर्ण ही। **अवशिष्यते** = बच रहता है।

प्रसंग – यह मन्त्र बृहदारण्यक उपनिषद् के पाँचवें अध्याय के प्रथम ब्राह्मण की प्रथम कण्डिका का पूर्वार्द्ध रूप है। परम्परागत रूप से यह मन्त्र **'ईशावास्योपनिषद्'** के शान्तिपाठ के लिए प्रयुक्त किया जाता रहा है। इसमें परब्रह्म और जगत् में अभेद स्थापित किया गया है।

अनुवाद– वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म सब प्रकार से पूर्ण है। (और) यह जगत् भी पूर्ण है; उस परब्रह्म रूप पूर्ण से ही यह जगत् रूप पूर्ण उत्पन्न हुआ है। उस पूर्ण में से पूर्ण को ग्रहण कर लेने (निकाल लेने) पर भी पूर्ण ही बच रहता है।

व्याख्या– ब्रह्मवेत्ता ऋषि के मतानुसार सच्चिदानन्दघन परमात्मा सर्वथा पूर्ण हैं। उन्हीं से इस दृश्यमान चराचर प्रपञ्च का उद्‌भव हुआ है, इसलिए यह जगत् भी पूर्ण है। ब्रह्म और जगत् में इस प्रकार कारण-कार्य सम्बन्ध है। किन्तु ब्रह्म और जगत् का कारण-कार्य भाव लौकिक कारण कार्य-भाव से विलक्षण है। लोक में ऐसा देखा जाता है दुग्ध आदि कारण दधि आदि कार्य में परिणत होकर अवशेषहीन हो जाता है, अर्थात् दूध के दही में परिणत हो जाने पर केवल दही रह जाता है, दूध नहीं रहता। किन्तु परब्रह्म रूप कारण से जगत् का पूर्ण विकास हो जाने पर भी परब्रह्म परमात्मा अपने पूर्ण रूप में ही विद्यमान रहता है। इस प्रकार वह पूर्ण ब्रह्म इस चराचर प्रपञ्च से अभिन्न होता हुआ भी भिन्न है।

प्रश्न यह है कि बृहदारण्यकोपनिषद् के इस मन्त्र को 'ईशावास्योपनिषद्' के प्रारम्भ में रखा गया है? उत्तर स्पष्ट है-शान्तिपाठ के लिए। ग्रन्थ के आरम्भ में मंगला चरण करने का नियम है जिससे ग्रंथ की निर्विघ्न समाप्ति हो सके और ग्रन्थ को मनस्तोष प्राप्त हो सके। मंगलाचरण नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक अथवा वस्तुनिर्देशात्मक होता है।

प्रस्तुत शान्तिमंत्र में जगद्-ब्रह्मैक्यरूप वेदान्त विषय का प्रतिपादन होने के कारण वस्तु-निर्देशात्मक मंगलाचरण है। इसमें सम्पूर्ण वेदान्त का तात्पर्य संकेतित है। यही नहीं, इस एक सूत्र में ही पूरे ईशावास्योपनिषद् का सार भी है। जगद्-ब्रह्मैक्य का अवबोध हो जाने पर ही प्रमाता को त्रिविध दु:खों से शान्ति प्राप्त होती है। इसलिए 'शान्तिपाठ' के अन्त में तीन बार 'शान्ति:' पद का प्रयोग किया गया है। जिसका तात्पर्य है कि प्रमाता को आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दु:ख से शान्ति प्राप्त हो।

शाङ्करभाष्यम्–पूर्णमद: पूर्णं न कुतश्चिद् व्यावृत्तं व्यापीत्येत्। निष्ठा च कर्तरि द्रष्टव्या। अद: इति परोक्षाभिधायि सर्वनाम। त परं ब्रह्मेत्यर्थ:। तत् सम्पूर्णम् आकाशवद् व्यापि निरन्तरं निरुपाधिकं च। तदेव इदं सोयाधिकं नामरूपस्थं व्यवहारापन्नं पूर्णं स्वेन रूपेण परमात्मना व्याप्येव, न उपाधिपरिच्छिन्नेन विशेषात्मना। ततिदं विशेषापन्नं कार्यात्मकं ब्रह्म पूर्णत् कारणात्मन: उदच्यते उद्रिच्यते उद्गच्छतीत्यर्थ:। यद्यपि कार्यात्मना उद्रिच्यते तथापि यत् सर्वरूपं पूर्णत्वं परमात्मभाव:, तन्न जहाति, पूर्णमेवोद्रिच्यते। पूर्णस्य कार्यात्मनो ब्रह्मण: पूर्णं पूर्णत्वम् आदाय गृहीत्वा आत्मस्वरूपैकरसत्वमापाद्य विद्याऽविद्याकृतं भूतमात्रोयाधिसंसर्गजमन्यत्वावभासं तिरस्कृत्य पूर्णमेव अनन्तरमबाह्यं प्रज्ञानघनैकरसस्वभावं केवलं ब्रह्म अवशिष्यते।

अनुवाद– वह पूर्ण है–पूर्ण अर्थात् यह कहीं भी व्याप्ति रहित नहीं है। ('पूर्ण' शब्द में) कर्तुवाच्य में 'निष्ठा' जाननी चाहिए। 'अद:' पद परोक्षार्थ का वाचक सर्वनाम है अर्थात् वह परब्रह्म है। वह सम्पूर्ण, आकाश के समान व्यापक, निरन्तर और निरुपाधि है। वही यह (इदं) सोपाधिक अर्थात् नामरूपादि व्यवहार से युक्त परमात्मा से व्याप्य की भाँति अपने रूप से पूर्ण है, उपाधि से परिच्छिन्न विशेषात्मा (ईश्व) से व्याप्य-सा नहीं है। वही यह विशेषयुक्त का कार्यात्मक ब्रह्म पूर्ण = कारण ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, उद्रेक को प्राप्त हुआ है, उद्गम को प्राप्त हुआ है। यद्यपि कार्यात्मक (ब्रह्म) उद्रिक्त होता है तथापि जो सर्वरूप पूर्णत्व अथवा परमात्माभाव है उसको नहीं त्यागता है, अपितु पूर्ण ही उद्रिक्त होता है। पूर्णरूप कार्यब्रह्म के पूर्ण अथवा पूर्णत्व लेकर, ग्रहण कर, आत्मस्वरूपैकसत्व को प्राप्त कर अर्थात् विद्या द्वारा अविद्याजनित भूतमाभोणाधि के संसर्ग से जनित से अन्यत्व के भवभास को तिरष्कृत कर पूर्ण ही = अन्नबहिच से रहित प्रज्ञानघन-एकरस-स्वभाव केवल ब्रह्म अवशिष्ट रहता है।

ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

तेन त्येक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्॥

अन्वय– ॐ जगत्यां यत्किञ्च जगत् (तद्) इदं सर्वम् ईशावास्यम्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः। मा गृध :। धनं कस्यस्वित् ?

शब्दार्थ – ॐ = यह परमेश्वर का नाम है। **जगत्याम्** = संसार में। **यत्किञ्च** = जो कुछ। **जगत्** = चराचर प्रपञ्च है। **इदम्** = यह। **सर्वम्** = सब। **ईशावास्यम्** = ईश्वर से आच्छादित अथवा व्याप्त है। **तेन** = उस ईश्वर द्वारा अथवा उस ईश्वर को साथ रखते हुए। **त्यक्तेन** = त्याग किये गये (प्रदान किये गये) अथवा त्यागपूर्वक। **भुञ्जीथाः** = इस जगह का भोग करते रहो। **मा गृधः** = इसमें आसक्त मत होओ। **धनम्** = ध न अथवा भोग्य पदार्थ। **कस्यस्वित्** = किसका है अर्थात् किसी का नहीं। **मा गृधः कस्यस्चिर धनम्** = किसी के धन की आकांक्षा मत करो।

प्रसंग – यह मंत्र यजुर्वेदीय **'ईशावास्योपनिषद्'** का प्रथम मंत्र है। इसके दध्यङ्गाथर्वण ऋषि हैं। अनुष्टुप् छन्द है तथा ईश देवता हैं। इसमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एक परमात्मा की सर्वव्यापकता प्रतिपादित की गयी है।

अनुवाद – इस संसार में जो चराचर प्रपञ्च है, वह सब ईश्वर से आच्छादित या व्याप्त है। उस परमात्मा द्वारा त्याग किये हुए अथवा प्रदान किये हुए इस संसार का (अनासक्त भाव से) भोग करते रहो अथवा उस परमात्मा को साथ रखते हुए इस जगत् का त्यागपूर्वक भोग करते रहो। इसमें आसक्त मत होओ (क्योंकि) यह धन अर्थात् संसार रूप भोग्य पदार्थ किसका है? अर्थात् किसी का नहीं। अथवा किसी के धन की आकांक्षा मत करो।

व्याख्या – बृहदारण्यकोपनिषद् के मंत्र **'पूर्णमिदं पूर्णमदः'** इत्यादि के आशय की स्पष्टता ईशोपनिषद् के इस मंत्र में परिलक्षित होती है। शुक्ल यजुर्वेद के उनतालीस अध्यायों में कर्मकाण्ड का निरूपण करते समय वैदिक ऋषियों ने इस भोग्य जगत् के जिस स्वरूप को स्पष्ट किया था, उसे यहाँ परमात्मा द्वारा पूर्णतः व्याप्त बतलाया गया है। सर्व प्राणियों का आत्मा होने के कारण ही उसे ईश (सबका स्वामी) कहा गया है, जैसाकि स्वामी **शंकराचार्य** का मन्तव्य है– **''ईशा ईष्टे इति ईद्, ते नेशा-ईशिता परमेश्वरः परमात्मा सर्वस्य। सहि सर्वभीष्टे सर्वजन्तूनाम् आत्मा सन्।''** सकल चराचर प्रपञ्च उस अव्यक्त परमात्मा से व्याप्य या आच्छादनीय है। सभी भूत उसी में अवस्थित हैं किन्तु वह उनमें अवस्थित नहीं है। इन सबका आच्छादक होता हुआ भी वह उनसे सर्वथा परे है। गीता में भी इस मत का समर्थन इस प्रकार किया गया है-

मया ततमिदं सर्वं जगद व्यक्तमूर्तिना।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्वस्थितः॥ (गीता 9/4)

मंत्र के 'यात्किञ्च' शब्द का तात्पर्य यह है कि इस जगत् में ऐसा कोई चराचर पदार्थ नहीं है जिसमें परमात्मा की व्यापकता न हो। गीता में भी भगवान् कृष्ण यही कहते हैं-

न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥ (10/39)

अत: यह समझकर कि यह सम्पूर्ण जगत् उस अविनाशी परमात्मा द्वारा व्यक्त है। मुमुक्षु साधक को इसका त्यागपूर्वक ही उपभोग करना चाहिए। उसे सत्य मानकर उसमें आसक्त नहीं होना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञानी मनुष्य को चाहिए कि वह परमात्मा को नित्य अपने साथ रखते हुए-सदा सर्वदा उनका स्मरण करते हुए इस जगत् में त्यागभाव से केवल कर्तव्य पालन के लिए विषयों का यथाविधि उपभोग करे अर्थात् यज्ञार्थ-विश्वरूप ईश्वर की पूजा के लिए ही कर्मों का आचरण करे। यज्ञार्थ से भिन्न कर्म तो बन्धनकारी होता है, अत: उसे नहीं करना चाहिए। यज्ञार्थ कर्म को भी अनासक्त भाव से करना चाहिए जैसा कि गीतोपनिषद् का उपदेश है-

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंङ्गः समाचर॥ (गीता 3/9)

सांसारिक भोगों में मन की आशक्ति न होने पर ही मनुष्य कल्याण सम्भव है-

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यै र्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ (गीता 2/64)

वस्तुत: ये भोज्य पदार्थ किसी के भी नहीं हैं। शंकराचार्य तो इन्हें औपाधिक किंवा मिथ्या मानते हैं, इसलिए उनकी दृष्टि में ये सभी त्याज्य हैं। मनुष्य भ्रमवश ही इनमें ममता और आसक्ति कर बैठता है। ये सब परमेश्वर द्वारा त्यक्त अथवा प्रदत्त हैं, इसलिए उन्हीं के लिए इनका उपयोग होना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि कल्याण कामी मानव को अनासक्त भाव से अपने कर्तव्य कर्म का आचरण करना चाहिए, इसी के द्वारा परम पद को प्राप्त कर सकता है-

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
उसक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पुरुषः॥

विशेष – इस मंत्र का गीता में वर्णित निष्काम कर्मयोग का सार सनिहित है।

शाङ्करभाष्यम् – ईशा इष्टे इति ईट् तेनेशा- ईशिता परमेश्वरः परमात्मा सर्वस्व। स हि सर्वमीष्टे सर्वजन्तूनाम् आत्मासन्, प्रत्यगात्मना तेन स्वेन रूपेण आत्मना ईशा; वास्यम् आच्छादनीयम्। किम् ? इदं सर्वं यत्किञ्चजगत्यांपृथिव्यां जगत्, तत्सर्वं स्वेन आत्मना ईशेन प्रत्यगात्मतया 'ब्रह्मैवेदंसर्वम्' इति परमार्थसत्यरूपेण अमृतम् इदं सर्वं चराचरम् आच्छादनीयं स्वेन परमात्मना।

यथा चन्दनागुर्वादेः उदकादिसम्बन्धजक्लेदादिजम् औपाधिकं दौर्गन्ध्यं तत्स्वरूपनिघर्षणेन आच्छाद्यतेस्वेन पारमार्थिकेन गन्धेन, तद्देव हि स्वात्मनि अध्यस्तं स्वाभाविकं कर्तुत्व-भोक्तृत्वादि-लक्षणं जगद् द्वैतरूपं, जगत्यां पृथिव्यां-'जागत्याम् इति उपलक्षणार्थत्वात् सर्वमेव नामरूपकर्माख्यं विकारजातं परमार्थसत्यात्मभावनया त्यक्तं स्यात्।

एवमीश्वरात्म-भावनया युक्तस्य पुत्राद्येषणात्रय-संन्यास एव अधिकारः, न कर्मसु। तेन त्यक्तेन 'त्यागेन' इत्यर्थः, न हि त्यक्तो मृतः पुत्रो भृत्योवा आत्मविद्यासम्बन्धिताया अभावाद् आत्मानं पालयति, अतः त्यागेन इत्ययमेव वेदार्थः, भुञ्जीथाः पालयेथाः।

एव त्यक्तेषणस्त्वं मा गृधः-गृधिम् आकांक्षां मा कार्षीः धनविषयाम्। कस्य स्विद्धनम्-कस्यचित् स्वस्य परस्य वाधनं मा कांक्षीः इत्यर्थः। स्विद् इत्यनर्थको निपातः। अथवा मागृधः। कस्मात् ? कस्यस्विद् धनम् इत्याक्षेपार्थः। न कस्यचिद् धनमस्ति यद् गृध्यते।

'आत्मैवेदं सर्वम्' इति ईश्वरभावनया सर्वं त्यक्तम्। अत आत्मन एवेदं सर्वम् आत्मैव च सर्वम्। अतो मिथ्याविषयां गृधिं मा कार्षीः इत्यर्थः

एवम् आत्मविद पुत्राद्येषणात्रय संन्यासेनात्मज्ञान निष्ठतया आत्मा रक्षितव्यः इत्येष वेदार्थः॥1॥

अनुवाद – ईशा (ईश के द्वारा) ईशित्व (स्वामित्व) करता है इसलिए ईश है उस ईश के द्वारा सबका परमेश्वर परमात्मा ही ईशिता है क्योंकि समस्त प्राणियों का आत्मा होने से वह सबका स्वामी है। उस स्वरूप आत्मा अथवा प्रत्यगात्मारूप ईश द्वारा। वास्य = आच्छादनीय है। क्या ? जगती अथवा पृथ्वी जो कुछ जगत् है वह सब। वह सब स्वात्मारूप ईश द्वारा प्रत्यगात्मता के कारण यह सब ब्रह्म है। इस कथनानुसार परमार्थ सत्यरूप (परमात्मा) द्वारा अमृत स्वरूप यह सब चराचर प्रपञ्च स्वरूप परमात्मा द्वारा आच्छादनीय है।

जिस चन्दन, अगुरु आदि का जवादि के सम्बन्ध से उत्पन्न क्लेद (गीलापन) आदि के कारण उत्पन्न औपाधिक दुर्गन्ध उसके स्वरूपगत स्वाभाविक गन्ध द्वारा आच्छादित कर लिया जाता है, उसी प्रकार स्वात्मा में अध्यस्त स्वभाविक तथा कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि लक्षण वाला द्वैतरूप जगत् (आच्छादनीय है)। 'जगत्याम्' = पृथ्वी में। 'जगत्याम्' पर उपलक्षणार्थक है। इससे सभी नाम-रूप-कर्म संज्ञक विकार समूह परमार्थसत्यात्मभावना से त्यक्त हो जाता है।

इस प्रकार ईश्वरात्मभावना से युक्त पुरुष का पुत्रादि के एषणत्रय के प्रति सन्यास में ही अधिकार है, कर्मों में नहीं। **तेन त्यक्तेन** का अर्थ है उसके त्याग से, क्योंकि त्यक्त अथवा मरा हुआ पुत्र अथवा भृत्य आत्म सम्बन्ध के अभाव के कारण अपना पावन नहीं करता है, अतः (त्यक्तेन पद का) 'त्यागेन' (त्याग से) अर्थ ही वेदार्थ है। **भुञ्जीथाः** = पालयेथाः अर्थात् पालन करो।

इस प्रकार ईषणाओं का त्याग कर तुम **मागृधः–** धन विषयिणी आकांक्षा मत करो। **कस्य स्विद् धनम्** = किसी भी पराये अथवा अपने धन की आकांक्षा मत करो, यह अर्थ है 'स्वित्' अनर्थक निपात है। अथवा **मागृधः** (आकांक्षा मत करो) क्यों ? **'कस्यास्विद् धनम्'** (धन किसका होता है) ? यह आक्षेपार्थ है। धन किसी का नहीं होता जिसकी इच्छा की जाये।

'आत्मा ही यह सब है'–इस ईश्वर भावना के कारण सब त्यक्त है। अतः यह सब आत्मा से ही है और सब आत्मा ही है। अतः मिथ्या–विषयिणी गृधि (आकांक्षा) मत कर, यह अर्थ है।

इस प्रकार आत्मज्ञानी पुरुष पुत्रादि एषणात्रय के संन्यास द्वारा आत्मज्ञान में निष्ठा रखते हुए आत्मा की रक्षा करे; यह वेदार्थ है॥1॥

[2]

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समाः।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

अन्वय– कर्माणि कुर्वन् एव इह शतं समा: जिजीविषेयत्। एवं कर्म त्वयि नरे न लिप्यते। इत: अन्यथा न अस्ति।

शब्दार्थ–कर्माणि = कर्मों को। **कुर्वन् एव** = करते हुए ही। **इह** = इस जगत् में। **शतं समा:** = सौ वर्षों तक। **जिजीविषेत्** = जीने की इच्छा करनी चाहिए। **एवम्** = इस प्रकार (त्याग भाव से)। **कर्म** = किया गया कर्म। **त्वयि नरे** = तुच्छ मनुष्य में। **न लिप्यते** = लिप्त नहीं होता। **इत:** = इससे (भिन्न)। **अन्यथा** = अन्य प्रकार या मार्ग। **न अस्ति** = नहीं है।

प्रसंग – यह मंत्र **'ईशावास्योपनिषद्'** से लिया गया है। इसके ऋषि दध्यङ्ङाथर्वण हैं। अनुष्टुप् छन्द है। इसमें ऋषि ने संसार के मनुष्यों को निष्काम भाव से कर्म करते रहने का उपदेश दिया है।

अनुवाद – कर्मों को करते हुए ही इस जगत् में सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करनी चाहिए। इस प्रकार (त्याग भाव से) किया गया कर्म तुझ मनुष्य में लिप्त नहीं होता। इससे भिन्न अन्य कोई प्रकार या मार्ग नहीं है।

व्याख्या – पूर्व मन्त्र में 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:' का अर्थ यह कदापि नहीं है कि मनुष्य को निष्कर्म हो जाना चाहिए। अपितु इसका अर्थ यह है कि मनुष्य को इस संसार में अनासक्त भाव से कर्म करते रहना चाहिए। मंत्र के 'जिजीविषेच्यत क्षमा:' में सौ वर्ष दीर्घ जीवन का पर्याय है। इससे पाश्चात्य मनीषियों के इस तर्क का सहज ही खण्डन हो जाता है कि भारतीय चिन्तक जीवन के प्रति निराशावादी थे। वास्तविकता यह है कि भारतीय मनीषी ऐसे दीर्घ जीवन के पक्षधर थे जिसमें सर्वत्र नैतिकता का बोलबाला हो, जिसमें अनीति, अन्याय और अधर्म का लेशमात्र न हो और जिसमें लोक संग्रह की भावना निहित हो। भारतवर्ष में जीवन के प्रति एक विशेष ललक रही है और जीवन-यात्रा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए कर्म का करते रहना नितान्त आवश्यक है। गीता में भी श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि कर्म-रहित हो जाने से तेरी लोकयात्रा (जीवन यात्रा) भी सिद्ध नहीं हो सकती- **लोकयात्रापि कौन्तेय न प्रसिद्धचेदकर्मण:।** चूँकि सभी कर्म ईश से वास्य हैं, इसलिए उन कर्मों को करते समय ईश्वर को अवश्य साथ रखना चाहिए और उनमें फल की आकांक्षा नहीं रखनी चाहिए। जो बुद्धिमान् लोग कर्म से उत्पन्न फल की लालसा का त्याग कर देते हैं वे जन्मबन्ध से पूर्णतया मुक्त होकर अमृतमय परमपद को प्राप्त कर लेते हैं–

कर्मजं बुद्धिमुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिण:।

जन्मबन्ध विनिर्मुक्ता: पद गच्छन्त्यनामयम्।। (गीता 2/40)

कर्म फल की आसक्ति रखने वाले मनुष्य कर्म में लिप्त नहीं हो पाते, अत: वे पाप-पुण्य से परे रहते हैं। 'न कर्म लिप्यते नरे' का यही आशय है।

'इत: नान्यथा अस्ति' का तात्पर्य यही है कि परमपद प्राप्त करने का इसके अतिरिक्त अर्थात् इससे अधिक सुगम मार्ग और कोई नहीं है। इस विषय में **स्वामी शंकराचार्य** का मत भी यही है- **''एवमेवंप्रकारेण त्वयि कुर्वतोवर्तमानात् प्रकारादन्यथा प्रकारान्तरं नास्ति येन प्रकारेणाशुभं कर्म न लिप्यते कर्मणा न लिप्यते इत्यर्थ:। अत: शास्त्रविहितानि कर्माण्यनिग्नहोत्रारीनि कर्वन्नेव जिजीविषेत्।''** अर्थात् इस प्रकार जीवन की आकांक्षा रखने वाले मानव के लिए इस अग्निहोत्रादि कर्मों में वर्तमान रहने के प्रकार (उपाय) से भिन्न और कोई प्रकार नहीं है जिसमें अशुभ कर्म न लिप्त हों अथवा मनुष्य कर्म से लिप्त न हो। अत: शास्त्रविहित अग्निहोत्र आदि कर्मों को करते रहते हुए ही जीने की इच्छा करनी चाहिए।

यदि दोनों मन्त्रों को मिलाकर देखा जाय तो ऋषि का आशय यह है कि साधक को प्रत्येक कर्म को करते समय यह ध्यान में अवश्य रखना चाहिए कि यह सब कुछ ईश से व्याप्त है–**"ईशावास्यमिदं सर्वम्।"** यदि इस भावना से कर्म करेगा तो त्यागभाव सहज ही आ जायेगा। त्यागभाव से कर्म करने से दो लाभ होंगे–जीवन यात्रा सुखद होगी और अन्त में परमपद की प्राप्ति होगी। कर्म द्वारा परमपद प्राप्ति का प्रमाण हमें गीतोपनिषद् में मिल जाता है–

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।

लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कुर्तुमर्हसि।। (गीता 3/20)

अर्थात् कर्म करने से ही जनकादिकों को संसिद्धि की प्राप्ति हुई थी। लोक संग्रह को देखते हुए भी तुझे कर्म करना उचित है।

कहने का आशय यह है कि निष्काम् कर्म करने से लोक संग्रह भी होता है और अन्त में परमपद भी प्राप्त हो जाता है।

शाङ्करभाष्यम्–अथ इतरस्य अनात्मज्ञतया आत्माग्रहणाय अशक्तस्य इदम् उपतिशति मन्त्र :-

कुर्वन एव इह निवर्तयन् एव कर्माणि अग्निहोत्रादीनि जिजीविषेत् जीवितुम् इच्छेत् शतं शतसंख्याकाः समाः संवत्सरान्। तावद्धि पुरुषस्य परमायुः निरूपितम्। तथा च प्राप्तानुवादेन यज्जिजी–विषेच्छतं वर्षाणि तत् कुर्वन्नेव कर्माणोत्येतद्विधीयते। एव मेवंप्रकारेण त्वपि जिजीविषयति नरे नरमात्राभिमानिनि इत-एतस्यादग्निहोत्रादीनि कर्माणि कुर्वतो वर्तमानात् प्रकारादन्यथा प्रकारान्तरं नास्ति येन प्रकारेण शुभं कर्म न लिप्यते कर्मणा न लिप्यते इत्यर्थः अतः शास्त्रविहितानि कर्माण्यग्निहोत्रादीनि कुर्वन्नेन जिजीविषेयत्।

कथं पुनरिदमवगम्यते– पूर्वेण मन्त्रेण संन्यासिनोज्ञाननिष्ठोक्ता द्वितीयेन तदशक्तस्य कर्मनिष्ठेति ? उच्यते, ज्ञानकर्मर्णोर्विरोधं पर्वतवदकम्प्यं यथोक्तं न सरसि किम्? इहाप्युक्तं 'योहि जिजीविषेयत् स कर्म कुर्वन!', 'ईशावास्यमिदं सर्वम्', 'तेज त्यक्तेन भुञ्जीथाः', 'मा गृधः कस्यस्विद् धनम्' इति च। 'न जीविते मरणे वा गृधिं कुर्वीता–रण्यमियादि' ति च पदम्; 'ततो न पुनरियाद्' इति संन्यासशासनात्। उभयोः फलभेदं च वक्ष्यति।

इमौ द्वावेव पन्थानां वनुनिष्क्रान्ततरौ भवतः। क्रियापथश्चैव पुस्ता त्संन्यासश्चोत्तरेण। निवृत्तिमार्गेण एषणात्रयस्य त्यागः। तयो संन्यासपथ एवातिरेचयति। ''न्यास एवात्यरेचयत्'' इति च तैत्तिरीयके (तै. आ. 10/62, 10/78)। 'द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः। प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तिश्च विभावितः (महा. शा. 241/6) इत्यादि पुत्राय विचार्य निश्चितमुक्तं व्यासेन वेदाचार्येण भगवता। भागञ्चानयोःदर्शयिष्यामः।।2।।

अनुवाद – अब अनात्मज्ञता से आत्मग्रहण में असर्थ इतर (अनात्मज्ञानी) को यह मन्त्र उपदेश करता है–**कुर्वेन्नेवेह** इत्यादि। इस लोक में अग्निहोत्रादि कर्मों को करते हुए भी **शतं समाः** अर्थात् सौ संख्या के संवत्सरों तक जीने की इच्छा करे। उतनी ही पुरुष की आयु निरूपित है। इस प्रकार प्राप्त अनुवाद से 'जो सौ वर्ष तक जीना चाहे वह कर्म करते हुए ही जिये' यह आशय विहित होता है। एवम् (इस प्रकार) तुझ जिजीविषा करने वाले नर अर्थात् नरमात्र के अभिमानी के लिए इस अग्निहोत्रादि कर्मो में वर्तमान रहने से अन्यथा प्रकारान्तर

नहीं है जिस प्रकार से अशुभ कर्म नहीं लिप्त होता अर्थात् कर्म से लिप्त नहीं होता। अतः शास्त्रविहित अग्निहोत्रादि कर्म करता हुआ जीने की इच्छा करे।

अब यह कैसे जाना जाये (कि कौन-सी निष्ठा श्रेयस्कर है)– पूर्व मंत्र द्वारा संन्यासी की ज्ञाननिष्ठा कही गयी है और दूसरे मंत्र द्वारा उसमें आशक्त मनुष्य की कर्मनिष्ठ बतलाते हैं, क्या ज्ञान और कर्म के पर्वत के समान अकम्प्य (स्थिर) विरोध को स्मरण नहीं करते? यहाँ पर भी कहा गया है, 'जो जीना चाहे वह कर्म करते हुए जीये; 'यह सब ईश्वर से ही वास्य है', 'उसके द्वारा त्यक्त जगत् के साथ त्याग से जीवन-निर्वाह करो', 'किसी के धन की आकांक्षा मत करो अथवा आकांक्षा मत करो क्यों धन किसका है' इत्यादि। 'जीवन और मरण में आकांक्षा न करे अरण्य में चला जाये' यह पद और 'वहाँ से फिर न लौटे' यह पद संन्यास के शासन के कारण हैं। दोनों के फलभेदों को श्रुतिकार बतलायेगा।

ये दोनों ही मार्ग आनुक्रमिक होते हैं। पहले कर्ममार्ग और बाद में संन्यास। निवृत्ति मार्ग से एषणात्रय का त्याग हो जाता है। उन दोनों में संन्यास पथ ही श्रेष्ठ है। ''न्यास एवात्यरे चयत्'–ऐसा तैत्तिरीयक में (प्रमाण भी है)। "ये दोनों मार्ग ही हैं जिसमें वेदों की प्रतिष्ठा है–प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग"– इत्यादि वचन वेदाचार्य भगवान् व्यास ने निश्चयपूर्वक विचार करके अपने पुत्र के प्रति कहा था। इनका विभाग हम आगे दिखायेंगे।।2।।

(3)

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

अन्वय – असुर्याः नाम (ये) लोकाः ते अन्धेन तमसा आवृताः। ये केच आत्महनः जनाः ते प्रेत्य तान् अभिगच्छन्ति।

शब्दार्थ–असुर्याः = आसुरी वृत्तियों से युक्त। **नाम** = प्रसिद्ध। **लोकाः** = लोक या जन्म। **अन्धेन तमसा** = अदर्शनात्मक अज्ञानान्धकार से। **आवृताः** = आच्छादित हैं। **ये के च** = जो कोई। **आत्महन जनाः** = आत्मा की हत्या करने वाले लोग हैं। **ते** = वे। **प्रेत्य** = मरकर। **तान् अभिगच्छन्ति** = उन्हीं लोकों को प्राप्त होते रहते हैं।

प्रसंग – यह मन्त्र शुक्लयजुर्वेदीय **'ईशावास्योपनिषद्'** संगृहीत है। इसके ऋषि दध्यङ्ङाथर्वण हैं तथा अनुष्टुप् छन्द है। पूर्व के दो मन्त्रों में कर्मफल रूप जन्म बन्धन से मुक्त होने के निश्चित मार्ग का निर्देश करने के अनन्तर इस मन्त्र में उसके विपरीत आचरण करने वाले मनुष्यों की दुर्गति का वर्णन करते हुए ऋषि कहते हैं–

अनुवाद – आसुरी वृत्तियों वाले जो प्रसिद्ध लोक (शूकर-कूकट, कीट-पंतगादि जन्म) हैं, वे अदर्शनात्मक अज्ञानान्धकार से आच्छादित हैं। जो कोई आत्मा की हत्या करने वाले मनुष्य हैं, वे इन लोकों (योनियों) को बार-बार प्राप्त करते रहते हैं।

व्याख्या– पूर्व के दो मन्त्रों में वैदिक ऋषि ने जो मार्ग बतलाया है वह श्रेयस् का मार्ग है। इस मार्ग पर अनुसरण करने वाले लोग अद्वय परमात्मभाव के वेत्ता ज्ञानी जन होते हैं। उन्हें अद्वय परमपद की प्राप्ति होती है। यहाँ पर उन मनुष्यों की निन्दा की गयी है जो इस मार्ग से भ्रष्ट होकर स्वैराचार करते हैं। श्रुति में इन्हें असुर कहा गया है। कर्तव्य कर्मों के प्रति प्रवृत्ति और अकर्तव्य कर्मों से निवृत्ति न जानने शौच, सदाचार और सत्य का अनुपालन न करने के कारण ही ये लोग असुर हैं जैसा कि गीता में भी कहा गया है–

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।

न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते।। (गीता 16/7)

NOTES

गीता के सोलहवें अध्याय में आसुरी वृत्तियों का विशद् वर्णन हुआ है। स्वामी शंकराचार्य ने साररूप यह स्पष्ट कर दिया कि यदि परमात्म भावरूप अद्वय का ज्ञान देवादिकों को नहीं है तो वे भी असुर हैं और उनके स्वभूत लोक ही असुर्यलोक हैं– **"असुर्याः परमात्मभावमद्वयमपेक्ष्य देवादयोऽप्यसुराः तेषाञ्च स्वभूतालोका असुर्या नाम।"** 'नाम' शब्द शंकराचार्य के मतानुसार अनर्थक निपात हैं।

असुर्य या असुरों के लोक अन्ध (अदर्शनात्मक) अन्धकार से आवृत बतलाये गये हैं। यहाँ 'लोक' शब्द जन्म या योनि का पर्याय हैं क्योंकि इन्हीं का लोक न या भोग किया जाता है, जैसा कि शंकराचार्य जी का मत है– **"लोक्यन्ते दृश्यन्ते भुज्यन्ते इति जन्मानि।"** ये लोक शूकर-कूकर, कीट-पतंगादि के जन्म हैं जो गहन अन्धकार से आवृत हैं। आसुरी वृत्ति के लोग अपने-अपने कर्मानुसार इन्हीं जन्मों को प्राप्त करते हैं। इस विषय में 'कठोपनिषद्' का प्रमाण द्रष्टव्य है–

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।

स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्।। (कठ. 2/2/7)

आसुरी वृत्तियों को प्राप्त मनुष्यों को ही श्रुति में 'आत्महनोजनाः' कहा गया है। ये लोग 'आत्महनः' अर्थात् आत्मा की हत्या करने वाले क्यों हैं? क्योंकि ये ईश्वर के अस्तित्व को पूर्णतः अस्वीकार का सांसारिक भोगों की उपलब्धि के लिए क्रूर से क्रूर कर्म करने से नहीं चूकते और सर्वथा संसार का अहित करने में प्रवृत्त रहते हैं। अपने पराये शरीर में विद्यमान परमात्मा से तो सदा द्वेष ही करते हैं। इन्हीं क्रूर कर्मा मनुष्यों को गीता में 'नष्टात्मानः' (आत्मा का विनाश) करने वाले कहा गया है। परमात्मा का कभी दर्शन न होने के कारण ये आत्महन्ता प्राणी जन्म-जन्मानन्तर में अधम गति को ही प्राप्त होते रहते हैं। जैसाकि गीता का वचन है–

आसुरी योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।

मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्।। (गीता 16/20)

शाङ्करभाष्यम्– अथेदानीमविद्वन्निदार्थोऽयं मन्त्र आरम्भयते–**असुर्याः परमात्मभावमद्वयमपेक्ष्य देवादयोऽप्यसुरास्तेषाञ्च स्वभूता लोकाअसुर्या नाम। नामशब्दोऽनर्थ को नियातः। ते लोकाः कर्मफलानि। लोक्यन्ते दृश्यन्ते भुज्यन्ते इति जन्मानि। अन्धेनाअदर्शनात्मकेनाज्ञानेन तमसावृता आच्छादिताः। तान् स्थावरान्तान् प्रेत्य त्वक्त्वेमं देहमभिगच्छन्ति 'यथाकर्म यथाश्रुतम्' (क. उ. 2/217)।**

ये के चात्महनः। आत्मानं घ्नन्तीत्यात्मघ्नः। के ते जनाः ? येऽविद्वांसः। कथं ते आत्मानं नित्यं हिंसन्ति? अविद्यादोषेण विद्यमानस्यात्मनः तिरस्करणात्। विद्यमानस्यात्म नो यत्कार्यं फलमजरामरत्वादि संवेदन लक्षणं तद्धतस्येन तिरोभूतं भवतीति प्राकृताविद्वांसो जना आत्महन उच्यन्ते। तेन हि आत्महन न दोषेण संसरन्ति ते ।।3।।

अनुवाद – इस समय अविद्वान् (अज्ञानी मनुष्य) की निन्दा के लिए यह मंत्र आरम्भ किया जाता है– **असुर्याः** – अद्वय परमात्मभाव को न जानने के कारण देवादिक भी असुर हैं और उनके निजीलोक असुर्य है। 'नाम' शब्द अनर्थक निपात है। **ते लोकाः** – वे लोक हैं कर्मफल। उनका लोकन, दर्शन और भोग किया जाता है, इसलिए जन्म ही लोक हैं। वे अन्ध (अदर्शनात्मक अज्ञानरूप) अन्धकार से आवृत (आच्छादित) हैं।

उन स्थावरपर्यन्त लोकों को **प्रत्ये** अर्थात् इस देह को त्यागकर प्राप्त करते हैं 'अपने-अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार' (यह श्रुति कहती है)।

जो कोई आत्महन्ता हैं (वे उन लोकों को प्राप्त होते हैं)। आत्मा को मारते हैं वे 'आत्महन:' कहलाते हैं। वे कौन लोग हैं ? जो अविद्वान हैं। वे आत्मा की नित्य हिंसा कैसे करते हैं ? अविद्या दोष से विद्यमान आत्मा का तिरस्कार करने के कारण। विद्यमान आत्मा का जो अजरामरत्वादि का संवेदनरूप फल या कार्य है वह मारे हुए के समान तिरोहित हो जाता है, अत: प्राकृत अविद्वान् लोग आत्महन कहलाते हैं। उस आत्महनन दोष के कारण ही वे संसरण (जगत्प्रपञ्च में भ्रमण) करते हैं।।3।।

[4]

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।

तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपोमातरिश्वा दधाति।।

अन्वय– (तत्) अनेजत्, एकम्, मनस: जवीय: पूर्वम्, अर्षत्। एनत् देवा: न आप्नुवन्। तत् अन्यान् धावत: तिष्ठत् (एव) अत्येति। तस्मिन् (सति) मातरिश्वा अप: दधाति।

शब्दार्थ – अनेजत् = अविचल। **एकम्** = एक। **मनस: जवीय:** = मन से भी अधिक तीव्र गति वाला। **पूर्वम्** = सबका आदि कारण। **अर्षत्** = ज्ञानस्वरूप या सबको जानने वाला। **एनत्** = इस परमात्मा को। **देवा:** = इन्द्रादि देवता भी। **न आप्नुवन्** = नहीं प्राप्त कर सकते (नहीं जान सकते)। **तत्** = वह पर ब्रह्म परमात्मा। **अन्यान् धावत:** = दूसरे दौड़ने वालों को। **तिष्ठत्** = स्थित रहते हुए भी। **अत्येति** = अतिक्रमण कर जाता है। **तस्मिन्** = उसके होने पर अर्थात् उसकी सत्ताशक्ति से ही। **मातरिश्वा** = वायुदेवता। **अप:** = वर्षा के जल को। **दधाति** = धारण करता है।

प्रसंग – यह मन्त्र शुक्लयजुर्वेदीय **'ईशावास्योपनिषद्'** से संगृहीत है। इसके ऋषि दध्यङ्ङाथर्वण हैं। त्रिष्टुप् छन्द है। परमात्मा देवता हैं। प्रथम मन्त्र में जिस परमात्मा को सर्वव्यापक बतलाया गया है, उसका लक्षण क्या है ? इस पर ऋषि कहते हैं–

अनुवाद – (वह परमेश्वर) अविचल, एक, मन से भी अधिक तीव्रगति वाला, पूर्व (सबका आदि कारण) तथा ज्ञानस्वरूप (सर्वज्ञ) है। उसे इन्द्रादि देवता भी नहीं प्राप्त कर सके हैं। वह और दौड़ने वालों को स्थित रहता हुआ ही अतिक्रमण कर जाता है। उसके रहने पर अर्थात् उसकी सत्ताशक्ति से वायुदेवता वर्षा का जल धारण करता है।

व्याख्या – परमात्मा सर्वव्यापी है अत: इसका कोई स्वरूप विशेष निश्चित नहीं किया जा सकता। हाँ, उसके कुछ स्थायी लक्षण अवश्य बतलाये जा सकते हैं। इनमें से पहला लक्षण यह है कि वह अनेजत् अर्थात् अचल है अर्थात् सदा-सर्वदा एकरस रहता है। उसमें कभी किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता। दूसरा लक्षण यह है कि वह एक है। सृष्टि से पूर्व वही एक था जैसाकि श्रुति भी कहती है– **''सदैव सोम्येदमग्र आसीदेकमे वा द्वितीयम्''** और प्रलय हो जाने पर भी वही एकतत्व विद्यमान रहता है। उसमें विलक्षणता यह है कि यह सदा स्थिर और अचल होता हुआ भी मन से अधिक वेगवान् है। इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ तक मन की गति है, परमात्मा उससे भी आगे पहले से ही विद्यमान है। मन तो वहाँ तक पहुँच ही नहीं पाता। इस विषय में श्रुति भी प्रमाण देती हुई कह रही है– **''यन्मनसा न मनुते''** इत्यादि। पूर्व होने के कारण वह सबका

NOTES

आदि कारण है अत: इन्द्रादि श्रेष्ठ देवता भी उसकी महिमा को पूर्णतया नहीं जान पाते। इस बात का प्रमाण 'गीतोपनिषद्' में इस प्रकार मिलता है–

न मे विदु: सुरगणा: प्रभवं न महर्षय:।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वश:॥ (गीता 10/2)

सच बात तो यह संसार जितने भी तीव्र वेगयुक्त बुद्धि, मन, इन्द्रिय अथवा वायु आदि देवता हैं, वे सब अपनी शक्ति-भर परमेश्वर के अनुसंधान में दौड़ लगाते हैं, परन्तु परमेश्वर अचल रहते हुए भी इन सबको पार करके आगे निकल जाते हैं। वे सब वहाँ पहुँच ही नहीं पाते। भला, उस असीम की सीमा का पता ये ससीम देवतादि कैसे लगा सकते हैं ? सबके आदि होने के कारण परमेश्वर 'अर्षत्' भी हैं। अर्थात् वे स्वयं ज्ञानस्वरूप और सर्वज्ञ हैं। गीता में भगवान् कृष्ण स्वयं कहते हैं कि मैं भूत, वर्तमान और भविष्य के सभी भूतों को जानता हूँ किन्तु मुझे कोई नहीं जानता–

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन्॥ (गीता 7/26)

परमात्मा सर्वव्यापक होने से सर्वशक्तिमान है। सूर्य, चन्द्र, वायु आदि शक्ति-पुञ्ज उसी की सत्ता-शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर अपनी-अपनी क्रियाओं में निरत हैं। उसके सत्ता-सत्त्व से ही वायु वर्षा के जल का संचय करता है, सूर्य प्रकाश देता है, अग्नि दहन करता है और पृथ्वी अन्न उत्पन्न करती है।

'तस्मिन्नपो' मातरिश्वा दधाति' का आशय यही है कि संसार के सभी शक्ति तथा ऊर्जा से युक्त सत्व उस एक परमात्मा के प्रकाश से ही प्रकाशित हैं–

तमेव भान्तमनुभातिसर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।

'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति' (उसकी सत्ता में ही वायु वर्षा का जल धारण करता है। इस मंत्रांश के आशय की पुष्टि तैत्तिरीयोपनिषद् (2/8/1) में भी की गयी है-

भीष्माऽस्माद् वात: **पवते** अर्थात् इसके भय से वायु प्रवाहित होता है। कहने का तात्पर्य है कि संसार के सभी ग्रह, नक्षत्र, जीव-जन्तु उस एक परमेश्वर के ही नियन्त्रण में ही क्रियाशील हैं–स्वकर्म-निरत हैं।

शाङ्करभाष्यम्–यस्यात्मनो हमनादविद्वांस: संसरन्ति तद्विपर्ययेण विद्वांसो जना मुच्यन्ते। ते नात्महन:। तत्कीदृशमात्मत्त्वमित्युच्यते–अनेजदिति। अनेजत् न एजत्। एजृ कम्पने, कम्पनं चलनं स्वावस्थाप्रच्युतिस्तद्वर्जितं सर्वदैक्रूपमित्यर्थ:। तच्चैकं सर्वभूतेषु मनस: स सङ्कल्प लक्षणाद् जवीयो जवनत्तरम्। कथं विरुद्धमुच्यते–ध्रुवं निश्चलमिदं मनसो जवीय इति।·चर नैष दोष:। निरुपाध्युपाधि कमत्त्वेनोपपत्ते:। तत्र निरुपाधिकेन स्वेन रूपेणोच्यते अनेजकमिति। मनसोऽन्त: करणस्य सङ्कल्पविकल्पलक्षणस्य उपाधेरनुवर्तनाद् इह देहस्थस्य मनसो ब्रह्म लोकादिदूरगमनं सङ्कल्पेन क्षणमात्राभ्दवतीत्य तो मनसो जविष्ठत्वं लोको प्रसिद्धम्। तस्मिन् मनसि ब्रह्मलोकादीन् द्रुतं गच्छति सतिप्रथमं प्राप्त इवात्मचैतन्यावभासो गृह्यतेऽतो मनसो जवीय इत्याह। नैनद्देवा द्योतनाद्देवाश्चक्ष-रादिनीन्द्रियाण्येतत्प्रमाप्त्मततत्त्वं नाप्नुवन् न प्राप्तवन:। तेभ्योमनो जवीय: मनोव्यापार-व्यवहितत्वाद् आभासमात्रमपि आत्मनो नैव देवानां विषयीभवति। यस्याज्जवनान्मनसोऽपि पूर्वमर्थत् पूर्वमेव गतं व्योमवद्व्यापित्वात्। सर्वव्यापि तदात्मत्त्वं सर्वसंसारधर्मविर्जितं स्वेन निरुपाधिकेन

स्वरूपेणाविक्रियमेव सदुपाधिकृताः सर्वाः संसारविक्रिया अनभवतीत्यजिवेकिनां मूढानामनेकमिव च प्रतिदेहं प्रत्यवभासत इत्येतदाह। तद्धावतो द्रुतं गच्छतो। न्यानात्मविलक्षणान् मनोवागिन्द्रियप्रभृतीनत्येति अतीत्य गच्छति इव। इवार्थं स्वयेव दर्शयति-तिष्ठदिति। स्वयमतिक्रियमेव सदित्यर्थः।

तस्मिन्नात्मतत्त्वे सति नित्यचैतन्यस्वभावे मातरिश्वा मातरि अन्तरिक्षे श्वयति गच्छतीति मातरिश्वा वायुः सर्वप्राणभृत् क्रियात्मकोयदाश्रुयाणिकार्यकरणजातानि यस्मिन्नोतानि प्रोतानि च यत्सूत्रसंज्ञकं सर्वस्य जगतो विधारयितृ स मातरिश्वा। अपः कर्माणि प्राणिनां चेष्टालक्षणानि अग्न्यादित्यपर्जन्यादीनां ज्वलन्दहनप्रकाशाभिवर्षणा-दिलक्षणानि दधाति विभजतीत्यर्थः। धारयतीतिवा 'भीषास्माद्वातः पवते' (तै. उ. 2/8/1) इत्यादिश्रुतिभ्यः। सर्वा हि कार्यकरणादिविक्रिया नित्यचैतन्यात्मस्वरूपे सर्वास्पदभूते सत्येव भवन्तीत्यर्थः॥4॥

अनुवाद – जिस आत्मा का हनन करने के अविद्वान लोग संसरण करते हैं, उसके विपरीत विद्वान् लोग मुक्त हो जाते हैं। वे आत्महन नहीं हैं। तो यह आत्मतत्त्व कैसा है, यह बताते हैं–अनेजत् इत्यादि मंत्र में। अनेजत् = न एजत्। कम्पनार्थ एजृ धातु (से एजत् बना है) कम्पन चलन अथवा स्व-अवस्था से प्रच्युति (हटने) को कहते हैं उससे वर्जित सर्वदा एकरूप ही अनेजत् है और वह समस्त भूतों में एक है। संकल्पलक्षण मन से अधिक वेगवान है। यह विरुद्ध कथन क्यों किया गया है- यह ध्रुव और निश्चल भी है तथा मन से भी वेगवत्तर है? इसमें कोई दोष नहीं है। (ब्रह्म के) निरुपाधिमत्व और उपाधिमत्व द्वारा इसकी सिद्धि हो जाती है। उसमें 'अनेजदकेम्' आत्मा के निरूपाधिक रूप से कहा जाता है। मन अथवा संकल्प विकल्प लक्षण अन्तःकरण का उपाधि के अनुवर्तन के कारण (कहा गया है)। इस शरीर में स्थित मन का ब्रह्मलोकादि दूर देश में गमन संकल्प से क्षणमात्र में हो जाता है, इससे मन का जविष्ठत्व (सर्वाधिक गमनशीलता) लोक में प्रसिद्ध है। उस मन के ब्रह्मलोक आदि में इतने शीघ्र जाने पर भी आत्म चैतन्य का प्रतीति पहले ही विद्यमान-सी प्राप्त होती है, अतएव उसको मन से भी अधिक वेगवान् कहा गया है।

नैनछेवाः आप्नुवन् (इससे देव भी नहीं प्राप्त कर सके)। द्योतन (प्रकाशन) के कारण ही चक्षु आदि इन्द्रियाँ देव हैं, वे इस प्रकृत आत्मतत्त्व को नहीं प्राप्त कर सके। उनसे (इन्द्रियों से) मन अधिक वेगवान् है। मनोव्यापार से व्यवहित (अगोचर) होने के कारण आत्मा का आभासमात्र भी (इन्द्रियरूप) देवों का विषय नहीं हो सकता। जिस जवन (गतिमत्ता) के कारण वह मन से भी **पूर्वमर्षत्**–पहले ही चला जाता है, आकाश की भाँति व्यापक होने से। सर्वव्यापी तथा संसार के सभी धर्मों से रहित वह आत्मतत्त्व अपने निरुपाधिक रूप से विकार रहित होता हुआ उपाधिजनित समस्त सांसारिक विकारों का अनुभव करता है, ऐसा कहने वाले अविवेकी मूढ़ों के लिए (वह आत्मतत्त्व) अनेक की तरह प्रति शरीर प्रतिभासित होता है, इसलिए ऐसा कहा है।

वह धावन करता हुआ–द्रुतगमन करता हुआ अन्यों को–आत्मा से विलक्षण मन, वाणी आदि को अतिक्रान्त कर देता है, अतिक्रमण कर जाता-सा है। 'इव' अर्थ स्वयमेव 'तिष्ठत्' पद से दृष्टिगत हो जाता है। 'तिष्ठत्' का अर्थ है स्वयं विकार रहित होता हुआ।

तस्मिन् = उस नित्यचैतन्यस्वभाव आत्मतत्त्व की सत्ता में **मातरिश्वा** मातरि अर्थात् अन्तरिक्षे में श्वयन करता है–गमन करता है इसलिए मातरिश्वा अर्थात् वायु (जो) समस्त प्राणों का भरणकर्ता और क्रियात्मक है, समस्त कार्यकरण समुदाय जिसके आश्रय में हैं अर्थात् जिसमें ओत-प्रोत हैं तथा जो सूत्रसंज्ञक होकर समस्त जगत् का विधारण करता है वह है मातरिश्वा। **अपः** = प्राणियों के चेष्टारूप कर्मों को तथा अग्नि, सूर्य, पर्जन्य आदि के ज्वलन, दहन, प्रकाश, अभिवर्षण आदि कर्मों को। **दधाति** = विभाजित करता है यह अर्थ है। अथवा

धारण करता है **'भीषास्माद् वात:पवते'** श्रुतियों से। ये सभी कार्यकरणादि विकार नित्य-चैतन आत्मस्वरूप तथा सभी स्थानों पर विद्यमान आत्मतत्त्व के विद्यमान होने पर ही होते हैं, यह अर्थ है।

[5]

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

अन्वय– तत् एजति, तत् न एजति, तत् दूरे, तत् उ अन्तिके। तत् अस्य सर्वस्य अन्तः, तत् उ अस्य सर्वस्य बाह्ययतः।

शब्दार्थ – तत् = वह परमात्मा। **एजति** = चलता है। **तत्** = वह परमात्मा। **न एजति** = नहीं चलता। **तत् दूरे** = वह परमात्मा दूरातिदूर है। **तत् उ अन्तिके** = वह अत्यधिक समीप है। **तत्** = वह। **अस्य सर्वस्य** = इस समस्त जगत के। **अन्तः** = भीतर परिपूर्ण है। **ततउ** = और वह। **अस्य सर्वस्य** = इस सब जगत् के। **बाह्यतः** = बाहर भी है।

प्रसंग – यह मंत्र शुक्लयजुर्वेदीय **'ईशावास्योपनिषद्'** से लिया गया है। इसके ऋषि दध्यङ्ङाथर्वण हैं। अनुष्टुप् छन्द है। परब्रह्म देवता हैं। इसमें परमेश्वर की अचिन्त्य शक्तिमत्ता तथा व्यापकता का प्रकारान्तर से पुनः वर्णन किया गया है।

अनुवाद – वह परमेश्वर चलता है, वह नहीं चलता, वह दूरातिदूर है, वह अति समीप है, वह इस समस्त जगत् के भीतर परिपूर्ण है और वह इस समस्त जगत् के बाहर भी है।

व्याख्या – परमात्मा चलते भी हैं और नहीं चलते। एक ही काल में परस्पर विरोधी भाव, गुण तथा क्रिया का होना ही तो उस परम पुरुष की विलक्षणता का द्योतक है। वह उस प्रभु की अचिन्त्य शक्ति की महिमा है कि वह एक ही काल में क्रियाशील भी है और क्रियाहीन भी है। इसमें संशय करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह चराचर दृश्यमान् जगत् उस अविनाशी और सर्वव्यापी परमात्मा की योगमाया से ही तो अभिव्यक्त हुआ है जो नित्य क्रियाशील है, किन्तु वह अविनाशी और अव्यक्त परमात्मा सदा अचल रहता है। इस प्रकार वह स्वतः अचल होता हुआ भी चलता हुआ-सा प्रतीत होता है। **स्वामी शंकराचार्य जी** की भी यही मान्यता है– **''तद् आत्म-तत्वं यत् प्रकृतं, तद् एजति चलति। तद् एव च न एजति स्वतः न एव चलति। स्वतः अचलमेव सत् चलति इव इत्यर्थः।''** ईशोपनिषद् के इसी भाव को श्वेताश्वतरोपनिषद् के इस मन्त्र में विशदता के साथ स्पष्ट किया गया है-

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।

स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥

(श्वेत 04/19)

परमात्मा की दूसरी विलक्षणता यह है कि वह दूरातिदूर है और समीपातिसमीप है। इस विशाल ब्रह्माण्ड से भी परे होने के कारण वह अति-दूर है और अपने हृदय देश में विद्यमान होने के कारण वह अतिनिकट भी है। अज्ञानीजन अपने हृदय में सन्निविष्ट उस पुराण पुरुष को नहीं देख पाते, किन्तु विद्वज्जन उसे अपने समीप पाकर उसका साक्षात्कार कर अमृत हो जाते हैं। इस कथन के प्रमाणार्थ श्वेताश्वतरोपनिषद् में यह मन्त्र भी देखा जा सकता है-

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।

हृदा मन्वीशो मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥

(श्वेता. 3/13)

परमेश्वर की तीसरी विलक्षणता यह है कि वह इस चराचर जगत् के कण-कण में व्याप्त और उससे बाहर भी स्थित है। परमात्मा को सर्वव्यापकता का प्रमाण प्रस्तुत करती हुई गीता कहती है–

मत्तं परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इत॥ (गीता 7/7)

परमात्मा विश्व में व्याप्त होता हुआ भी उससे बाहर भी स्थित है– इस तथ्य को प्रकाशित करती हुई ऋग्वेदीय श्वेताश्वतरोपनिषद् कहती है–

सहस्रशीर्षा, पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।

स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिषद् दशाङ्गुलम्॥ (श्वेता 3/14)

सच बात तो यह है कि वे परम प्रभु इस समस्त जगत के परमाधार और परम कारण हैं, इसलिए वे इस जगत् के बाहर भी हैं और भीतर भी परिपूर्ण हैं।

शाङ्करभाष्यम्– स मन्त्राणां जामितास्तीति पूर्वमन्त्रोक्तमप्यर्थं पुनराह–तदेजतीति। तदात्मतत्त्वं यत्प्रकृतं तदेजति चलति, तदेव च नैजति स्वतो नैव चलति स्वतोऽचलमेव सच्चलतीवेत्यर्थः। किञ्च तद्दूरे वर्षकोटिशतैरप्यविदुषामप्राप्यत्वाद् दूर एव। तद् उ अन्तिके इतिच्छेदः। तद्वन्ति के समीपेऽत्यन्तमेव विदुषामात्मत्वान्न केवलं दूरेऽन्तिके च। तदन्तरभ्यन्तरेऽस्य सर्वस्य 'य आत्मा सर्वान्तरः' (बृ. आ. उ. 3/4/1) इति श्रुतेः। अस्य सर्वस्य जगतो नामरूपक्रियात्मकस्य तदु अपि सर्वस्य बाह्यतो व्यापकत्वादाकाश वन्निरतिशयसूक्ष्मत्वाद् अन्तः। 'प्रज्ञानघन एव' (बृ. आ. उ. 4/5/13) इति च शासनान्निरन्तरं च॥5॥

अनुवाद – वह (आत्मा) मंत्रों का प्रतिपाद्य है, इसलिए पूर्वोक्त अर्थ को ही पुन: कहते हैं– **तदेजति** इत्यादि। वह आत्मतत्त्व जो प्रकृत (प्रस्तुत) है वह एजन करता है– चलता है और वही चलता भी नहीं है, स्वत: नहीं चलता, स्वयं तो अचल होता हुआ ही चलता-सा है, यह अर्थ है और भी, वह दूर है–अज्ञानियों को तो असंख्य वर्षों तक प्राप्त न होने के कारण दूर ही है। **तद्वन्तिके** का 'तद् उ अन्तिके' – यह पदच्छेद है। वह विद्वानों के आत्मतत्व (आत्मभूत्व) के कारण अत्यन्त समीप है; न केवल दूर है अन्तिक (समीप) भी है। वह इस सबके अन्त: अर्थात् अभयन्तर हैं (जैसाकि) **'य आत्मा सर्वान्तरः'** श्रुति से है। [प्रमाणित होता है]। इस समस्त नामरूपक्रियात्मक जगत् के वह बाहर है, आकाश-वह व्यापक होने के कारण और निरतिशय सूक्ष्म होने के कारण इसके अन्दर भी है। ''प्रज्ञानघन एव'' –इस उपदेश के कारण वह निरन्तर भी है।

[6]

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजिगुप्सते॥

अन्वय – यः तु सर्वाणि भूतानि आत्मनि एवं अनुपश्यति सर्वभूतेषु च आत्मानं (पश्यति), ततः न विजुगुप्सते।

NOTES

शब्दार्थ – यः तु = किन्तु जो मनुष्य। **सर्वाणि भूतानि** = समस्त प्राणियों को। **आत्मनि एव** = परमात्मा में ही। **अनुपश्यति** = देखता है। **सर्वभूतेषु च** = और समस्त प्राणियों में। **आत्मानम्** = परमात्मा को देखता है। **ततः** = तो उसके पश्चात् वह मनुष्य। **न विजुगुप्सते** = कभी क़िसी से घृणा नहीं करता।

प्रसंग – यह मन्त्र शुक्लयजुर्वेदीय **'ईशावास्योपनिषद्'** से संगृहीत किया गया है। इसके दध्यङ्ङाथर्वण ऋषि हैं। अनुष्टुप् छन्द है। इसमें परब्रह्म परमेश्वर को जानने वाले महापुरुष की स्थिति का वर्णन किया गया है।

अनुवाद-किन्तु जो मनुष्य समस्त प्राणियों को परमात्मा में ही देखता है और समस्त प्राणियों में परमात्मा को देखता है तो वह उसके पश्चात् किसी से कभी घृणा नहीं करता।

व्याख्या–जब तक मनुष्य अपने आपको अन्य प्राणियों से भिन्न समझता रहता है तब तक उसके मन भिन्न-भिन्न प्राणियों के प्रति प्रेम या घृणा के भाव उदय होते रहते हैं। किन्तु जब वह यह जान लेता है कि ये समस्त प्राणी एक सर्वव्यापी परमात्मा में ही स्थित हैं और इन सब में उन सर्वान्तर्यामी परमात्मा का निवास है तब उसकी बुद्धि समत्व भाव को प्राप्त हो जाती है। फिर उसकी भेद-बुद्धि नष्ट हो जाती है और विद्या-विनय से सम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हस्ती, कूकर और चाण्डाल में समदृष्टि वाला हो जाता है–

विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च ब्राह्माणाः समदर्शिनः॥ (गीता 5/18)

समस्त प्राणियों में एक ही अव्यय भाव का दर्शन करने वाला ज्ञानी ही सच्चा ब्रह्म-प्राप्त योगी होता है जैसा कि गीता में कहा गया है–

संर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमाश्रितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ (गीता 6/31)

मंत्र में 'ततो न विजुगुप्सते' का विशेष अभिप्राय है। जब तक मनुष्य में द्वैत बुद्धि रहती है तब तक वह किसी दुष्ट के प्रति जुगुप्सा या घृणा का भाव रखता है, किन्तु द्वैत बुद्धि के स्थान पर अद्वैत बुद्धि या साम्य बुद्धि स्थापित हो जाने पर वह योगी संसार के प्रत्येक पदार्थ से प्रेम करने लगता है। इस प्रेम के बल पर वह सारे संसार को अपने वश में कर लेता है और निर्दोष तथा समत्वयुक्त होने से ब्रह्म में भी स्थित हो जाता है क्योंकि ब्रह्म भी तो निर्दोष और सम है–

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ (गीता 5/11)

शाङ्करभाष्यम्–**यः परिव्राड् मुमुक्षुः सर्वाणि भूतान्यव्यक्तादीनि स्थावरान्तानि आत्मन्येवा-नुपश्यत्यात्मव्यतिरिक्तानि न पश्यतीत्यर्थ; सर्वभूतेषु च तेष्वेव चात्मानं तेषामपि भूतानां स्वात्मानमात्मत्वेन। यथास्य देहस्य कार्यकरणसङ्गतस्यात्मा अहं सर्वप्रत्यय-साक्षिभूतश्चेतयिता केवलो निर्गुणोऽनेनैव स्वरूपेणाऽव्यक्तादीनां स्थावरान्तानामहमेवात्यमेति सर्वभूतेषु चात्मानां निर्विशेषं यस्त्वनुपश्यति स ततस्तस्मादेव दर्शनान्नविजुगुप्सते विजुगुप्सां घृणां न करोति। प्राप्तस्यैवानुवादोऽयम्। सर्वाहि घृणात्मनोडन्यद्दुष्टं पश्यतो भवति, आत्मानमेवात्यन्त विशुद्धं निरन्तरं पश्य तो न घृणानिमित्तम् अर्थान्तरमस्तीति प्राप्तमेव। ततो न विजुगुप्सते॥7)**

अनुवाद–जो मोक्षकामी संन्यासी अव्यक्त से लेकर स्थावर पर्यन्त समस्त भूतों को आत्मा में ही देखता है, आत्मा से भिन्न कुछ नहीं देखता यह अर्थ है, तथा उन्हीं सर्वभूतों में आत्मा (अपने आपको) को अर्थात् उन भूतों

के आत्मा को भी आत्मभाव से देखता हैं जिस प्रकार इस कार्यकारण–संघातरूप देह आत्मा 'अहम्' स म स्त प्रत्ययों (ज्ञातताओं) का साक्षिस्वरूप, चेतन, केवल और निर्गुण है, इसी स्वरूप से अव्यक्त से लेकर स्थावर पर्यन्त भूतों का 'अहम्' रूप आता भी है; इस प्रकार समस्त भूतों में निर्विरोध आत्मा को जो अनुदर्शन करता है वह उसी दर्शन के कारण विजुगुप्सा अर्थात् घृणा नहीं करता। यह प्रकरण प्राप्त मंत्र का ही अनुवाद है क्योंकि सारी घृणा अपने से भिन्न दुष्ट को देखने से होती है, किन्तु अत्यन्त विशुद्ध आत्मा का ही निरन्तर दर्शन करने वाले के घृणा का निमित्तरूप दूसरा अर्थ ही नहीं होता, यह सिद्ध ही है। इसलिए वह (सर्वात्मवादी) घृणा नहीं करता।

(7)

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

अन्वय–यस्मिन् विजानतः सर्वाणि भूतानि आत्मा एव अभूत, तत्र एकत्वम् अनुपश्यतः (तस्य) कः मोहः? कः शोकः?

शब्दार्थ– यस्मिन् = जिस काल में। **विजानतः** = परब्रह्म को भली-भाँति जान चुके ज्ञानी पुरुष के लिए। **सर्वाणि भूतानि** = सभी प्राणी। **आत्मा एव** = एकमात्र आत्मस्वरूप ही। **अभूत्** = हो गये हों। **तत्र** = तो उस काल में। **एकत्वम् अनुपश्यतः** = एकमात्र परमात्म-भाव का निरन्तर साक्षात्कार करने वाले पुरुष के लिए। **कः मोहः** = कौन-सा मोह। **कः शोकः** = कौन-सा शोक।

प्रसंग–यह मंत्र शुक्लयजुर्वेदीय **'ईशावास्योपनिषद्'** से लिया गया हैं इसके दध्यङ्ङाथर्वण ऋषि हैं। अनुष्टुप् छन्द है। इसमें परमेश्वर को भली-भाँति जान लेने वाले साधक की स्थिति का वर्णन किया गया है।

अनुवाद–जिस काल में परब्रह्म को भली-भाँति जान लेने वाले विज्ञानी के लिए सभी प्राणी एकमात्र आत्मस्वरूप ही हो चुके हों तो उस काल में एकमात्र परमात्म-भाव का निरन्तर साक्षात्कार करने वाले उस पुरुष के लिए कौन-सा मोह और कौन-सा शोक रह जाता है?

व्याख्या–जो साधक **'सर्व खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन'** ऐसी आस्था के साथ योग-साधना करता है तो वह एक ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है जब उसे समस्त प्राणियों में एक ही आत्म-तत्व की प्रतीति होने लगती है। उस आत्म-साक्षात्कार के कारण व ज्ञानी विज्ञानी हो जाता है, क्योंकि इस एकत्व का अनुदर्शन करने के कारण वह ब्रह्म में ही वर्तमान हो जाता है, जैसाकि गीता में कहा गया है–

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ (गीता 6/31)

इस स्थिति को प्राप्त कर लेने वाले योगी को न तो शोक होता है और न मोह। शोक और मोह तो काम-काम से उत्पन्न होते हैं जो अज्ञानियों द्वारा अनुभूत किये जाते हैं, किन्तु जो विज्ञानी गगनोपम विशुद्ध आत्मैकत्व का दर्शन कर लेता है उसके लिए शोक और मोह का अवकाश कहाँ रहता है ? कहने का तात्पर्य यह है कि एकत्व का अनुदर्शन करने वाला साधक ब्रह्मी। स्थिति को प्राप्त हो जाता है जिससे अविद्या का पूर्ण क्षय हो जाता है और अविद्या के साथ ही उसके कार्यरूप शोक और मोह का भी समूल उच्छेद हो जाता है। ब्राह्मी स्थिति-प्राप्त योगी सदा ब्रह्मलीन होता है और अन्तकाल में ब्रह्म को ही प्राप्त होता है, फिर उसे मोह कैसे हो सकता है? गीता भी तो यही कहती है–

एषा ब्रह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाण मृच्छति।। (गीता 2/70)

NOTES

शाङ्करभाष्यम्–इममेवार्थमन्योऽपि मन्त्र आह–यस्मिन् सर्वाणि भूतानि। यस्मिन् काले यथोक्तात्मनि वा तान्येव भूतानि सर्वाणि परमार्थात्म दर्शनादात्मैवाऽभूद् आत्मैव संवृत्तः परमार्थवस्तु विभानतः तत्र तस्मिन् काले तत्रात्मनिवा को मोहः कः शोकः? शोकश्च मोहश्च कामकर्म बीजम् अजानतो भवति। न त्वात्मैकत्वं विशुद्धं गगनोपमं पश्यतः।

को मोहः कः शोक इति शोकमोहयोरविद्याकार्ययोराक्षेपेण असम्भवप्रदर्शनात् सकारणस्य संसारस्यात्यन्तमेवोच्छेदः प्रदर्शितो भवति।।7।।

अनुवाद–इसी अर्थ को दूसरा मंत्र भी कहता है– **यस्मिन् सर्वाणि भूतानि।** जिस काल में अथवा यथोक्त आत्मा में वे ही सभी भूत परमार्थ रूप आत्मा के दर्शन में आत्मा ही परमार्थ वस्तु के विज्ञाता के लिए हो जाता है, उस काल में अथवा उस आत्मा में कैसा मोह और कैसा शोक ? शोक और मोह तो समकामकर्मो के फल हैं जो (परमार्थवस्तु को) न जानने वाले को होते हैं, किन्तु विशुद्ध और गगनोपम आत्मैकत्व का दर्शन करने वाले को नहीं होते।

'को मोहः कः शोकः' कथन से अविद्या के कार्यभूत शोक और मोह के आक्षेप से असम्भव प्रदर्शन के कारण सकारण संसार का अत्यन्त उच्छेद प्रदर्शित हुआ है।

[8]

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण-मस्नाविरं शुद्धमपाप विद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथा-तथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।।

अन्वय-स, शुक्रम, अकायम्, अवृणम्, अस्नाविरं, शुद्धम्, अपापविद्धं, व्यदधात्, पर्यगात् कवि, मनीषी, परिभूः स्वयम्भूः शाश्वतीभ्यः समाभ्यः याथातथ्यतः अर्थान् व्यदधात्।

शब्दार्थ – सः = वह ब्रह्मवेत्ता महात्मा। **शुक्रम्** = निर्मल। **अकायम्** = शरीर रहित। **अव्रणम्** = अक्षत्। **अस्नाविरम्** = स्नायु रहित। **शुद्धम्** = निर्मल। **अपापविद्धम्** = पाप रहित, परमात्मा को। **पर्यागात्** = पूर्णतया प्राप्त कर लेता है। **कविः** = क्रान्तादर्शी या सर्वद्रष्टा। **मनीषी** = सर्वज्ञ। **परिभूः** = सर्वोपरि विद्यमान एवं सर्वनियन्ता। **स्वयम्भूः** = स्वयमेव प्रकट होने वाला। **शाश्वतीभ्यः समाभ्यः** = अनादिकाल से। **यथातथ्यतः** = सब प्राणियों के कर्मफल के अनुसार। **अर्थान्** = सम्पूर्ण पदार्थो का। **व्यदधात्** = यथानुरूप विभाजन करते आये हैं।

प्रसंग–यह मंत्र शुक्लयजुर्वेदीय 'ईशावास्योपनिषद्' से संगृहीत किया गया हैं इसके ऋषि दध्यङ्ङाथर्वण हैं। जगती छन्द हैं। इसमें परमात्मैकत्व प्राप्त ब्रह्मज्ञानी की सिद्धि का वर्णन किया गया है।

अनुवाद– वह एकत्व-प्राप्त ब्रह्मवेत्ता महात्मा उस ज्योतिष्मान्, अशरीरी, अक्षत, अस्नाविर, शुद्ध और निर्मल परमात्मा को सब ओर से जान लेता है (जो) क्रान्तदर्शी या सर्वदृष्टा, सर्वज्ञ, सर्वोपरि विद्यमान एवं सर्वनियन्ता, स्वयमेव प्रकट होने वाला है (और) अनादिकाल से समस्त प्राणियों के कर्मफल के अनुसार सम्पूर्ण पदार्थो का यथायोग्य विभाजन करता आया है।

व्याख्या– पूर्वोक्त मंत्रद्वय में ऋषि ने यह स्पष्ट उल्लेख कर दिया है कि जो साधक समस्त भूतों में एक ही आत्मा (परमात्मा) का दर्शन करता है, वह सच्चा ब्रह्मज्ञानी है। इस मत की पुष्ट करते हुए गीतकार भी कहते हैं –

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं य पश्यति स पश्यति॥ (गीता 13/27)

त्रुति के अनुसार वह परमेश्वरं को सब ओर से जान लेता है जो शुक्र अर्थात् स्वयं प्रकाश है। वह अकाय अव्रण और अस्नाविर है। **शंकराचार्य** के मतानुसार 'अकायम्' पद से लिंग शरीर का और 'अव्रणम्' तथा 'अस्नाविरम्' से स्थूल शरीर का निषेध किया गया है। इससे ऋषि का यह मन्तव्य प्रकट होता है ब्रह्मज्ञानी जिन परमात्मा का साक्षात्कार करता है वे सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों से रहित हैं। शरीर त्रिगुणात्मक होने के कारण अशुद्ध होते हैं किन्तु परमात्मा त्रिगुणात्मक शरीर से रहित हैं, अत: वे निर्मल हैं। वे कर्मों के बन्धनों से रहित हैं अत: निष्पाप हैं।

जिस परमात्मा का समत्वयोगी दर्शन करता है, उसे ऋषि ने **'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः'** कहा है। वे क्रान्तदर्शी हैं, सर्व-द्रष्टा हैं, इसलिए कवि हैं। उनसे बढ़कर और कोई दृष्टा नहीं है जिसका प्रमाण अन्य श्रुतियाँ भी देती हैं। उदाहरणार्थ- **"नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा"** (बृ. उ. 3/8/11) इत्यादि श्रुति-वचन देखे जा सकते हैं। 'परिभूः' पद का अर्थ है, सबके ऊपर अर्थात् वे परमेश्वर सबको सब ओर व्याप्त करते हुए उनका नियमन करते हैं। 'स्वयभू' का अर्थ है-स्वयं होने वाला। परमात्मा का कोई जनक नहीं है वह स्वयंमेव होता है, इसलिए 'स्वयंभू' है। **स्वामी शंकराचार्य** के मतानुसार "जिनके ऊपर होता हे और जो ऊपर होता है वह सब स्वयंमेव होता है, इसलिए स्वयम्भू है" **(येषामुपपरि भवति यश्चोपरि भवति स सर्वः स्वयमेव भवति इति स्वयम्भूः)**। सर्वज्ञ होने के कारण ही परमात्मा को मनीषी कहा गया है। वे नित्य-मुक्त ईश्वर अपने सर्वज्ञत्व के कारण सनातन काल से इस ब्रह्माण्ड के प्राणियों के कर्म-फल-साधनानुसार उनके लिए कर्तव्य पदार्थों का विधान या विभाजन करते चले आ रहे हैं।

शाङ्करभाष्यम्– **योऽयमतीतैर्मन्त्रैरुक्त आत्मा स स्वेन रूपेण किं लक्षण इत्याहार्य मन्त्रः। स पर्यगादिति। स यथोक्त आत्मा पर्यगात्परिसमन्ताद गाद्गतवानाकाशवद्व्यापीत्यर्थः। शुक्रं शुद्धं ज्योतिष्मद्दीप्तिमानित्यर्थः। अकायमशरीरो लिङ्गशरीरवर्जित इत्यर्थः। अव्रणम् अक्षतम्। अस्नाविरं स्नावाः शिरा यस्मिन्न विद्यन्त इत्यस्नाविरम्। अव्रणमस्नाविरमित्याभ्यां स्थूलशरीरप्रतिषेधः। शुद्धं निर्मलमविद्यामलरहितमिति कारणशरीरप्रतिषेधः। अपापविद्धं धर्माधर्मादिपापवर्जितम्। शुक्रमित्यादीनि वचांसि पुंल्लिङ्गत्वेन परिणेयानि। स पर्यगादित्युपक्रम्य कविर्मनीषीत्यादिना पुंल्लिङ्गत्वेनोपसंहारात्। कविः क्रान्तदर्शी सर्वदृक्। "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" (बृ. आ. उ. 3/8/11) इत्यादि श्रुते। मनीषी मनस ईषिता सर्वज्ञ ईश्वर इत्यर्थः। परिभूः सर्वेषां पर्यपरि भवतीति परिभूः। स्वयम्भूः स्वयमेव भवतीति स्वयम्भूः। स नित्यमुक्त ईश्वरो याथातथ्यतः सर्वज्ञत्वाद्यथातथाभावो याथातथ्यं तस्माद्यथाभूतकर्मफलसाधन तोऽर्थान् कर्तव्यपदार्थान् व्यदधद्विहितवान् यथारूपं व्यभजदित्यर्थः शाश्वतीभ्यो नित्याभ्यः समाभ्यः संवत्सराख्येभ्यः प्रजापतिभ्य इत्यर्थ॥8॥**

अनुवाद–जो यह विगत मंत्रो द्वारा उक्त आत्मा है वह अपने रूप से किस लक्षण वाला है, इसका विचार कर यह मंत्र [कहा गया है]– **स पर्यगात्** इत्यादि। वह पूर्वाक्त आत्मा परिगमन करने वाला है-परि अर्थात् सब ओर गमन करता है अर्थात् आकाश की तरह व्यापक है। शुक्र शुद्ध ज्योति से युक्त अथवा दीप्तिमान् को कहते हैं। वह अकाय (अशरीर) अर्थात् लिंग शरीर-रहित है। अव्रण = अक्षत। वह अस्वाविर है– स्नावा या शिरा जिसमें

नहीं है वह अस्नाविर है। अव्रण और अस्वाविर शब्दों से स्थूल शरीर का प्रतिषेध हुआ है। शुद्ध का अर्थ है–निर्मल अर्थात् अविद्या के मल से रहित; इससे कारण शरीर का प्रतिषेध हुआ है। अपापविं अर्थात् धर्म-अधर्म आदि पापों से रहित है। 'शुक्रम्' इत्यादि पदों को पुल्लिंग में परिणत कर लेना चाहिए क्योंकि 'स पर्यगात्' से मंत्र का आरम्भ कर 'कविर्मनीषी' इत्यादि पुल्लिंग से ही उपसंहार किया गया है। कवि क्रान्तदर्शी या सर्वद्रष्टा है [क्योंकि इस विषय में] 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' – यह श्रुति का वचन है। मनीषी मन के ईषिता (स्वामी) सर्वज्ञ ईश्वर को कहते हैं। परिभू- परि या सबके ऊपर होता है। इसीलिए परिभू है। स्वयभू– स्वयं ही होता है इसलिए स्वयभू है। यह नित्यमुक्त ईश्वर याथातथ्यत: = सर्वज्ञत्वादि यथातथाभाव ही याथातथ्य है उस से यथाभूत कर्मफल रूप साधन से अर्थों को कर्तव्य पदार्थों को। शाश्वती अर्थात् सभाओं से अर्थात् संवत्सर नामक प्रजापतियों से विधान करता है–गुणकर्मादि के अनुरूप विभाजन करता है, यह अर्थ है।

(9)

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः॥

अन्वय – ये अविद्याम् उपासते (ते) अन्धं तम: प्रविशन्ति, ये उ विद्यायां रता: ते तत: भूय: इव तम: (प्रविशन्ति)।

शब्दार्थ – **ये** = जो मनुष्य। **अविद्याम्** = अज्ञान अथवा ज्ञानविरोधी कर्म की। **उपासते** = उपासना करते हैं। **अन्धं तम:** = अदर्शनात्मक अन्धकार में। **प्रविशन्ति** = प्रवेश करते हैं। **ये उ** = किन्तु जो। **विद्यायां रता:** = अग्निहोत्रादि विद्या में आसक्त हैं। **ते** = वे। **तत:** = उससे भी। **भूय इव** = मानो अधिक। **तम:** = अन्धकार में प्रवेश करते हैं।

प्रसंग – यह मंत्र **'ईशावास्योपनिषद्'** से लिया गया है। इसके ऋषि दध्यङ्गाथर्वण हैं। अनुष्टुप् छन्द है। इसमें विद्या तथा अविद्या के रहस्य को न समझने वाले मनुष्यों की दुर्गति का वर्णन करते हुए ऋषि कहते हैं-

अनुवाद – जो मनुष्य अविद्या की उपासना करते हैं, वे अदर्शनात्मक अज्ञान के अन्धकार में प्रवेश करते हैं किन्तु जो मनुष्य विद्या में आसक्त रहते हैं, तो मानो उससे भी बढ़कर अन्धकार में प्रवेश करते हैं।

व्याख्या – पूर्ववर्ती मन्त्रों में ऋषि बतला चुके हैं कि ब्रह्म-प्राप्ति का एकमात्र साधन सर्वात्मवाद-सकल भूतों में एक ही आत्मा का दर्शन है। यही उत्तम ज्ञान के विविध भोगैश्वर्य की प्राप्ति के साधनरूप 'कर्म' और अविद्या कहा गया है। सांसारिक भोगों के लिए कर्म करने वाले तो अज्ञानी हैं ही। वे तो कर्मबन्ध में बद्ध होकर अनेक अधम योनियों को प्राप्त होते रहते हैं। उन्हें ईश्वर के 'अन्ध तमस्' में प्रवेश कर जाते हैं जिसमें उनका कभी छुटकारा नहीं होता है।

यज्ञार्थ किया गया कर्म उत्तम कर्म माना जाता है, किन्तु यदि उसे अनासक्त भाव से किया जाये तभी वह कर्म बन्धन से मुक्त कर सकता है, अन्यथा वह भी बन्धनकारी है। इसीलिए गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने यज्ञार्थ कर्म को अनासक्त भाव से करने का उपदेश दिया है –

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥ (गीता 3/1)

किन्तु कुछ वेद विद्या के अभिमानी व्यक्ति देवोपसना द्वारा स्वर्गादि उत्तम लोकों की प्राप्ति को ही अपना चरम् प्राप्तव्य मानकर ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों द्वारा पुण्यार्जन करने का प्रयास करते हैं। वे भी अज्ञानी ही हैं। उनको भी सांसारिक बन्धनों से मुक्ति नहीं मिलती, क्योंकि स्वर्गादि भोगों की कामना से यज्ञादि कर्म करते हैं। अपने पुण्य के बल पर वे स्वर्ग के दिव्य भोगों को तो प्राप्त कर लेते हैं किन्तु पुण्य का क्षय हो जाने पर वे भी पुनः मर्त्यलोक में आकर आवागमन के प्रपञ्च में पड़ जाते हैं -

ते तं भुक्त्वां स्वर्गलोकं विशालं

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।

एवं त्रयीधर्ममनु प्रपन्ना

गतागतं कामकामां वभन्ते॥ (गीता 9/21)

इस सांसारिक कर्मों में आसक्त अज्ञानियों की जो दुर्गति होती है, लगभग वैसी ही दुर्गति उन ज्ञानाभिमानियों की भी होती है जो अग्निहोत्रादि कर्मों में आसक्ति रखते हुए स्वर्गादि दिव्य भोगों की कामना करते हैं। तात्पर्य यह है इन दोनों में से कोई भी विद्या या ब्रह्म ज्ञान के मर्म को नहीं जानते हैं, इसलिए जन्म बन्धरूप दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

शाङ्करभाष्यम् – अत्राद्येन मन्त्रेण सर्वैषणापरित्यागेन ज्ञाननिष्ठा प्रोक्ता-प्रथमो वेदार्थः 'ईशावास्यमिदं सर्वं' 'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्'। अज्ञानां जिजीविषूणां ज्ञाननिष्ठासम्भवे 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेयत्' इति कर्मनिष्ठोक्ता द्वितीयोवेदार्थः। अनयोश्च निष्ठयोर्विभागो मन्त्रप्रदर्शितयोर्बृहदारण्यकेऽपि प्रदर्शितः-"सोऽकामयत जाया मे स्यात्" (बृ. आ. उ. 1/4/17) इत्यादिना अज्ञस्य कामिनः कर्माणीति। 'मन एवास्यात्मा वाग्यजाया' (बृ. आ. उ. 1/4/17) इत्यादिवचनाद् अज्ञत्वं कामित्वं च कर्मनिष्ठस्य निश्चितमवगम्यते। तथा च तत्फलं सप्तान्नसर्गस्तेष्व्यात्मभावेनात्मस्वरूपा-वस्थानम् जायाद्येषणात्रयसंन्यासेन च आत्मविदां कर्मनिष्ठाप्रातिकूल्ये नात्मस्वरूपनिष्ठैव दर्शिता। 'किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोकः' (बृ. आ. उ. 4/4/22) इत्यादिना। 'ये तु ज्ञानतिष्ठाः। संन्यासिन स्तेभ्योऽसुर्या नाम ते इत्यादिना अविद्वन्निन्दाद्वारेण आत्मनो याथात्म्यं स 'स पर्यगात्' इत्येतदन्तैर्मन्त्रैरूपदिष्टम्। तेह्यत्राधिकृता न कामिन इति। तथा च श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि 'अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृविषसङ्जुष्म्' (श्वे. उ. 6/21) इत्यादि विभज्योक्तम्।

ये तु कर्मिणः कर्मनिष्ठाः। कर्म कुर्वन्त एव जिजीविषवस्तेभ्य इदमुच्यते–'अन्धं तमः' इत्यादि। कथं पुनरेवमवगम्यते- न तु सर्वेषमामिति ? उच्यते-अकामिनः साध्यसाधनभेदोपमर्देन "यस्मिन् सर्वाणि भूतन्यात्मैवाभूद् विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" इति यदात्मैकत्वविज्ञानम् उक्तम् तन्न केनचित्कर्मणा ज्ञानान्तरेण वा ह्यमूढः समुच्चिचीषति। इह तु समुच्चिचीषयाऽविद्वादादिनिन्दा क्रियते। तत्र च यस्य ये न समुच्चयः सम्भवति न्यायतः शास्त्रतोवा तदिहोच्यचे। यवं वित्तं देवताविषयं ज्ञानं कर्मसम्बन्धितत्वेनोपन्यस्तं न परमात्मज्ञानम्। 'विद्यया देवलोकः' (बृ. आ. उ. 1/5/16) इति पृथक् फलश्रवणात्। तयोज्ञनिकर्मणोरहि एकैकानुष्ठान निन्दा समुच्चिचीषया न निन्दापरैव, एकैकस्य पृथक फलश्रवणात्। 'विद्यया तदारोहन्ति' (श. ब्रा. 10/5/4/16), 'विद्यया देवलोकः' (बृ. आ. उ. 1/5/16), 'न तत्र दक्षिणा यन्ति' (श. ब्रा. 10/5/4/16), 'कर्मणा पितृलोकः' (बृ. आ. उ. 1/5/16) इति। यन हि शास्त्रविहितं किञ्चिदर्कव्यता मियात्।

तत्र अन्धं तमः आदर्शनात्मकं तमः प्रविशन्ति। के ? येऽविद्यायां विद्याया अन्या अविद्यातां कर्म इत्यर्थः, कर्मणो विद्याविरोधित्वात् नामविद्यामग्नोत्रादिलक्षणामेव केवलामुपासते तत्पराः

सन्तोऽनुतिष्ठन्तीत्यभिप्रायः। ततस्तसमादन्धात्मकात्तमसो भूय इव बहुतरमिव ते तमः प्रविशन्ति। के ? कर्म हित्वा ये उ येतु विद्यायामेव देवताज्ञानं एव रता अभिरताः। तत्रावान्तरफलभेदं विद्याकर्मणोः समुच्चयकारणमाह, अन्यथा फलवदफलवतोः सन्निहितयोरङ्गाङ्गितैव स्यादित्यर्थः ॥9॥

NOTES

अनुवाद – यहाँ (इस उपनिषद् में) प्रथम मंत्र द्वारा समस्त एषणाओं के परित्याग से ज्ञाननिष्ठा कही गयी है; यह प्रथम वेदार्थ है--'यह सब ईश्वर से वास्य है', 'किसी के धन की इच्छा मत कर'। जीने की इच्छा रखने वाले अज्ञानियों की ज्ञान में निष्ठा असम्भव होने के कारण 'कर्म करते ही जीने की इच्छा करे'–यह कर्मनिष्ठा कही गयी है, यह द्वितीय वेदार्थ है। इन मंत्र प्रदर्शित दोनों निष्ठाओं का विभाग बृहादारण्यक में भी दर्शाया गया है – 'उसने कामना की कि मेरे स्त्री होने' इत्यादि द्वारा अज्ञानी का भी पुरुष के कर्म दर्शाये गये हैं। 'मन ही इसका आत्मा और वाणी पत्नी है' इत्यादि कथन से कर्मनिष्ठ मनुष्य का अज्ञत्व और कामित्व निश्चित रूप से ज्ञात होता है। इसी प्रकार सप्तान्नसर्गरूप उसका फल तथा उनमें आत्मभाव से स्वरूप की अवस्थिति भी ज्ञात होती है। जायादि तीनों एषणाओं के संन्यास से आत्मज्ञानियों की कर्मनिष्ठा में प्रतिकूलता से आत्मस्वरूप में निष्ठा भी दर्शायी गई है- "उस प्रजा (सन्तान) से हम क्या करेंगे जिनका यह आत्मा नहीं है अपितु यह लोक है।" इत्यादि द्वारा। जो विज्ञाननिष्ठ संन्यासी हैं उनके लिए तो **'असुर्या नाम ते'** इत्यादि द्वारा अविद्वान् की निन्दा से प्रारम्भ कर आत्मा के याथात्म्य (वास्तविक रूप) 'स पर्यगात्' इस मंत्र तक के आठ मंत्रों द्वारा उपदेश दिया गया है। इस निष्ठा में अधिकार रखने वाले वे मनुष्य का भी नहीं है। इसी प्रकार श्वेताश्वतरों की मंत्रोपनिषद् में 'अत्याश्रमियों (संन्यासियों) के लिए परम पवित्र ऋषिसमुदाय मान्य ज्ञान सम्यकृतया कहा' इत्यादि वचन [ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा का] विभाजन करके कहा गया है।

जो कर्मी अथवा कर्मनिष्ठ जन कर्म करते हुए ही जीने की इच्छा करने वाले हैं उनके लिए यह **'अन्धं तमः'** इत्यादि कहा गया है। यह कैसे जाना जाये कि यह सबके लिए नहीं कहा गया है ? बतलाते हैं – अकामी (कामनारहित पुरुष) के लिए साध्य और साधन के भेद के उपमर्द (निराकरण) द्वारा **"यास्मिन्** सर्वाणि भूतान्यात्मैवाऽभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" (जिस काल या आत्मा में सभी भूत आत्मा ही हो गये हैं उस एकत्व का दर्शन करने वाले विज्ञानी को कैसा मोह और कैसा शोक ?)– इस वाक्य द्वारा जो आत्मैकत्वरूप विज्ञान कहा गया, तो वह किसी भी कर्म अथवा ज्ञानान्तर से भी अमूढ़ होता हुआ समुच्चय (कर्मसंग्रह) की इच्छा नहीं करता। इस मंत्र (अन्धंतमः इत्यादि मंत्र) में तो समुच्चय की इच्छा से अज्ञानी हुए मनुष्य की निन्दा की जा रही है और उसमें भी जिसका जिस किसी न्याय अथवा शास्त्र से समुच्चय सम्भव होता है, वह इस मंत्र में कहा जा रहा है। जो दैववित्त अथवा देवता विषयक ज्ञान है वह भी कर्म सम्बन्धी से प्राप्त होने के कारण परमात्मज्ञान नहीं है क्योंकि 'विद्या से देवलोक मिलता है'– इस श्रुति वाक्य में उसका पृथक् फल सुना जाता है। उन ज्ञान और कर्म में प्रत्येक के पृथक्-पृथक् अनुष्ठान की निन्दा समुच्चय की इच्छा से निन्दामात्र ही नहीं है क्योंकि उनमें से प्रत्येक का पृथक्-पृथक् फल सुना जाता है; जैसे–'विद्या द्वारा उस पर आरोहण करते हैं', 'विद्या से देवलोक मिलता है', 'वहाँ पर दक्षिणावनमार्गी नहीं जाते', 'कर्म से पितृलोक मिलता है' इत्यादि। शास्त्रविहित कर्म तो अकर्तव्यता को प्राप्त ही नहीं होता।

उस अन्ध तमस् या अदर्शनात्मक अन्धकार में प्रवेश करते हैं। कौन ? जो अविद्या की = विद्या से अन्य अविद्या उसकी अर्थात् कर्म की – क्योंकि कर्म ही विद्या का विरोधी है; अतः केवल उस अग्निहोत्री लक्षणा अविद्या की उपासना करते हैं अर्थात् उसके परायण होते हुए अनुष्ठान करते हैं। ततः = उस अन्धात्मक अन्धकार से **भूय इव** मानो और अधिक अन्धकार में वे प्रवेश करते हैं। कौन? कर्म का परित्याग कर जो मनुष्य के विद्या किंवा देवता ज्ञान में ही रत अथवा अभिरत (संलग्न) हैं। उस श्रुति में विद्या और कर्म के समुच्चय रूप कारण जनित अवान्तर फल भेद कहा गया है, अन्यथा सन्निहित फलयुक्त और अफलयुक्त में अंगागिता (मख्य-गौण भाव) ही हो जायेगी, यह तात्पर्य है।

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया।

इति शुश्रुभ धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥

अन्वय – विद्यया अन्यद एव आहुः, अविद्याया अन्यद् आहुः, इति (वयं) धीराणां (वचांसि) शुश्रुभ ये नः तत् विचचक्षिरे।

शब्दार्थ – **विद्यया** = यथार्थ ज्ञान के माध्यम से प्राप्त फल। **अन्यद् एव** = और ही। **आहुः** = बतलाते हैं। **अविद्यया** = कर्मों के यथार्थ अनुष्ठान। **अन्यद्** = दूसरा फल। **इति** = ऐसा। **धीराणाम्** = तत्वज्ञानी गुरुजनों से। **शुश्रुम** = हमने सुना है। **ये** = जिन्होंने। **नः** = हमको। **तत्** = उस विषय को। **विचचक्षिरे** = भलीभांति व्याख्या करके समझाया था।

प्रसंग – प्रस्तुत मन्त्र'शुक्लयजुर्वेदीय **'ईशावास्योपनिषद्'** से ग्रहण किया गया है। इसमें शास्त्र के यथार्थ तात्पर्य को समझकर ज्ञान तथा कर्म का अनुष्ठान करने से जो उत्तम फल प्राप्त होता है, उसकी ओर संकेत किया गया है। इसके दध्यगांथर्वण ऋषि हैं। अनुष्टुप छन्द है।

अनुवाद – यथार्थ ज्ञान के माध्यम से प्राप्त फल और ही बतलाते हैं (और) कर्म के यथार्थ अनुष्ठान से प्राप्त फल और बतलाते हैं। ऐसा हमने उन तत्वज्ञानी गुरुजनों को कहते हुए सुना है जिन्होंने उस विषय की विस्तृत व्याख्या करते हुए हमें समझाया था।

व्याख्या – पूर्व मन्त्र में सकाम भाव से ज्ञान (विद्या) तथा कर्म (अविद्या) का अनुसरण करने से प्राप्त दुर्गति का वर्णन किया गया है। इस मन्त्र में शास्त्रोक्त विधि से यथार्थ ज्ञान तथा उत्तम कर्म का अनुष्ठान करने के फल की ओर संकेत किया गया है। यदि साधक निष्काम होकर गुरुपदिष्ट वेदान्त वाक्यों में श्रद्धा रखते हुए ज्ञानार्जन करता है तो उसको सकाम ज्ञान से भिन्न फल प्राप्त होता है। गीता में कहा गया है कि भगवत्परायण तथा जितेन्द्रिय श्रद्धावान् ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है और ज्ञान को प्राप्त करते ही वह परम शान्ति रूप निर्वाण को प्राप्त कर लेता है -

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ (गीता 4/39)

सकामभाव से ज्ञान का अनुष्ठान करने से यह उत्तम फल प्राप्त नहीं हो सकता। उससे तो देवलोक आदि की प्राप्ति ही सम्भव है जैसा की श्रुति भी बताती है- **"विद्यया देवलोकः"** (बृ. उ. 1/5/16) इत्यादि।

इसी प्रकार शास्त्रविहित कर्म का अनासक्त भाव से अनुष्ठान किया जाये तो उससे भी परमपद की प्राप्ति सम्भव है; जैसा कि गीता में प्रमाण मिलता है -

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।

असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नेति पुरुषः॥ (गीता 3/19)

सकामभाव से कर्म का अनुष्ठान करने से तो मनुष्य को पितृ-लोक आदि अधम लोकों की प्राप्ति होती है, जैसा कि श्रुति भी प्रमाण देती है- **'कर्मणा पितृलोकः'** (बृ. उ. 1/5/16) इत्यादि।

इस प्रकार सकाम विद्या से निष्काम किंवा यथार्थ विद्या का फल भिन्न है तथा सकाम अविद्या से निष्काम अविद्या (कर्म) का फल भिन्न है, ऐसा ज्ञानीजन बतलाते हैं।

NOTES

मन्त्र में दो स्थानों पर 'आहु:' क्रियापद का प्रयोग हुआ है। इससे स्वत: स्पष्ट हो जाता है कि मन्त्र-द्रष्टा ऋषि को यह रहस्य किन्हीं महाज्ञानी तत्ववेत्ताओं ने बतलाया है। वे स्वयं स्वीकार भी करते हैं कि यह रहस्य उन्होंने धीर पुरुषों से सुना है। उन धीर अर्थात् महाज्ञानी गुरुजनों ने इन प्रबुद्ध ऋषियों के समक्ष विद्या तथा अविद्या के फलों की विस्तृत व्याख्या की थी, तभी ऋषि ने उनसे सुन लिया था जिसे लोक-कल्याण की भावना से श्रुति में अवतरित कर दिया है।

शाङ्करभाष्यम् – अन्यदेवेत्यादि। अन्यत्पृथगेव विद्यया क्रियते फलमित्याहुर्वदन्ति। 'विद्यादेवलोक:' (बृ. आ. उ. 1/5/16) 'विद्या तदारोहन्ति' (श. ब्रा. 10/5/4/16) इति श्रुते: अन्यदाहुरविद्या कर्मणा क्रियते 'कर्मणा पितृलोक:' (बृ. आ. उ. 1/5/16) इति श्रुते:। इत्येवं शुश्रुम श्रुतवन्तो वयं धीराणां धीमतां वचनम्। ये आचार्या नोऽस्मभ्यं तत्कर्म च ज्ञानं च विचचक्षिरे - व्याख्यातवन्तस्तेषामयमागम: परम्पर्यागत इत्यर्थ:।।10।।

अनुवाद– अन्यदेव इत्यादि। अन्यत् अर्थात् पृथक् ही विद्या द्वारा फल किया जाता है। ऐसा कहते हैं- 'विद्या से देवलोक मिलता है', 'विद्या से उस (स्वर्ग) पर आरोहण करते हैं' – इस श्रुति से प्रमाण मिलता है। अविद्यारूप कर्म से अन्य ही फल किया जाता है क्योंकि श्रुति कहती है– 'कर्म से पितृलोक मिलता है।' इस प्रकार हमने धीरों = बुद्धिमानों के वचन सुने हैं, जिन आचार्यों ने हमको उस कर्म और कर्म की विस्तृत व्याख्या की थी; उनका यह परम्परागत आगम है, यह आशय है।

सम्बन्ध– शास्त्रके यथार्थ तात्पर्य को समझकर ज्ञान तथा कर्म का अनुष्ठान करने से जो सर्वोत्तम परिणाम होता है, उसका संकेतसे वर्णन करते हैं–

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां से नस्तद् विचचक्षिरे ।।10।।

विद्यया=ज्ञानके यथार्थ अनुष्ठानसे; **अन्यत् एव**=दूसरा ही फल; **आहु:**= बतलाते हैं; (और) **अविद्यया**=कर्मोंके यथार्थ अनुष्ठानसे; **अन्यत्**= दूसरा (ही) फल; **आहु:**=बतलाते हैं; **इति**=इस प्रकार; (हमने) **धीराणाम्**=(उन) धीर पुरुषोंके; **शुश्रुम**= वचन सुने हैं; **ये** =जिन्होंने; **न:**= हमें; **तत्**= उस विषयको; **विचचक्षिरे**=व्याख्या करके भलीभाँति समझाया था ।

व्याख्या—सर्वोत्तम फल प्राप्त कराने वले ज्ञानका यथार्थ स्वरूप है– नित्यानित्यवस्तुका विवेक, क्षणभङ्गुर विनाशशील अनित्य ऐहलौकिक और पारलौकिक भोग-सामग्रियों और उनके साधनों से पूर्ण विरक्ति, संयमपूर्ण पवित्र जीवन और एकमात्र सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्मके चिन्तनमें अखण्ड संलग्नता । इस यथार्थ ज्ञानके अनुष्ठानसे प्राप्त होता है– परब्रह्म पुरुषोत्तम (गीता 18। 49–55) । यथार्थ ज्ञानका यह सर्वोत्तम फल, ज्ञानाभिमानमें रत स्वेच्छाचारी मनुष्योंको जो दुर्गतिरूप फल मिलता है, उससे सर्वथा भिन्न और विलक्षण है ।

इसी प्रकार सर्वोत्तम फल प्राप्त कराने वाले कर्मका स्वरूप है – कर्ममें कर्तापनके अभिमानका अभाव, राग द्वेष और फल-कामनाका अभाव एवं अपने वर्णाश्रम तथा परिस्थतिके अनुरूप केवल भगवत्सेवाके भावसे श्रद्धापूर्वक शास्त्रविहित कर्मोंका यथायोग्य सेवन । इसके अनुष्ठानसे समस्त दुर्गुण और दुराचारों का अशेष रूप से नाश हो जाता है और हर्ष-शोकादि समस्त विकारों से रहित होकर साधक मृत्युमय संसार-सागरसे तर जाता है ।

सकामभावसे किये जानेवाले कर्मोंका जो पुनर्जन्मरूप फल उन कर्ताओंको मिलता है, उससे इस यथार्थ कर्म-सेवनका यह फल सर्वथा भिन्न और विलक्षण है ।

इस प्रकार हमने उन परम ज्ञानी महापुरुषों से सुना है, जिन्होंने हमें यह विषय पृथक-पृथक्-रूपसे व्याख्या करके भली भाँति समझाया था ।।10।।

सम्बन्ध— अब उपर्युक्त प्रकारसे ज्ञान और कर्म—दोनों के तत्त्वको एक साथ भलीभाँति समझनेका फल स्पष्ट शब्दोंमें बतलाते हैं—

[11]

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयँ सह ।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ।।11।।

यः=जो मनुष्य; **तत् उभयम्**= उन दोनोंको; (अर्थात्) **विद्याम्**= ज्ञानके तत्त्वको; **च**=और; **अविद्याम्**=कर्मके तत्त्वको; **च**=भी; **सह**=साथ-साथ; **वेद**=यथार्थत: जान लेता है; **अविद्यया**=(वह) कर्मोंके अनुष्ठानसे; **मृत्युम्**=मृत्युको; **तीर्त्वा**=पार करके; **विद्यया**=ज्ञानके अनुष्ठानसे; **अमृतम्**=अमृतको; **अश्नुते**=भोगता है अर्थात् अविनाशी आनन्दमय परब्रह्म पुरुषोत्तमको प्रत्यक्ष प्राप्त कर लेता हैं ।

व्याख्या—कर्म और अकर्मका वास्तविक रहस्य समझनेमें बड़े-बड़े बुद्धिमान पुरुष भी भूल कर बैठते हैं (गीता 4 । 16) । इसी कारण कर्म-रहस्यसे अनभिज्ञ ज्ञानाभिमानी मनुष्य कर्मको ब्रह्मज्ञानमें बाधक समझ लेते हैं और अपने वर्णाश्रमोचित अवश्यकर्तव्य कर्मोंका त्याग कर देते हैं; परंतु इस प्रकारके त्यागसे उन्हें त्यागका यथार्थ फल—कर्मबन्धनसे छुटकारा नहीं मिलता (गीता 18 । 8) । इसी प्रकार ज्ञान (अकर्मावस्था—नैष्कर्म्य) का तत्त्व न समझनेके कारण मनुष्य अपनेको ज्ञानी तथा संसारसे ऊपर उठे हुए मान लेते हैं । अत: वे या तो अपने को पुण्य-पापसे अलिप्त मानकर मनमाने कर्माचरणमें प्रवृत्त हो जाते हैं या कर्मों को भाररूप समझकर उन्हें छोड़ देते हैं और आलस्य, निद्रा तथा प्रमादमें अपने दुर्लभ मानव-जीवनके अमूल्य समयको नष्ट कर देते हैं ।

इन दोनों प्रकारके अनर्थोंसे बचनेका एकमात्र उपाय कर्म और ज्ञानके रहस्यको साथ-साथ समझकर उनका यथायोग्य अनुष्ठान करना ही है । इसीलिये इस मन्त्रमें यह कहा गया है कि जो मनुष्य इन दोनोंके तत्त्वको एक ही साथ भलीभाँति समझ लेता है, वह अपने वर्णाश्रम और परिस्थितिके अनुरूप शास्त्रविहित कर्मोंका स्वरूपत: त्याग नहीं करता, बल्कि उनमें कर्तापनके अभिमानसे तथा रागद्वेष और फलकामनासे रहित होकर उनका यथायोग्य आचरण करता है । इससे उसकी जीवनयात्रा भी सुखपूर्वक चलती है और इसे भाव से कर्मानुष्ठान करनेके फलस्वरूप उसका अन्त: करण समस्त दुर्गुणों एवं विकारोंसे रहित होकर अत्यन्त निर्मल हो जाता है और भगवत्कृपासे वह मृत्युमय संसारसे सहज ही तर जाता है । इस कर्मसाधनके साथ-ही-साथ विवेक-वैराग्यसम्पन्न होकर निरन्तर ब्रह्मविचाररूप ज्ञानाभ्यास करते रहने से श्रीपरमेश्वरके यथार्थ ज्ञानका उदय होनेपर वह शीघ्र ही परब्रह्म परमेश्वरको साक्षात् प्राप्त कर लेता है ।।11।।

सम्बन्ध—अब अगले तीन मन्त्रों में असम्भूति और सम्भूतिका तत्त्व बतलाया जायगा । इस प्रकरणमें 'असम्भूति' शब्दका अर्थ है—जिनकी पूर्णरूपसे सत्ता न हो, ऐसी विनाशशील देव, पितर और मनुष्यादि योनियाँ एवं उनकी भोग-सामग्रियाँ । इसीलिये चौदहवें मन्त्रमें 'असम्भूति' के स्थानपर स्पष्टतया 'विनाश' शब्दका प्रयोग किया गया है । इसी प्रकार सम्भूति शब्दका अर्थ है—जिसकी सत्ता पूर्णरूपसे हो वह सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाला अविनाशी परब्रह्म पुरुषोतम (गीता 7 । 6-7) ।

NOTES

देव, पितर और मनुष्यादिकी उपासना किस प्रकार करनी चाहिये और अविनाशी परब्रह्मकी किस प्रकार—इस तत्त्वको समझकर उनका अनुष्ठान करनेवाले मनुष्य ही उनके सर्वोत्तम फलोंको प्राप्त हो सकते हैं, अन्यथा नहीं । इस भावको समझानेके लिए पहले, उन दोनोंके यथार्थ स्वरूपको न समझकर अनुष्ठान करनेवालोंकी दुर्गतिका वर्णन करते हैं—

[12]

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याँ रताः ।।12।।

ये= जो मनुष्य; **असम्भूतिम्**=विनाशशील देव-पितर-मनुष्य आदिकी; **उपासते**=उपासना करते हैं; **(ते)** =वे; **अन्धम्**=अज्ञानरूप; **तमः**=घोर अन्धकारमें; **प्रविशन्ति**=प्रवेश करते हैं; (और) **ये**=जो; **सम्भूत्याम्**=अविनाशी परमेश्वरमें; **रताः**= रत हैं अर्थात् उनकी उपासनाके मिथ्याभिमानमें मत्त हैं; **ते**=वे; **ततः**=उनसे; **उ**=भी; **भूयः इव**=मानो अधिकतर; **तमः**=अन्धकारमें (प्रवेश करते हैं) ।।12।।

व्याख्या—जो मनुष्य विनाशशील स्त्री, पुन, धन, मान, कीर्ति, अधिकार आदि इस लोक और परलोकको भोग-सामग्रियोंमें आसक्त होकर उन्हींको सुखका हेतु समझते हैं तथा उन्हींके अर्जन-सेवनमें सदा संलग्न रहते हैं एवं इन भोग-सामग्रियोंकी प्राप्ति, संरक्षण तथा वृद्धिके लिये उन विभिन्न देवता, पितर और मनुष्यादिकी उपासना करते हैं, जो स्वयं जन्म-मरणके चक्रमें पड़े हुए होनेके कारण अभावग्रस्त और शरीर की दृष्टिसे विनाशशील हैं, उनके उपासक वे भोगासक्त मनुष्य अपनी उपासनाके फलस्वरूप विभिन्न देवताओं लोकोंको और विभिन्न भोगयोनियोंको प्राप्त होते हैं । यही उनका अज्ञानरूप घोर अन्धकारमें प्रवेश करना है । (गीता 7 । 20 से 23)

दूसरे जो मनुष्य शास्त्रके तात्पर्यको तथा भगवान्के दिव्य गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको ने समझनके कारण न तो भगवान्का भजन-ध्यान ही करते हैं और न श्रद्धाका अभाव तथा भोगोंमें आसक्ति होनेके कारण लोकसेवा और शास्त्रविहित देवोपासनामें ही प्रवृत्त होते हैं, ऐसे वे विषयासक्त मनुष्य झूठ-मूठ ही अपनेको ईश्वरोपसाक बतलाकर सरलहृदय जनतासे अपनी पूजा कराने लगते हैं । ये लोग मिथ्याभिमानके कारण देवताओंको तुच्छ बतलाते हैं और शास्त्रानुसार अवश्यकर्तव्य देवपूजा तथा गुरुजनों का सम्मान-सत्कार करना भी छोड देते हैं । इतना ही नहीं, दूसरोंको भी अपने वाग्जलमें फँसाकर उनके मनों में भी देवोपासना आदि के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न कर देते हैं । ये लोग अपनेको ही ईश्वरके समकक्ष मानते-मनवाते हुए मनमाने दुराचारणमें प्रवृत हो जाते हैं ऐसे दम्भी मनुष्यकों अपने दुष्कर्मोंका कुफल भोगने के लिये ब्राध्य होकर कूकर-शूकर आदि नीच योनियों में और रौरव-कुम्भीपाकादि नरकोंमें जाकर भीषण यन्त्रणाएँ भोगनी पड़ती हैं । यही उनका विनाशशील देवताओंकी उपासना करनेवालों की अपेक्षा भी अधिकतर घोर अन्धकारमें प्रवेश करना है (गीता 16 ।18 ।19) ।।12।।

सम्बन्ध—शास्त्रके यथार्थ तात्पर्यको समझकर सम्भूति और असम्भूतिकी उपासना करनेसे जो सर्वोत्तम परिणाम होता है, जब संकेतसे उसका वर्णन करते हैं—

[13]

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ।।13।।

सम्भवात्=अविनाशी ब्रह्मकी उपासनासे; **अन्यत् एव**=दूसरा ही फल; **आहुः** =बतलाते हैं; (और) **असम्भवात्**=विनाशशील देव-पितर-मनुष्य आदिकी उपासनासे; **अन्यत्**=दूसरा (ही) फल; **आहुः**=बतलाते हैं; **इति**=इस प्रकार; (हमने) **धीराणाम्**=(उन) धीर पुरुषोंके; **शुश्रुम**=वचन सुने हैं; **ये**=जिन्होंने; **नः**=हमें; **तत्**=उस विषयको; **विचचक्षिरे**=व्याख्या करके भलीभाँति समझाया था ।

व्याख्या—अविनाशी ब्रह्मकी उपासनाका यथार्थ स्वरूप है—परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान्को सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वाधार, सर्वमय, सम्पूर्ण संसारके कर्ता, धर्ता, हर्ता, नित्य अविनाशी समझना और भाक्ति, श्रद्धा तथा प्रेमपरिपूरित हृदयसे नित्य-निरन्तर उनके दिव्य परम मधुर नाम, रूप, लीला, धाम तथा प्राकृत गुणरहित एवं दिव्य गुणगणमय सच्चिदानन्दघन स्वरूपका श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि करते रहना । इस प्रकारकी प्राप्ति सच्ची उपासनासे उपासकको शीघ्र ही अविनाशी परब्रह्म पुरुषोत्तमकी प्राप्ति हो जाती है (गीता 9 । 34)। ईश्वरोपासनाका मिथ्या स्वाँग भरनेवाले दम्भियोंको जो फल मिलता है, उससे इन सच्चे उपासकोंको मिलनेवाला यह फल सर्वथा भिन्न और विलक्षण है ।

इस प्रकार विनाशशील देवता, पितर, मनुष्य आदिकी उपासनाका यथार्थ स्वरूप है—शास्त्रों एवं श्रीभगवान्के आज्ञानुसार (गीता 17। 14) देवता, पितर, ब्राह्मण, माता-पिता, आचार्य और ज्ञानी महापुरुषों की सेवा-पूजादि अवश्य-कर्तव्य समझकर करना और उसको भगवान्की आज्ञाका पालन एवं उनकी परम सेवा समझना । इस प्रकार निष्कामभावसे देव-पितर-मनुष्य आदिकी सेवा-पूजा करनेवालोंके अन्तः करणकी शुद्धिहोती है तथा उनको श्रीभगवानकी कृपा एवं प्रसन्नता प्राप्त होती है, जिससे वे मृत्युमय संसार-सागरसे तर जाते हैं । विनाशशील देवता आदिके सकाम उपासनासे जो फल मिलता है, उससे यह फल सर्वथा भिन्न और विलक्षण है ।

इस प्रकार हमने उन धीर तत्त्वज्ञानी महापुरुषोंसे सुना है, जिन्होंने हमें यह विषय पृथक्-पृथक् रूपसे व्याख्या करके भलीभाँति समझाया था ।।।13।।

सम्बन्ध—अब उपर्युक्त प्रकारसे सम्भूति और असम्भूति दोनोंके तत्त्वको एक साथ भलीभाँति समझनेका स्पष्ट बतलाते हैं—

[14]

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयँ सह ।

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ।।14।।

यः= जो मनुष्यः तत् **उभयम्**=उन दोनोंको; (अर्थात्) **सम्भूतिम्**= अविनाशी परमेश्वरको; **च**=और; **विनाशम्**=विनाशशील देवादिको; **च**= भी; **सह**=साथ-साथ; **वेद**=यथार्थतः जान लेता है; **विनाशेन**=(वह) विनाशशील देवादिकी उपासनासे; **मृत्युम्**=मृत्युको; **तीर्त्वा**=पार करके; **सम्भूत्या**=अविनाशी परमेश्वरकी उपासनासे; **अमृतम्**=अमृतको; **अश्नुते**=भोगता है अर्थात् अविनाशी आनन्दमय परब्रह्म पुरुषोत्तमको प्रत्यक्ष प्राप्त कर लेता है ।

व्याख्या— जो मनुष्य यह समझ लेता है कि परब्रह्म पुरुषोत्तम नित्य, अविनाशी, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वाधिपति, सर्वात्मा और सर्वश्रेष्ठ हैं, वे परमेश्वर नित्य निर्गुण (प्राकृत गुणोंसे सर्वथा रहित) और नित्य सगुण (स्वरूपभूत दिव्यकल्याण-गुणगण-विभूषित) हैं और इसीके साथ जो यह भी समझ लेता है कि देवता, पितर, मनुष्य आदि जितनी भी योनियाँ तथा भोगसामग्रियाँ हैं, सभी विनाशशील, क्षणभङ्गुर और जन्म-मृत्युशील होनेके कारण महान् दुःखके कारण हैं; तथापि इनमें जो सत्ता-स्फूर्ति तथा शक्ति है, वह सभी भगवान्की है और भगवान्के जगच्चक्रके सुचारुरूपसे चलते रहनेके लिये भगवत्प्रीत्यर्थ ही इनकी यथायोग्य सेवा-पूजा आदि करने

की शास्त्रोंने आज्ञा दी है और शास्त्र भगवान् की ही वाणी हैं, वह मनुष्य ऐहलौकिक तथा पारलौकिक देवपितरादि लोकोंके भोगोंमें आसक्त न होकर कामना-ममता आदि हृदयसे निकालकर इन सबकी यथायोग्य शास्त्रविहित सेवा-पूजादि करता है । इससे उसकी जीवन-यात्रा सुखपूर्वक चलती है और उसके आभ्यन्तरिक विकारोंका नाश होकर अन्त-करण शुद्ध हो जाता है एवं भगवतकृपासे वह सहज ही मृत्युमय संसार-सागरसे तर जाता है । विनाशशील देवता आदिकी निष्काम उपासनाके साथ-ही-साथ अविनाशी परात्पर प्रभुकी उपासनासे वह शीघ्र ही अमृतरूप परमेश्वरको प्रत्यक्ष प्राप्त कर लेता है ।।14।।

सम्बन्ध—श्रीपरमेश्वरकी उपासना करनेवालेको परमेश्वरकी प्राप्ति होती है, यह कहा गया । अतः भगवान्के भक्तको अन्तकालमें परमेश्वरसे उनकी प्राप्तिके लिये किस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये, इस जिज्ञासापर कहते हैं--

[15]

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।।15।।

पूषन्=हे सबका भरण-पोषण करनेवाले परमेश्वर; **सत्यस्य**=सत्यस्वरूप आप सर्वेश्वरका; **मुखम्**=श्रीमुख; **हिरण्मयेन**=ज्योतिर्मय सूर्यमण्डलरूप; **पात्रेण**=पात्रसे; **अपिहितम्**=ढका हुआ है; **सत्यधर्माय**=आपकी भक्तिरूप सत्यधर्मका अनुष्ठान करनेवाले मुझको; **दृष्टये**=अपने दर्शन कराने के लिये; **तत्**=उस आवरणको; **त्वम्**=आप; **अपावृणु**=हटा लीजिये ।

व्याख्या— भक्त इस प्रकार प्रार्थना करे कि 'हे भगवान्! आप अखिल ब्रह्माण्डके पोषक हैं, आपसे ही सबको पुष्टि प्राप्ति होती है । आपकी भक्ति ही सत्यधर्म है और मैं उसमें लगा हुआ हूँ; अतएवं मेरी पुष्टि—मेरे मनोरथकी पूर्ति तो आप अवश्य ही करेंगे । आपका दिव्य श्रीमुख—सच्चिदानन्दस्वरूप प्रकाशमय सूर्यमण्डलकी चमचमाती हुई ज्योतिर्मयी यवनिकासे आवृत है । मैं आपका निरावरण—प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहता हूँ, अतएव आपके पास पहुँचकर आपका निवारण— दर्शन करनेमें बाधा देनेवाले जितने भी, जो भी आवरण—प्रतिबन्धक हों, उन सबको मेरे लिये आप हटा लीजिये ! अपने सच्चिदानन्दस्वरूपको प्रत्यक्ष प्रकट कीजिये' ।।15।।

[16]

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह ।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ।।16।।

पूषन्=हे भक्तोंका पोषण करनेवाले; **एकर्षे**=हे मुख्य ज्ञानस्वरूप; **यम**=हे सबके नियन्ता; **सूर्य**=हे भक्तों या ज्ञानियों (सूरियों) के परम लक्ष्यरूप; **प्राजापत्य**=हे प्रजापतिके प्रिय; **रश्मीन्**=इन रश्मियोंको; **व्यूह**=एकत्र कीजिये या हटा लीजिये; **तेजः**=इस तेजको; **समूह**=समेट लीजिये या अपने तेजमें मिला लीजिये; **यत्**=जो; **ते**=आपका; **कल्याणतमम्**= अतिशय कल्याणमय; **रूपम्**=दिव्य स्वरूप है; **तत्**=उस; **ते**=आपके दिव्य स्वरूपको; **पश्यामि**=मैं आपकी कृपासे ध्यानके द्वारा देख रहा हूँ; **यः**=जो; **असौ**=वह (सूर्यका आत्मा) है; **असौ**=वह; **पुरुषः**=परम पुरुष (आपका ही स्वरूप है); **अहम्**=मैं (भी); **सः अस्मि**=वही हूँ ।।16।।

व्याख्या—भगवन् ! आप अपनी सहज कृपासे भक्तोंके भक्ति-सांधनमें दृष्टि प्रदान करके उपका पोषण करनेवाले हैं: आप समस्त ज्ञानियोंमें अग्रगण्य, परम ज्ञानस्वरूप तथा अपने भक्तकों अपने स्वरूप यथार्थ ज्ञान प्रदान

करनेवाले हैं (गीता 10 । 11); आप सबका यथायोग्य नियमन, नियन्त्रण और शासन करनेवाले हैं; आप ही भक्तों या ज्ञानी महापुरुषोंके लक्ष्य हैं और अविज्ञेय होने पर भी अपने भक्तवत्सल स्वभावके कारण भक्तिके द्वारा उनके जाननेमें आ जाते हैं; आप प्रजापतिके भी प्रिय हैं । हे प्रभो ! इस सूर्यमण्डलकी तप्त रश्मियोंको एकत्र करके अपनेमें लुप्त कर लीजिये । इसके उग्र तेजको समेटकर अपनेमें मिला लीजिये और मुझे अपने दिव्यस्वरूपके प्रत्यक्ष दर्शन कराइये । अभी तो मैं आपकी कृपासे आपके सौन्दर्य-माधुर्य-निधि दिव्य परम कल्याणमय सच्चिदानन्दस्वरूपका ध्यान-दृष्टिसे दर्शन कर रहा हूँ; साथ ही बुद्धिके द्वारा समझ भी रहा हूँ कि जो आप परम पुरुष इस सूर्यके और समस्त विश्वके आत्मा हैं, वही मेरे भी आत्मा हैं; अत: मैं भी वहीं हूँ ।।16।।

सम्बन्ध—ध्यानके द्वारा भगवान्‌के दिव्य मङ्गलमय स्वरूपके दर्शन करता हुआ साधक अब भगवान्‌की साक्षात् सेवामें पहुँचनेके लिये व्यग्र हो रहा है और शरीरका त्याग करते समय सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरके सर्वथा विघटनकी भावना करता हुआ भगवान्‌से प्रार्थना करता है—

[17]

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तँ् शरीरम् ।

ओ3म् क्रतो स्मर कृतँ् स्मर क्रतो स्मर कृतँ् स्मर ।।17।।

अथ=अब; **वायु:**=ये प्राण और इन्द्रियाँ; **अमृतम्**=अविनाशी; **अनिलम्**=समष्टि वायु-तत्त्वमें; **(प्रविशतु)**=प्रविष्ट हो जायँ; **इदम्**=यह; **शरीरम्**=स्थूलशरीर; **भस्मान्तम्**=अग्निमें जलकर भस्मरूप: **(भूयात्)**=हो जाय; **ओ3म्**=हे सच्चिदानन्दघन; **क्रतो**=यज्ञमय भगवन्; **स्मर**=(आप मुझ भक्तको) स्मरण करें; **कृतम्**=मेरेद्वारा किये हुए कर्मोंका; **स्मर**=स्मरण करें; **क्रतो**=हे यज्ञमय भगवन्; **स्मर**=(आप मुझ भक्तको) स्मरण करें; **कृतम्**=(मेरे) कर्मोंको; **स्मर**=स्मरण करें ।

व्याख्या—परमधामका यात्री वह साधक अपने प्राण, इन्द्रिय और शरीरको अपनेसे सर्वथा भिन्न समझकर उन सबको उनके अपने-अपने उपादान तत्त्वमें सदाके लिये विलीन करना एवं सूक्ष्म और स्थूल शरीरका सर्वथा विघटन करना चाहता है । इसलिये कहता है कि प्राणादि समष्टिवायु आदिमें प्रविष्ट हो जायँ और स्थूल शरीर जलकर भस्म हो जाय । फिर वह अपने आराध्य देव परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीभगवान्‌से प्रार्थना करता है कि 'हे यज्ञमय विष्णु—सच्चिदानन्द विज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! आप अपने निजजन मुझको और मेरे कर्मोंको स्मरण कीजिये । आप स्वभावसे ही मेरा और मेरेद्वारा बने हुए भक्तिरूप कार्योंका स्मरण करेंगे; क्योंकि आपने कहा है, '**अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम्**' मैं अपने भक्तका स्मरण करता हूँ और उसे परम गतिमें पहुँचा देता हूँ, अपनी सेवामें स्वीकार कर लेता हूँ, क्योंकि यही सर्वश्रेष्ठ गति है ।'

इसी अभिप्रायसे भक्त यहाँ दूसरी बार फिर कहता है कि 'भगवन् ! आप मेरा और मेरे कर्मोंका स्मरण कीजिये । अन्तकालमें मैं आपकी स्मृतिमें आ गया तो फिर निश्चय ही आपकी सेवामें शीघ्र पहुँच जाऊँगा ।

सम्बन्ध—इस प्रकार अपने आराध्य देव परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् से प्रार्थना करके अब साधक अपुनरावर्ती अर्चि आदि मार्गके द्वारा परम धाममें जाते समय उस मार्गके अग्नि-अभिमानी देवतासे प्रार्थना करता है—

[18]

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।

युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ।। 18।।

अग्ने=हे अग्निके अधिष्ठातृ देवता !; **अस्मान्**=हमें; **राये**=परम धनरूप परमेश्वरकी सेवामें पहुँचानेके लिये; **सुपथा**=सुन्दर शुभ (उत्तरायण) मार्गसे; **नय**=(आप) ले चलिये; **देव**=हे देव; (आप हमारे) **विश्वानि**=सम्पूर्ण; **वयुनानि**=कर्मोंको; **विद्वान्**=जाननेवाले हैं; (अत:) **अस्मत्**=हमारे; **जुहुराणम्**=इस मार्गके प्रतिबन्धक; **एन**=(जो) पाप हों (उन सबको); **युयोधि**=(आप) दूर कर दीजिये; **ते**=आपको; **भूयिष्ठाम्**=बार-बार; **नमउक्तिम्**=नमस्कारके वचन; **विधेम**=(हम) कहते हैं—बार-बार नमस्कार करते हैं ।।18।।

व्याख्या—साधक कहता है—हे अग्निदेवता ! मैं अब अपने परम प्रभु भगवान्‌की सेवामें पहुँचना और सदाके लिये उन्हींकी सेवामें रहना चाहता हूँ । आप शीघ्र ही मुझे परम सुन्दर मङ्गलमय उत्तरायणमार्गसे भगवान्‌के परमधाममें पहुँचा दीजिये । आप मेरे कर्मोंको जानते हैं । मैंने जीवनमें भगवान्‌की भक्ति की है और उनकी कृपासे इस समय भी मैं ध्याननेत्रोंसे उनके दिव्य स्वरूपके दर्शन और उनके नामोंका उच्चारण कर रहा हूँ । तथापि आपके ध्यानमें मेरा कोई ऐसा कर्म शेष हो, जो इस मार्गमें प्रतिबन्धकरूप हो, तो आप कृपा करके उसे नष्ट कर दीजिये । मैं आपको बार-बार विनयपूर्वक नमस्कार करता हूँ * ।।18।।

।। यजुर्वेदीय ईशावास्योपनिषद् समाप्त ।।

* इस उपनिषद्‌का पंद्रहवाँ और सोलहवाँ मन्त्र सबके लिये मननीय है । इन मन्त्रोंके भावके अनुसार सबको भगवान्‌से दर्शन देनेके लिये प्रार्थना करनी चाहिये । 'सत्यधर्माय दृष्टये' का यह भाव भी समझना चाहिये कि 'भगवान् ! आप अपने स्वरूपका वह आवरण—वह परदा हटा दीजिये, जिससे सत्यधर्मरूप आप परमेश्वरकी प्राप्ति तथा आपके मङ्गलमय श्रीविग्रहका दर्शन हो सके । इसी प्रकार सत्रहवें और अठारहवें मन्त्रके भावका भी प्रत्येक मनुष्यको विशेषत: मुमूर्षु अवस्थामें अवश्य स्मरण करना चाहिये ।

शान्तिपाठ

ॐ पूर्णमद: पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।
ॐ शान्ति: ॐ शान्ति: ॐ शान्ति:

इसका अर्थ इस ग्रन्थके प्रारम्भमें दिया जा चुका है ।

इन मन्त्रोंके अनुसार अन्तकालमें भगवान्‌की प्रार्थना करनेसे मनुष्यमात्रका कल्याण हो सकता है । भगवान्‌ने स्वयं भी गीता में कहा है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम् ।
य: प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशय: ।। (8/5)

मुमूर्षुमात्रके लाभके लिये इन दो मन्त्रोंका भावार्थ इस प्रकार है—हे परमात्मन् ! मेरे ये इन्द्रिय और प्राण आदि अपने-अपने कारण तत्त्वोंमें लीन हो जायँ और मेरा यह स्थूल शरीर भी भस्म हो जाय । इनके प्रति मेरे मनमें किञ्चित् भी आसक्ति न रहे । हे यज्ञमय विष्णो ! आप कृपा करके मेरा और मेरे कर्मोंका स्मरण करें । आपके स्मरण कर लेनेसे मैं और मेरे कर्म सब पवित्र हो जायँगे । फिर तो मैं अवश्य ही आपके चरणोंकी सेवामें पहुँच जाऊँगा ।।17।। हे अग्निस्वरूप परमेश्वर ! आप ही मेरे धन हैं—सर्वस्व हैं, अत: आपकी ही प्राप्तिके लिये आप मुझे उत्तम मार्गसे अपने चरणोंके समीप पहुँचाइये । मेरे जितने भी शुभाशुभ कर्म हैं, वे आपसे छिपे नहीं हैं, आप सबको जानते हैं, मैं उन कर्मोंके बलपर आपको नहीं पा सकता । आप स्वयं ही दया करके मुझे अपना लीजिये । आपकी प्राप्तिमें जो भी प्रतिबन्धक पाप हों, उन सबको आप दूर कर दें; मैं बारंबार आपको नमस्कार करता हूँ ।।18।।

सारांश :

इस इकाई में आपने ईशावास्योपनिषद् का समालोचनात्मक अध्ययन किया है। यह इकाई वैदिक साहित्य में उपनिषदों के महत्व पर भी प्रकाश डालती है। उपनिषद् साहित्य में ईशावास्योपनिषद् का महत्वपूर्ण स्थान है। यह उपनिषद् अपनी दार्शनिक विलक्षणता के लिए विख्यात है। इस उपनिषद् में सर्वात्मवाद एवं सर्वत्याग का सुन्दर विवेचन है। मानव को अपना जीवन किस प्रकार जीना चाहिए? 'मैं' का स्वरूप क्या है? आत्मा तथा परमात्मा की क्या विशेषताएँ हैं? अद्वैतभाव ही क्यों सत्य है? आत्मा क्या है? आदि प्रश्नों के सटीक उत्तर इसी उपनिषद् के अध्ययन से स्पष्ट होते हैं। यह उपनिषद् विद्या एवं अविद्या के विषयों का भी विश्लेषण करती है।

अभ्यास-प्रश्न :

1. उपनिषद् साहित्य की महत्ता का विवेचन कीजिए।
2. ईशावास्योपनिषद् की दार्शनिक महत्ता का वर्णन कीजिए।
3. ईशावास्योपनिषद् में वर्णित जीवन-मूल्यों की समीक्षा कीजिए।
4. ईशावास्योपनिषद् के अनुसार आत्मा का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
5. ईशावास्योपनिषद् के अनुसार परमात्मा के स्वरूप का विवेचन कीजिए।
6. अद्वैत भाव क्या है? इसकी सार्थकता की समीक्षा कीजिए।
7. स्वेक्षण तथा परेक्षण की अवधारणा की व्याख्या कीजिए।
8. उपनिषद् साहित्य में ईशावास्योपनिषद् का स्थान निर्धारित कीजिए।
9. ईशावास्योपनिषद् के सातवें मंत्र की सप्रसंग व्याख्या कीजिए।
10. ईशावास्योपनिषद् के बारहवें मंत्र की सप्रसंग व्याख्या कीजिए।

4 वैदिक संहिता

NOTES

इकाई में सम्मिलित है :

- अध्ययन के उद्देश्य
- प्रस्तावना
- वेदों का संक्षिप्त परिचय
- ब्राह्मण
- आरण्यक
- उपनिषद्
- सूत्र साहित्य
- सारांश
- अभ्यास-प्रश्न

अध्ययन के उद्देश्य :

इस इकाई में वैदिक संहिताओं का अध्ययन उनके समस्त अंगों एवं उपांगों सहित प्रस्तुत किया गया है। यह इकाई ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् एवं सूत्र साहित्य का परिचय भी प्रदान करती है। इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त छात्र :

- वेदों के संक्षिप्त परिचय से अवगत हो सकेंगे।
- वेदों के विभिन्न अंगों तथा उनके महत्व से परिचित हो सकेंगे।
- वेदों के रचनाकाल तथा उनकी विषय-वस्तु से अवगत हो सकेंगे।
- ब्राह्मण-ग्रन्थों को उनकी विशेषता एवं भेदों सहित जान सकेंगे।
- आरण्यक ग्रन्थों की विशिष्टता एवं विषय-वस्तु से अवगत हो सकेंगे।
- उपनिषद् साहित्य की विशिष्टता एवं महत्व से परिचित हो सकेंगे।
- सूत्र साहित्य के प्रवर्तकों एवं उनकी कृतियों से अवगत हो सकेंगे।

NOTES

प्रस्तावना :

विद् धतु से घञ् प्रत्यय करने पर सुबन्तादि प्रक्रिया के अनुसार संस्कृत में ''वेद:'' शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ ज्ञान प्राप्ति या ज्ञान लाभ होता है। ज्ञानात्मक ''वेद्'' धातु एवं सिद्धात्मक ''घञ्'' प्रत्यय के विश्लेषण से वैदिक ज्ञान की नित्यता तथा ज्ञानमय मंत्रा ब्राह्णात्मक वेद की अपौरुषेयता भी सिद्ध हो जाती है, लेकिन वेद शब्द का अर्थ इसके अतिरिक्त भी होता है, जिस अर्थ में सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय समाहित हो जाता है। अत: यह सिद्ध है कि प्राचीन भारत में प्राय: सभी प्रकार के साहित्य वेद शब्द से व्यपदिष्ट होते थे, केवल विषयों के व्यावहारिक ज्ञान को लक्ष्यकर ''वेद'' शब्द के आगे तत्तद् विषय का उल्लेख विशेषण के रूप में हुआ करता था, जैसे आयुवैद, ध ानुर्वेद और गान्धर्ववेद इत्यादि। यहाँ यह उल्लिखित कर देना आवश्यक होगा कि वेद शब्द कुशमुष्टि एवं सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय—इन दोनों अर्थों में ही मौलिक रूप में प्रयुक्त है। कुशमुष्टि एक यज्ञीय पदार्थ है—यथा ''वेद'' कृत्वा वेदी करोति'' जबकि सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय से चारों वेदों सहित संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् का मुख्यत: ग्रहण होता है। इस विवेचनीय प्रसंग में वैदिक वाङ्मय पर ही प्रकाश डाला जा रहा है।

विष्णुमित्र, आचार्य सायण एवं पिप्पलाद सहित अन्यान्य प्राचीन, अर्वाचीन विद्वानों ने सामान्य लौकिक-संस्कृत-साहित्य से वैदिक साहित्य की प्राचीनता को एवं वेदों द्वारा अलौकिक-वस्तु की उपलब्धि को दर्शाया है। इन आचार्यों का अभिप्राय यज्ञजन्य अदृष्ट फल से है, जिसका प्रतिपादन, लौकिक संस्कृत-साहित्य नहीं करता, क्योंकि ''वेदा: हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ता:'' इस उक्ति से ऋक्-यजु-साम एवं अथर्ववेदों का परमलक्ष्य (अपनी-अपनी याज्ञिक प्रक्रिया से) परं अदृष्ट (या पुण्य) को उत्पन्न करना है। वेद के ज्ञानात्मक स्वरूप से यज्ञविज्ञान, धर्मविज्ञान, साहित्य उन सम्पूर्ण ज्ञानों को समझना चाहिए जो लौकिक एवं अलौकिक दृष्टियों से सर्वदा लोकोपकार हों। वैदिक ज्ञान राशि अपौरुषेयात्मक वेद अनेक तप:पूत ऋषियों द्वारा दिव्यदृष्टि से दृष्ट हैं, जिसे अवान्तरकालीन वैदिक आचार्यों ने तत्तद्ऋषियों का अन्तेवासित्व स्वीकार प्राप्त किया, जिसके कारण इस वैदिक वाङ्मय़ का एक नाम श्रुति भी पड़ गया। इस प्रकार वैदिक ज्ञान का सम्पूर्ण भाग अलिखित रूप में ही श्रवण-स्मरण उपदेश के माध्यम से अनेक सम्प्रदायों एवं परम्पराओं को प्राप्त होता आया, जिनकी रक्षा एवं प्रसार में ऋषि-महर्षियों एवं मुनियों का विपुल योगदान रहा है।

वेद : संक्षिप्त परिचय

वैदिक साहित्य प्राचीनकाल में एकत्र संकलित था, जिसे मानवकल्याण एवं वैदिक साहित्य की रक्षा को ध्यानस्थ करके वेद व्यास ने विषयवस्तु उपयोग एवं स्वरूपानुसार ऋक्-यजु-साम एवं अथर्व रूप में चार प्रकार से विभाजित किया। छन्दों में निबद्ध पद्यात्मक शैली वाले, देवताओं की स्तुतिपरक होत्र कर्म प्रधान मंत्रों को एकत्र संकलित कर उसे ऋग्वेद से अभिहित किया गया, जबकि गद्यात्मक यजनीय, आध्वर्यव कर्म प्रधान मंत्रों को यजुर्वेद, विभिन्न यज्ञों में विशेषकर सोम याग में गीति प्रधान-ऋचाओं के कारण उद्गातृ कर्म के प्रयोजन से तीसरे प्रकार के मंत्रों को सामवेद तथा भौतिक जगत से घनिष्ठ-सम्बन्ध रखने के साथ-साथ अलौकिकोत्पत्ति में सहायक होने तथा यज्ञ में ''ब्रह्म'' कर्म के सम्पादन में अहं भूमिका का निर्वहण करने वाले मंत्रों के संकलन का नाम अथर्ववेद पड़ा। ऋग्वेद के प्राचीन आचार्य पैल, यजुर्वेद के वैशम्पायन, सामवेद के जैमिनी एवं अथर्ववेद के सुमन्तु हुए। इन चतुर्विध वेदों के संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद्— ये चार रूप हैं। विशेष रूप से इसे संहिता एवं ब्राह्मणात्मक स्वरूपों में समझा जा सकता है, क्योंकि ब्राह्मण साहित्य के अन्तर्गत ही अधिकांश आरण्यक एवं उपनिषद् साहित्य भी हैं, केवल कुछ उपनिषद मंत्र साहित्य अर्थात् संहिता से सम्बद्ध हैं।

ऋग्वेद

पद्यात्मक शैली वाले वैदिक मंत्रों का संकलन ऋग्वेद कहा जाता है, जिसमें अन्यान्य वैदिक देवताओं की स्तुति तप:पूत-ऋषियों द्वारा याज्ञिक प्रसंग में संसार एवं जीवन के कल्याणार्थं की गई है। प्राचीन भारतीय मनीषियों के मन्तव्यानुसार सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय (ऋक्-यजु-साम एवं अथर्व) अनादि काल से अपरिवर्तित, अखण्डित एवं अपौरुषेय है, लेकिन भौतिक-दृष्टि की वैज्ञानिक अवधारणाओं से विभूषित पूर्व एवं पाश्चात्य वेदविद्वानों एवं वैदिक-साहित्य-विश्लेषकों के मतानुसार यह ऋग्वेद रचनाकाल क्रम से स्वतन्त्र नहीं है, अतएव भाषा वैज्ञानिक इत्यादि आधारों पर की गई परीक्षा से यह सिद्ध होता है कि इसकी रचना चारों वेदों में सर्वप्रथम हुई है। याज्ञिक-उपयोगिता की दृष्टि से यह हौत्र कर्म प्रधान ऋग्वेद होता द्वारा यज्ञ में स्वाध्याय के योग्य है, जिसे प्राचीन वैदिक ऋषियों ने चित्र-स्थानीय माना है, जो यज्ञ की भित्तिस्थानीय यजुर्वेद पर चित्रित है। ऋग्वेद की प्रधानता की महिला ऋग्वेद भाष्यभूमिका के अतिरिक्त अन्य दूसरे वैदिक साहित्य की पुस्तकों में भी बाहुल्य रूप में वर्णित मिलती है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी प्राय: वेद के मूल तत्व को ऋग्वैदिक मंत्रों में ही देखा, जिसके कारण वे वेद नाम से सर्वप्रथम ऋग्वेद को ही मानते हैं।

मैक्समूलर द्वारा रचित "The Vedas" मैक्डॉनल का Vedic Reader इत्यादि इसके उदाहरण हैं, जिनमें प्रायश: ऋग्वेद पर ही प्रकाश डाला गया है। ऋग्वेद के मन्त्रों ने प्राय: अन्य तीनों वेदों को भी अपने प्रभाव से शून्य नहीं होने दिया है, जिसके कारण ऋग्वेद का व्यापकत्व सुतरां सिद्ध हो जाता है।

ऋग्वेद का अभ्यर्हितत्व, महतव एवं व्यापकत्व इस वेद के विविध वैषयिक विशेषताओं के कारण विश्व में विख्यात है। ऋग्वेद में ने केवल वैदिक यज्ञों के अनुष्ठान एवं तज्जन्य अदृष्टोत्पत्ति धर्म एवं अध्यात्म का ही वर्णन व्याप्त है, प्रत्युत ऋग्वैदिक ऋचाओं में भारतीय आदिम वैदिक-भाषा-विज्ञान के सूत्रों एवं स्वरूपों के विवेचन के साथ सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, दार्शनिक, व्यावहारिक मनोवैज्ञानिक, भौगोलिक, ऐतिहासिक तथ्यों के साथ पौराणिक-सिद्धान्तों यथा पूर्वजन्म, पाप, पुण्य, कर्म, नास्तिक, आस्तिक भावनाएँ सत्यप्रशंसा, असत्य निन्दा, कला, विज्ञान, योग, सृष्टि, रहस्य, मानव-विधि-व्यवस्था न्याय प्रशंसा, विश्वबन्धुत्व एवं शिक्षा-इतयादि विषय भी वैदुष्यपूर्ण भाषा एवं शैली में संकेतित हैं।

श्रौतयज्ञ एवं संस्कारों के पर्यालोचित एवं वैज्ञानिक अवधारणाओं के प्रायोगिक-रूपों एवं फलों को यह ऋग्वेद अपनी काव्यात्मक-शैली एवं अलंकृत शब्द-समूहों के माध्यम से चित्रित करता है, जबकि स्तुत्यात्मक परिपाटी से परिपूर्ण अनेक सूक्त, नगर-रचना, प्राचीन-आय-संस्कृति, प्राचीन-आर्यो की वेशभूषा तथा राष्ट्रीय-भावना को उजागर करते हैं। कृषि, गोरक्षा, अहिंसा, ग्राम्यजीवनवैशिष्ट्य, खाद्यान्न, के वर्णन के साथ प्राचीन-भारतीय-आर्थिक-स्रोत, पशुपालन एवं कुटीर उद्योगों के निदर्शन भी ऋग्वेद हमारे समक्ष उपस्थापित करता है। इन्द्रादि प्रधान वैदिक-देवताओं की स्तुति के माध्यम से अध्यात्म विद्या भक्ति-शास्त्र एवं ईश्वरत्व की प्राप्ति के उपायों को यह वेद दर्शाता है तथा वृत्रादि असुरों के वर्णन से मानवों को दानवीवृत्ति के कुपरिणामों की सूची प्रस्तुत कर सन्मार्ग पर चलकर जीवन को सार्थक बनाने की शिक्षा देता है। अन्यान्य नदी, पर्वत, समुद्र एवं प्राकृतिक छटाओं को यह ऋग्वेद पाठकों के समक्ष उपस्थापित करता है, जिससे हमारी भारतीय-संस्कृति की आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक मान्यताएँ सजीव, प्रामाणिक, एवं निरुपम प्रतीत होती हैं तथा विश्व की सांस्कृतिक-आधारों के इतिहासों में भारतीय-सांस्कृतिक-आधार-तत्व-रूप-वैदिक-साहित्य अग्रगामी एवं वैज्ञानिक रूप में प्रतिष्ठित होता है तथा ''पतिज्जलि'' के अनुसार 2 शिष्यों को ऋग्वेद पढ़ाया, लेकिन एकमात्र शाकला शाखा को छोड़ सभी अनुपलब्ध हो गए। इस समय मात्र इसी शाखा का प्रचार-प्रसार।

प्रकृति एवं पद पाठ जो कि वैदिक मंत्र-संग्रह-रूप संहिता का स्वरूप ही है, वैदिक-मंत्रों की अकृत्रिमता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए आविष्कृत किए गए, उन्हें विकृति पाठों में स्थान नहीं दिया गया, अतएव पद एवं प्रकृति पाठात्मक ऋग्वैदिक- ''शाकला'' (शाखा) संहिता का विकृत पाठ विशेष रूप से किया जाता है। मूल शाकला शाखा ऋचाओं का संकलन मंत्र है। ऋग्वैदिक शाकला, बाष्कला, आश्वलायन, शाखायन एवं माण्डूकेय शाखाओं में उपलब्ध शाकला शाखा की संरचना अष्टक एवं मण्डलक्रम में की गई है। प्राचीन एवं सामान्य संरचना अष्टक तथा वैज्ञानिक संरचना मण्डलक्रमागत है। अष्टक का तात्पर्य आठ अध्यायों के ऋचाओं का एकत्र वैषयिक एवं स्वरूपगत साम्यता के आधार पर संकलन से है। अष्टकों का उपविभाग वर्ग एवं वर्ग में 5 से 9 ऋचाओं का संकलन है। इस प्रकार अष्टक क्रमानुसार ऋग्वेद का मण्डल क्रमानुसार विवेचन इस प्रकार है—मंडल अनुवाकों में विभक्त, अनुवाक सूक्तों एवं सूक्त ऋचाओं में विभाजित हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ऋग्वेद दश मंडलों, 85 अनुवाकों, 1016 सूक्तों एवं ऋचाओं की संख्या 10580 है। दश मण्डलों से परिपूर्ण यह ऋग्वेद दशतयी एवं अष्टकगत चौंसठ (64) अध्यायों को लक्ष्यकर चतु:षष्टी नाम से भी विख्यात हुआ। ऋचाओं की संख्या के विषय में सभी विद्वान एक मत नहीं हैं। नैमित्तिक द्विपदा ऋचाओं की कु.सं. 140 के आधार पर तथा (12) नित्य द्विपदा ऋचाओं की गणना एवं 80 बाल खिल्य (शाखान्तरगृहीत) मंत्रों को मिलाकर ऋक् सर्वानुक्रमणी 10552 ऋचाओं का संकेत देती है, जिससे पाश्चात्य वेदज्ञ मैक्समूलर एवं मैक्डालन सहमत नहीं हैं।

इसी प्रकार वर्गों की संख्या में भी कुछ अन्तर दिखाई देता है, क्योंकि विद्वानों का एक वर्ग वर्गों की संख्या कुल 2024 मानता है।

यजुर्वेद

वास्तविक कर्मकाण्डीय उद्देश्य की पूर्ति आध्र्यव वेद से ही सम्भव है। इसकी याज्ञिक दृष्टि से महत्ता का आकलन ''यजुर्वेद'' शब्दगत-प्राधान्य भाव के आधार पर ही समझा जा सकता है। यद्यपि सभी वेदों का मुख्य उद्देश्य वैदिक यज्ञ विज्ञान का परिपालन कराना ही है, लेकिन याज्ञिक स्वरूप को एक प्रामाणिक एवं मान्य बनाने में इस गद्य प्रध ाान यजुर्वेद की भूमिका अन्य वेदों की अपेक्षा अधिक है। प्राचीन आचार्यों ने इसे भित्ति-स्थानीय मानकर यज्ञ विज्ञान की कलात्मक सौन्दर्य के प्रारूपों का इसे आश्रय मानते हुये अन्य वेदों को विभिनन प्रकार के चित्रों के समान माना है। अन्यत्र इसे एक मनुष्य-शरीर की तरह मानकर अलंकरण के रूप में अन्य वेदों को माना है। स्वयं ऋग्वेद भी इसकी इस महत्ता को स्वीकार करता है तथा वेदत्रयी को वेदचतुष्टय के प्रायोगिक स्वरूप में प्रस्तुत करता है। यजुर्वेद की गहराई एवं वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए मात्र याज्ञिक-दृष्टि से इसे समझना एकांगी विचार होगा। अत: यज्ञ विज्ञान के रहस्योद्घाटन के साथ यज्ञ के लिये एक विशाल आचार-संहिता एवं सुव्यवस्था को लोक एवं राष्ट्रीय संस्कृति में प्रतिष्ठापित करने वाला यह वेद ही यज्ञीय पूर्ण स्वरूप के प्रकट करने वाला है।

ऋग्वेद जहाँ पद्य-काव्य एवं देवताओं की प्रार्थना-प्रधान है वहीं यजुर्वेद गद्यकाव्य विधा का जन्मदाता एवं छन्दोबद्धता की शिथिलता का परिचायक है। वेदत्रयी के समूह में यजुर्वेद को शेष शब्द से अभिहित किया गया है। एक अन्य मान्यता के अनुसार यजुर्वेद ही सर्वप्राचीन वेद है, जिसमें ऋगादि संकलित थे। कालान्तर में वेद व्यास ने इन्हें अलग-अलग किया। आचार्य वेदव्यास ने यजुर्वेद की शिक्षा सर्वप्रथम वैशम्पायन को दी, जिसका कालान्तर में ब्रहम् आदित्य नामक दो मुख्य सम्प्रदायों में विकास हुआ। ब्रह्म सम्प्रदाय से सम्बन्धित यजुर्वेद को कृष्ण यजुर्वेद एवं आदित्य सम्प्रदाय से सम्बद्ध वेद को शुक्ल यजुर्वेद के रूप में प्रसिद्धि मिली। इस द्विविध विभाजन के विषय में यह माना जाता है कि किसी कारण वश ''याज्ञवल्क्य'' नामक शिष्य को अपने गुरू वैशम्पायन के कोप का भाजन बनना पड़ा, जिसके दुष्परिणामवश गुरु से प्राप्त यजुर्वेद को यौगिक क्रिया के माध्यम से उन्हें उगल देना पड़ा। इन यजुर्षो को वैशम्पायन के अन्य शिष्यों ने ''तित्तिर'' का रूप धारण कर चुग

लिया। इसी से तैत्तिरीय वैदिक सम्प्रदाय का उदय हुआ। इधर ऋषि याज्ञवल्क्य ने भगवान् आदित्य की उपासना प्रारम्भ कर दी तथा भगवान् सूर्य को प्रसन्न करके पुन: यजुषों को प्राप्त किया। अत: याज्ञवल्क्य ऋषि द्वारा प्राप्त यजुर्वेद शुक्ल यजुर्वेद के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कुछ विद्वान कृष्णत्व का कारण मन्त्रबाहण के एकत्र संकलन को भी मानते हैं, जिसका खण्डन करते हुए प्रो. श्री किशोर मिश्र जी ने याज्ञिक महत्व के आधार पर कृष्णत्व को सिद्ध किया है। सम्पूर्ण यजुर्वेद की 100 या 101 शाखाएँ मानी गयी हैं जिनमें 86 कृष्ण यजुर्वेद की एवं शेष 15 शुक्ल यजुर्वेद की शाखाएँ हैं। इन शाखाओं में कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय, मैत्रायणी, कठ एवं कपिष्ठल कठ एवं शुक्ल यजुर्वेदकी काण्व एवं माध्यन्दिनीय संहिताएँ उपलब्ध होती हैं। वेद शाखापर्यालोचनम् (डॉ. श्री किशोर मिश्र) के अनुसार कृष्ण यजुर्वेद की 9 शाखाएँ उपलब्ध हैं।

सामवेद

वेदत्रयी में गेयात्मक ऋचाओं के बाहुल्य वाले भगवान् कृष्ण का प्रिय सामवेद का केवल औद्गात्र कर्म-सम्पादन की दृष्टि से ही महत्व है, बल्कि श्रौतयागों में इस वेद की अहं भूमिका के साथ आधुनिक संगीशास्त्र का यह उपजीव्य भी माना जा सकता है। वेदार्थ ज्ञान के क्षेत्र में तथा ध्वनि शास्त्र के विषय में इसकी महत्ता को स्वीकार करते हुए आचार्य शौनक ने तो सामवेद के ज्ञाता को ही वेद रहस्य का ज्ञाता माना है।

''साम'' शब्द का अर्थ–उपनिषद् साहित्य में साम शब्द पर विचार करते हुए कहा गया है कि इस में सा एवं अम् ये दो शब्द हैं तथा (सा + अम्। सा = ऋक् अम् = स्वर) अर्थात् जिस वेद में प्रधान रूप से ऋचाओं का सामवेदीयस्वरांकन के अनुसार पाठ किया जाए, उसे साम कहते हैं। इसके अतिरिक्त ऐतरेय ब्राह्मण में ऋक् का अर्थ अक्षर समूह (वैदिक मन्त्रगत-अपौरुषेय अक्षर समूह) एवं स्वर के एकीकरण को साम माना गया है। इसी प्रकार ''गीतिषु सामाख्या'' एवं ''ऋच्युध्यूढं साम गीयते'' इत्यादि परिभाषाएँ भी यही सिद्ध करती हैं कि विशेष रूप से ऋचाओं पर विशेष स्वर की सहायता से गायन करने से साम का स्वरूप सिद्ध होता है।

अथर्ववेद के अनुसार सामवेद ब्रह्म से आविर्भूत है। एक अन्य ऋग्वेदीय मंत्र के माध्यम से ऋग्वेद के साथ ही सामवेद की उत्पत्ति का भी संकेत मिलता है।

ऋग्वेदीय एवं शुक्ल यजुर्वेदीय पुरुषसूक्त साम वेद को पृथक् रूप में आविर्भूत मानता है।

यद्यपि ''ऋचोयजूँषि सामानि'' इस क्रम के अनुसार सामवेद वेदत्रयी में तीसरे स्थान पर आता है। फिर भी इस वेद की ऋग्वेद से अति सन्निधि के कारण कुछ विद्वान् इसे ऋग्वेद के बाद स्थान देते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् एवं ऐतरेय ब्राह्मण भी ऋक् एवं साम के बीच ''पति पत्नी'' के तुल्य प्रगाढ़ सम्बन्ध मानते हैं। अत: कृष्णद्वैपायन से जैमिनि को प्राप्त यह सामवेद ऋग्वेद प्राकृतिक वेद माना जाता है। मैक्डॉनल के अनुसार साम संहिता तैत्तिरीय एवं शु. यजुर्वेदीय वाजस. संहिता से भी प्राचीन है, जबकि बेबर कुछ सामवेदीय मन्त्रों को ऋग्वेदीय संहिताओं से भी पूर्व का मानते हैं।

सामवेद की शाखाएँ– अति प्राचीन काल में सामवेद की एक हजार शाखाएँ प्राप्त होती थीं; लेकिन अनध्याय दोष वश तीन (कौथुम–गुजरात में राणायनीय–महाराष्ट्र एवं जैमिनीय–केरल में प्रसिद्ध हैं) शाखाओं को छोड़कर लगभग सभी कालकवलित हो गयीं।

कौथुम शाखा– सामवेदीय शाखाओं में कौथुमीय शाखा का प्रचार अपेक्षाकृत ज्यादा है। कौथुम शाखा से ही ताण्ड्य शाखा भी सम्बद्ध है जिसका उल्लेख अपने भाष्यों में आचार्य शंकर ने किया है। ताण्ड्व ब्राह्मण एवं छान्दोग्य उपनिषद् भी इस शाखा से सम्बद्ध हैं। इसके पूर्वार्चिक एवं उत्तरार्चिक दो खण्ड हैं। पूर्वार्चिक का एक

NOTES

अन्य नाम छन्दस् भी है। पूर्वाचिक 16 में 4 भग एवं उत्तरार्चिक में 9 प्रपाठक हैं। दोनों में कुल मन्त्र सं. 1875 है।

राणायनीय शाखा— महाराष्ट्र में इस शाखा का विशेष प्रचार है। कौथुम शाखा एवं राणायनीय शाखा के मंत्रों की संख्याओं में अन्तर नहीं है। दोनों शाखाओं के उच्चारण में मौलिक भेद यह है कि कौथुम शाखीय वेदपाठी 'हा' 'उ', अ, आ, इ—ऐसा उच्चारण करते हैं जबकि राणायनीय शाखाध्यायी 'हा' 'वु' 'या' 'यी' इस प्रकार उच्चारण करते हैं। महाभाष्य एवं आपिशली शिक्षा के अनुसार सात्यमुग्रि एक अन्य राणायनीय शाखा की सूचना मिलती है।

जैमिनीय शाखा

जैमिनीय शाखा की मंत्र संहिता से लेकर ब्राह्मण साहित्य श्रोत एवं गृह्य सूत्र भी उपलब्ध हैं। इस शाखा के मन्त्रों की संख्या आचार्य उपाध्याय जी के अनुसार 1687 है, जो कौथुम शाखा से 182 मंत्र कम है। सामगानों की संख्या की दृष्टि से जैमिनीय शाखा बड़ी है। कौथुम शाखा में 2722 गान हैं जबकि जैमिनीय शाखा में 3681 गान हैं। सम्पूर्ण नाम सं. 8000 तथा गायनों की सम्पूर्ण सं. थी— 14820। द्र. वै. सा. व संस्कृति-प्रो. उपाध्याय पृ.- 142। तवल्कार शाखा भी इसी शाखा की अवान्तर शाखा है।

अथर्ववेद

अथर्ववेद वेदत्रयी के मध्य स्थित न होकर भी अपनी महानता के लिए विश्व प्रसिद्ध है। अथवा ऋषि एवं अंगिरा ऋषि से सम्बन्धित होने के कारण इस वेद को अथर्ववेद कहा जाता है। यह सम्पूर्ण जगत् के लिये कल्याणप्रद या मंगल मय है। इसकी नित्यता एवं प्राचीनता अन्य तीनों वेदों के समान है। शतपथ ब्राह्मण एवं ऋग्वेद सहित अन्यान्य पुराणों, शास्त्रों एवं वैदिक सम्पदा के अन्य पोषक ग्रन्थों में भी इसकी महत्ता एवं गुणवत्ता की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की गयी है। यह वेदत्रयी मानो अस्पष्ट लौकिक एवं अलौकिक आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक पहलुओं के साथ यज्ञ, दान, तप, ज्ञान एवं विज्ञान की वैदिक कालीन सामग्रियों को भी हमारे सामने उपस्थित करता है। वैदिक मन्त्रों के सटीकएवं प्रायोगिक प्रभाव को जिस प्रकार अथर्ववेद अपनी तान्त्रिक एवं याज्ञिक प्रक्रिया से इंगित करने में कुशल है, उतना शायद, सुगमता से अन्य वेद सामान्य अर्थ द्वारा नहीं कर सकते। अतएव इसे हम अन्य वेदों के पूरक के रूप में स्वीकार करते हैं। तान्त्रिक प्रयोगों का लक्ष्य लोकशान्ति एवं अभीष्ट प्राप्ति तथा अनिष्ट का परिहार मात्र होने से अथर्ववेद के विषय में पाश्चात्यों के वाम मार्ग का तान्त्रिक अभिप्राय खण्डित हो जाता है, क्योंकि अथर्ववेद को अहिंसा का उपदेशक माना गया है। यज्ञ-शरीर की पूर्ति इसी अथर्ववेद से होती है। यज्ञ को सुचारू रूप से सम्पन्न कराने का श्रेय अथर्ववेद के ज्ञाता ब्रह्मा को ही जाता है।

अथर्ववेद के विभिन्न नाम

अथर्व एवं आंगिरस वेद— लोककल्याणार्थ शान्तिक, पौष्टिक इत्यादि मन्त्रों से या अथर्वण ऋषि द्वारा दुष्ट होने के कारण इस चतुर्थ वेद को अथर्ववेद कहा गया।

पाश्चात्य विद्वान ब्लूमफील्ड (अमेरिका) के अनुसार "अथर्व" शब्द पवित्र जादू का वाचक है, जबकि "आंगिरस" अपवित्र (मारणादि के कारण) जादू का बोधक है तथा अथर्वशब्द प्राचीन एवं अंगिरा शब्द अर्वाचीन है। अन्य व्याख्याकार अथर्वन् शब्द को पुरोहित का वाचक शब्द मानते हैं, लेकिन गोपथ ब्राहण (1/4, 1/9, 3/4) के अनुसार ब्रह्म के तप:पूत शरीर से अथर्वन् एवं अंगिरा की उत्पत्ति बताई गयी है।

ब्रह्मवेद— वैदिक यज्ञों के सम्पादन में अथर्ववेदविद् ब्रह्म की महत्वपूर्ण भूमिका होने के कारण इस चतुर्थवेद को ब्रह्मवेद कहा जाने लगा, लेकिन आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विश्लेषण के आधार पर ब्रह्म-ज्ञान का विशेष रूप से

प्रतिपादक होने के कारण भी इसे हम ब्रह्मवेद कह सकते हैं। अथवा ब्रह्मा से उत्पन्न अथर्वन् एवं अंगिरा ऋषियों की परम्परा में विकसित होने के कारण भी इसे ब्रह्मवेद कहते हैं।

भैषज्यवेद– रोग इत्यादि के उपशमन के साधन यन्त्र, मन्त्र एवं औषधि इत्यादि से विवेचन के कारण हम इस अथर्ववेद को भैषज्य वेद भी कहते हैं।

क्षत्रवेद– वीरोचित कर्मोपदेशक, मातृ-भूमि एवं राष्ट्र-धर्म का प्रतिपादक होने के कारण इस चतुर्थवेद को क्षत्रवेद भी कहा जाता है, विशेषकर लोक में अथर्ववेद शब्द का ही प्रचलन है। उपर्युक्त सभी नामकरण सार्थक हैं। ये सभी पर्यायवाचक शब्द अथर्ववेद के प्रतिपाद्य विषयों पर प्रकाश डालते हैं। कुछ विद्वान भृगु, अथर्वन् एवं अंगिरस को अथर्ववेद के साथ ऋग्वेद से भी सम्बद्ध मानते हैं।

अथर्ववेद की शाखाएँ– अथर्ववेद की परम्परा का सुविस्तार वेद व्यास के शिष्य आचार्य सुमन्तु से प्रारम्भ होता है। आचार्य सुमन्तु ने ही अपने शिष्यों को पढ़ाकर इस परम्परा का विविध रूप में विस्तार किया। आचार्य कात्यायन ने अथर्ववेद की नौ शाखाओं का निर्देश किया है जो इस प्रकार हैं– (1) पैप्पलाद (2) शौनक, (3) दामोद, (4) तोतायन, (5) ब्रह्मपलाश, (7) कुनखी, (8) देवदर्शी, (9) चारण विद्या। अन्यत्र इन नामों में वैभिन्य भी दिखाई देता है। उपर्युक्त शाखाओं में शौनक शाखा एवं पिप्पलाद शाखा का ही आज प्रचार है। विशेष रूप से शौनाक शाखा 38 का ही अध्ययनाध्यापन होता है। पैप्पलाद शाखा का सम्पादन आचार्य रघुवीर ने किया था। इस शाखा की एकमात्र प्रति शारदा लिपि में कश्मीर में उपलब्ध हुयी थी, जिसे कश्मीर नरेश ने 1885 ई. में जर्मन के विद्वान् डॉ. रॉथ को उपहार में भेज दी। उसी प्रति से अमेरिका से 1901 में यह संहिता फोटो के रूप में छपी थी। डॉ. गौरीनाथ शास्त्री के अनुसार कश्मीर में इस शाखा का पता 'डॉ. व्हेलर' (Buhler) को लगा था। शौनक शाखा का सर्वप्रथम सम्पादन William Dwight Whitney (अमेरिका) एवं रॉथ (जर्मनी) ने मिलकर 1850-1856 के बीच किया था।

अथर्ववेद में कुल 20 काण्ड हैं। भृगु ने शिष्य अथर्वा के 20 पुत्रों द्वारा दृष्ट होने के कारण अथर्ववेद के 20 काण्ड माने जाते हैं। काण्डों का विभाजन प्रपाठक कहलाता है। अथर्ववेद में 20 काण्ड, 48 प्रपाठक तथा 730 सूक्त हैं। विद्वानों ने मंत्रों की सं. 6000 मानी है।

विषय

पाश्चात्य विद्वान विन्टरनित्स ने अथर्ववेदीय विषयों का निम्नलिखित रूप में वर्णन किया है–

(1) भैषज सूक्त, (2) आयुष्य सूक्त, (3) पौष्टिक सूक्त, (4) प्रायश्चित सूक्त, (5) स्त्रीकर्म सूक्त, (6) अभिचार सूक्त एवं राजकर्म सूक्त इत्यादि।

एडबर्ट महोदय ने अथर्ववेदीय जादू टोने की जर्मनी एवं रूस के जादू टोनों से तुलना की है। उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त भी अर्थववेद में बहुत वैज्ञानिक विषय हैं, जिनका ज्ञान पूर्ण अध्ययन से हो सकता है। याज्ञिक प्रयोजन तो इसका है ही साथ ही सामाजिक एवं सांस्कृतिक महत्व के लिए भी अथर्ववेद को प्रमाण माना जाता है।

वेदाङ्ग साहित्य

जिसके माध्यम से वैदिकमन्त्रों की व्यापक अर्थ की प्रतीति सम्भव हो जाती हैं, उसे वेदाङ्ग साहित्य कहते हैं। वेदाङ्ग साहित्य के अन्य प्रयोजनों में से वैदिक धर्म की रक्षा करना भी एक प्रमुख प्रयोजन है। जैसा कि हम जानते हैं कि वैदिक धर्म एक प्रेरणाप्रधान धर्म है तथा वह धर्म यज्ञीय स्वरूप वाला है। वैदिक यज्ञ, वैदिक द्रव्य, वैदिक देवता एव

शास्त्र विहित त्यागवृतति का समवाय रूप है। इन त्रिविध तत्वों का अशेषज्ञान ही वैदिक यज्ञानुष्ठान का उपयुक्त साधान है। वेदाङ्गसाहित्य उपर्युक्त तत्वों का सप्रमाण, सप्रयोजन, सतर्क एवं सोदाहरण हमें समझाता है। इन्हीं मन्त्रगत भावों को मर्यादित रूप में सामाजिकों एवं वेदाध्ययनशीलजनों को समझाकर, वैदिक धर्म के प्रति ये प्रेरित करता है। वेदांगों का यही भाव वैदिक सम्पदा की सुरक्षा कालान्तर में करता रहता है जिससे वेद एवं वेदांग के बीच अंगागीभाव-सम्बन्ध दृढ़मूल प्रतीत होता है। अंगांगीभाव-सम्बन्ध पार्थक्य भाव का प्रतिभासक न होकर शाश्वत-सम्बन्धा का सम्पोषक है। अत: वेदांग साहित्य शिक्षा इत्यादि छह माध्यमों से वैदिक मन्त्र एवं ब्राह्मणों के आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक पदार्थों का प्रकाशन लोक में करता रहता है, जिससे वैदिक धर्म, प्रयोग एवं आचार प्रधान-धर्म बनकर पुरुषार्थ सिद्धि में सहायक होता है। वेदांगों को वेदों का उपकारक एवं पुराणों का उपबृंहक मानने के पीछे यह भावना निहित है कि ये दोनों ही शास्त्र वैदिक-अर्थविज्ञान एवं वैदिक-रहस्य को समझने में मानवीय बौद्धिक-बाधाओं का विच्छेद करते हैं, जिससे भगवान् वेद का समुचित प्रकाश मनुष्यों को एवं परम्परया अन्य जीवों को प्राप्त होता रहता है। यद्यपि उपनिषद् साहित्य में वेद एवं वेदांगों को अपराविद्या में समाविष्ट किया गया है, फिर भी इससे इनका पराशक्तित्व व्याहत नहीं होता, क्योंकि यज्ञविज्ञान का अध्यात्मविज्ञान से गहरा सम्बन्ध है। यज्ञ को विष्णु रूप एवं विष्णु को यज्ञ माना गया है। यही भगवान् विष्णु कृष्ण रूप में अवतरित होकर जब गीता का उपदेश करते हैं, तो ''यज्ञदानतप'' को अत्याज्य बताकर यज्ञादिकर्मों को करते रहने पर बल देते हैं। यज्ञादिकर्मों के अनुष्ठान से परिशुद्ध प्रज्ञा ही अध्यात्म की प्राप्ति पराविद्या रूप होती है।

अत: जिस प्रकार वैदिक मन्त्रों को सुरक्षित रखने के लिए पदपाठ एवं क्रमपाठ के साथ आठ प्रकार के विकृति पाठों का आविष्कार संहिताओं के मौलिक स्वरूप को सुरक्षित रखने के लिए हुआ है, उसी प्रकार मन्त्रों एवं ब्राह्मणों के अध्यात्मिक-आदि त्रिविध अर्थों को सुरक्षित रखने के लिए वेदांगों की रचना हुई है। इसका अर्थ यह है कि जहाँ एक ओर कुछ वेदांद पद-पाठ इत्यादि करने में सहायक हैं, वहीं कुछ वेदांग धर्म के प्रतिपादक वैदिक मन्त्रों एवं ब्राह्मणों के त्रिविध-अर्थों को समझने में भी सहायक हैं। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि वेदांगों का मुख्य प्रयोजन वैदिक धर्म की सुरक्षा एवं प्रसृति में निहित है।

षड्विध-वेदाङ्ग कल्पना

वेद के षड्विध अंगों की कल्पना वेद के अर्थों को छह आधारों पर समझने के लिए की गयी है। पारमार्थिक तत्वों के स्वरूप का निर्धारण, मानवीय बुद्धि द्वारा शनै: शनै: (उन तत्वों को) समझने के लिए किया जाता है। पुरुष सूक्त में विराट पुरुष के अंगों की कल्पना के माध्यम से, जिस प्रकार संसार की सृष्टि को विराट पुरुष से सम्बद्ध करने के लिए ऋषियों ने की है, उसी प्रकार वेद के इन छह अंगों के माध्यम से सांसारिक सभी अध्येय ज्ञान, विज्ञान, धर्म शास्त्र इत्यादि विषयों को वेद से सम्बद्ध करने के लिए छह वेदांगों की रचना की गयी। ये छह वेदांग इस प्रकार हैं—

ऊर्ध्वमुखी

(क) भगवान् वेद का मुख	**व्याकरण-शास्त्र**
(ख) भगवान् वेद का घ्राण	**शिक्षा शास्त्र**
(ग) भगवान् वेद का नेत्र	**ज्योतिष शास्त्र**
(घ) भगवान् वेद का श्रोत	**निरुक्तशास्त्र**

अधोमुखी

भगवान् वेद का हस्त	**कल्प-शास्त्र**
भगवान वेद का पैर	**छन्द: शास्त्र**

(शास्त्रीय आंगिक-विभाजन)

(1) शिक्षा	(3) व्याकरण	(5) छन्द
(2) कल्प	(4) निरुक्त	(6) ज्योतिष

विभाजन के प्रथम प्रकार का आशय यह है, सम्पूर्ण संसार अपौरुषेय शब्द राशि वेद से ही प्रवर्तित है। नित्य रूप में विद्यमान वाक् ब्रह्म, मुख से उच्चरित होकर कर्णकुहर में प्रविष्ट हो जाता है तथा शब्द में अर्थ विद्यमान होने के कारण अन्त:करण में उस अर्थ का विश्लेषण एवं निश्चय किया जाता है तब सांसारिक पदार्थ के रूप में उसकी परिणति ही घ्राण द्वारा ग्राह्य होती है, क्योंकि सुगन्ध इत्यादि गुणों के लिए गुणी का तत्काल दिखाई देना जरूरी नहीं है। अत: यौगिक प्रक्रिया के अनुसार अन्त:करण में विश्लेषित अर्थरूप ब्राह्य पदार्थ का गुण गन्धादि घ्राणरूपी शिक्षा द्वारा ग्रहण किया जाता है। जब सुन्दर शब्द-पुष्प की सुगन्ध कल्पित होती है, तो दिव्य दृष्टि से शब्द पुष्प भी दिखाई देता है। अत: उस कार्य को ज्योषि-शास्त्र रूपी नेत्र पूर्ण करते हैं। उस शब्द-पुष्प रूपी यज्ञ पुष्प की प्राप्ति के लिए कल्परूपी हस्त से यज्ञानुष्ठान रूपी उत्तम-हस्त से कार्य किया जाता है। कार्य के फल के रूप में प्राप्त स्वर्ग-मोक्ष की ओर छन्द: शास्त्ररूपी पाँव से जीव गमन करता है, तो भेद भगवान् का धाम है। यही षंडगों की प्रथम कल्पना का आधार प्रतीत होता है।

द्वितीय वर्गीकरण का भी उच्चारण प्रक्रिया एवं वैदिक अर्थ मीमांसा को समझाना ही लक्ष्य है। श्री मैक्डॉनल ने शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त कल्प एवं ज्योतिष--इस क्रम से वेदाङ्गों को रखा है। मैक्डॉनल ने प्रथम चार शिक्षा, छन्द व्याकरण एवं निरुक्त को वैदिक संहिताओं के शुद्धपाठ तथा ग्रहण करने के लिए सहायक माना है तथा अन्तिम दो—कल्प एवं ज्योतिष को धार्मिक प्रयोग विधि एवं धार्मिक कृत्यों के अनुष्ठान के लिये तथा काल निर्धारण के लिए सहायक माना है। वेदांगों के क्रम निर्धारण पर विशेष बल न देकर, इनके विषयों को समझ लेना अत्यावश्यक है, अत: मुण्डकोनिषद् में निर्धारित क्रमानुसार वेदांगों का वर्णन किया जा रहा है—

शिक्षा

परिभाषा— वर्णस्वराद्युच्चारण प्रकारो यत्र उपदिश्यते सा शिक्षा (आचार्य सायण) = अर्थात् जिस ग्रन्थ में अकारादि वर्णों एवं उदात्तादि स्वरों के उच्चारण का उपदेश हो, उसे शिक्षा ग्रन्थ कहते हैं। वैदिक अध्ययन में सस्वर शुद्ध उच्चारण का बहुत महत्व है। वेदार्थ की दृष्टि से भी स्वरों का समुचित उच्चारण अनिवार्य माना गया है। स्वर भेद से मन्त्रार्थ भेद हो जाता है।

शिक्षा के विषय— तैत्तिरीय उपनिषद् में शिक्षा के अन्तर्गत निम्न विषयों का अध्ययन किया जाता है—

(1) वर्ण = वर्णोऽकारादि = अकारादि अक्षर (स्वरं एवं व्यज्जन) का ज्ञान अर्थ ज्ञान के लिए अत्यावश्यक है। पा. शिक्षा में 63 एवं 64 वर्णों का उल्लेख है। यथा—

त्रिषष्टिश्चतु: षष्टिर्वा वर्णा: शम्भुमते: मता:

(2) स्वर— उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित

(3) मात्रा— ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत— इन त्रिविध स्वरों के उच्चारण में क्रमशः एक मात्रा काल का, दो मात्रा काल का तथा तीन मात्रा काल का समय लगता है। इन सभी ह्रस्वादि स्वरों की उच्चारण प्रक्रिया का उपदेश शिक्षा में प्राप्त होता है।

(4) बल— स्थान एवं प्रयत्न। स्वर एवं व्यञ्जन के उच्चारण के समय वायु मुख के जिन स्थानों से संस्पृष्ट होकर बाहर निकलता है, वे स्थान ही वर्णों के उच्चारण स्थान कहे जाते हैं। शास्त्र में इन स्थानों की संख्या आठ बतायी गयी है। यथा—

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।

जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च।।

वर्णों के उच्चारण में जो प्रयास करना पड़ता है, उसे ही ''प्रयत्न'' कहते हैं। प्रयत्न दो प्रकार के माने गए हैं।

इस प्रकार शिक्षाग्रन्थ वैदिक अध्ययन का एक आवश्यक अंग बनकर वैदिक मन्त्रों के शुद्धोच्चारण में सहायक सिद्ध होता है।

व्याकरण

व्याकरण वेदांग वह शास्त्र है, जो शब्द की व्युत्पत्ति एवं शब्द साधुत्व को सिद्ध कर वैदिक अर्थ विज्ञान में सहायक होता है। व्याकरण को वेद का मुख माना गया है। व्याकरण को वेद का मुख मानना व्याकरणशास्त्र का वैदिक-अध्ययन के लिए अत्यावश्यक अध्ययन सिद्ध करने के लिए है। व्याकरण को भगवान् वेद का मुख इसलिए भी कहा गया है कि अपौरुषेय शब्द राशि वेद मर्यादा के अनुरूप अपनी व्युत्पत्ति लौकिक एवं अलौकिक पदार्थों के प्रकाशन के लिए तद्रूप = व्याकरण रूप होकर प्रवर्तित होता है। इसी प्रकार भगवान् वेद स्वयं इन वेदांगों के रूप में अपनी महिमा से तपःपूत महर्षियों के अन्तःकरण में स्फुरित होते हैं एवं मानवीय बौद्धिक स्थिति के अनुसार उन ऋषियों को ऐसे शब्द शास्त्रों का निर्माण करने के लिए प्रेरित करते हैं, जिससे सामान्यजन वैदिक-मन्त्रार्थ एवं वैदिक-आचार तथा धर्म को अपने जीवन में स्थान देता रहे। उदाहरण के प में हम ''मुनित्रय'' के ऐतिह्य एवं जीवनवृत्त को देख सकते हैं। व्याकरण शास्त्र की उत्पत्ति के विषय में कोई ठोस आधार शास्त्रों में तो नहीं मिलता; लेकिन वैदिक साहित्य के विलोड़न से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि पदपाठ की परम्परा के पूर्व धातु-प्रत्यय-उपसर्ग समास इत्यादि व्याकरण के विषयों का निर्धारण हो चुका था। रामायण काल में व्याकरण का पृथक् अस्तित्व स्थापित हो चुका था। इस व्याकरण के आदि वक्ता ब्रह्मा तथा आदिसंस्कर्ता इन्द्र माने जाते हैं। ऋक्तन्त्र के अनुसार ब्रह्मा ने सर्वप्रथम व्याकरण का उपदेश बृहस्पति को, बृहस्पति ने इन्द्र को, इन्द्र ने भरद्वाज को तथा क्रमशः अन्य ऋषियों को भरद्वाज के द्वारा शब्द शास्त्र प्राप्त हुआ। व्याकरण शास्त्र में दो प्रकार की परम्पराएँ प्राप्त होती हैं— प्रथम ऐन्द्र एवं दूसरा माहेश्वर क तन्त्र'' व्याकरण ऐन्द्र सम्प्रदाय का तथा पाणिनीय व्याकरण शैव या माहेश्वर सम्प्रदाय का माना जाता है। आचार्य युधिष्ठिर जी मीमांसक के अनुसार पाणिनी से पहले 85 व्याकरण प्रवक्ता हो चुके हैं।

आज जो प्रचलित संस्कृत व्याकरणशास्त्र है, वह पाणिनीय संस्कृत व्याकरण है। यह पाणिनीय संस्कृत व्याकरण वैदिक एवं लौकिक दोनों प्रकार के संस्कृत शब्दों को अपने अध्ययन का विषय बनाता है। पाणिनीय संस्कृत व्याकरण महेश्वर से प्राप्त 14 सूत्रों के आधार पर निर्मित आठ अध्यायों, 32 पादों एवं 3995 सूत्रों वाली अष्टाध्यायी पर आध ाारित है। इन्हीं सूत्रों पर वार्तिक, वृत्ति एवं भाष्य का प्रणयन कात्यायनादि आचार्यों ने किया है। इस अष्टाध्यायी पर निर्मित व्याकरण ग्रन्थों में लघु सिद्धान्त कौमुदी, मध्यसिद्धान्त कौमुदी एवं सिद्धान्तु कौमुदी, जैसे ग्रन्थों की रचना हुई है। आज विश्व में संस्कृत व्याकरण अपनी संगणकीय विशेषताओं के कारण शोध का विषय बन गया है। संसार की

अन्य भाषाओं एवं भाषा विज्ञान की शाखाओं का भी यह लक्षण ग्रन्थ बन गया है। शब्दोत्पत्ति प्रक्रिया के विषय में यह शास्त्र आधुनिक भौतिक शास्त्र को बहुत सहारा देने की स्थिति में हैं वर्णोत्पत्ति स्थान का विचार जितना सटीक संस्कृत व्याकरण में प्राप्त होता है, उतना शायद ही अन्यत्र हो। मुँह से उच्चरित वर्णों के आधार पर मुख की आन्तरिक बनावट को संस्कृत व्याकरण के माध्यम से सरलतापूर्वक समझा जा सकता है। विश्व की भाषाओं के व्याकरणों में पाणिनीय संस्कृत व्याकरण सर्वोत्तम एवं सबसे ज्यादा व्यवस्थित है। आज इस संस्कृत व्याकरण की अध्ययनाध्यापन के क्षेत्र में नवीन एवं प्राचीन दो पद्धतियाँ प्रचलित हैं एवं दोनों ही अपनी वैज्ञानिकता के लिए प्रसिद्ध हैं।

छन्द

छन्द शब्द आच्छादनार्थक छद् से असुन् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। यही वेदांग का तत्व वैदिक मन्त्रों में माध ुर्य एवं श्रवण सुभग लय का जनक माना जाता है, जिसे वैदिक मन्त्रों से अलग नहीं किया जा सकता। इसी सम्बन्ध ा के कारण हम वेद एवं छन्द में अंगांगी भाव का नित्य सम्बन्ध मानते हैं। जब हम वैदिक मन्त्रों का अपने सम्प्रदायानुसार उच्चारण करते हैं, तो मन्त्रों में आदि से अन्त तक एक विशेष लय का अनुभव होता है; जो गुरुमुख से सुनने के बाद संस्कार रूप में बुद्धिस्थ हो जाता है। उस उच्चारण की ध्वनि प्रक्रिया में मन्त्रगत विशेष छन्द, मन्त्रगत नियत अक्षरों के विशेष स्वरों को परस्पर इस प्रकार मिलाकर अलौकिक शक्ति सम्पन्न बना देता है कि पाठक एवं श्रोता का मन शब्दब्रह्म के आनन्द से तृप्त हो जाता है। छन्द को इस वैशिष्ट्य के कारण ही वेदाध्ययन करते समय वैदिक मन्त्रों के छन्द ज्ञान को ऋषियों ने अनिवार्य माना है। पूर्ण वेदार्थ ज्ञान के लिए भी ऋषि, छन्द, देवता एवं मन्त्रगत विनियोग का जानना अत्यन्त आवश्यक है।

छन्द को देवताओं ने अपना सुरक्षा कवच भी माना है। शक्वरी छन्द का नाम शक्वरी इसी कारण पड़ा या शक्वरी छन्द का शक्वरीत्व यही है कि उससे इन्द्र ने अपनी रक्षा की थी या वृत्र को इस छन्द से पराजित किया था।

छन्दों की प्रधानता के कारण ही कालान्तर में वेद का नाम ही छन्द पड़ गया। आचार्य पाणिनी ने भाषा शब्द से लौकिक संस्कृत भाषा का तथा ''छन्द'' शब्द से वेद का निर्देश किया है। छन्द: शास्त्र के प्रवर्तक आचार्य पिंगल माने जाते हैं। आचार्य पिंगल के 'पिंगल छन्द: सूत्र' में लौकिक एवं वैदिक इन दोनों प्रकार के छन्दों का विवरण प्राप्त होता है। आचार्यों ने तो सभी शब्दों को छन्दोमय माना है; छन्द के बिना कोई शब्द नहीं है। आचार्यों के इस प्रकार के मत से ऐसा प्रतीत होता है कि स्वरादि को व्यञ्जन से मिश्रित कर वर्णों एवं अक्षरों से शब्दों का जब निर्माण होता है, तो उसमें शब्दगत उच्चारण विज्ञान के दो प्रयोजन होते हैं– पहला यह कि सामान्य प्रक्रिया के अनुसार उस शब्द का स्वरूपानुसार तथा परम्परासम्मत उचचारण किया जाए तथा दूसरा यह है कि उचित शब्दोच्चारण से शब्दार्थशक्ति को सुरक्षित रखा जाए। यही तत्व वेद में मन्त्रशक्ति के रूप में समझा जाता है, जिसके कारण वैदिक मन्त्रोच्चारण की निर्धारित प्रक्रिया की आज भी सुरक्षा की जाती है।

वैदिक छन्दों में अक्षरगणना का महत्व है। यहाँ लौकिक छन्दों की तरह गुरु-लघु का विशेष विचार नहीं होता। आचार्य शौनक ने गायत्री एवं त्रैष्टुभ-छन्दों के प्रसंग में गुरु-लघु का थोड़ा संकेत्त किया है।

कल्प

कल्प वेदांग एक प्रयोग प्रधन वेदांग है, जो वैदिक साहित्य में (अर्थात् मन्त्रों एवं ब्राह्मणों में) निहित यज्ञ विज्ञान, संस्कार एवं जीवनमूल्य के तत्वों का यज्ञानुष्ठान एवं संस्कार गृह्य सम्पादन के माध्यम से हमारे समक्ष उपस्थापित करता है। यह वेदांग सूत्र साहित्य के रूप में भी जाना जाता है, क्योंकि कल्प की सारी विधाएँ सूत्र शैली में ही विचरित हैं। यह कल्प साहित्य चार भागों में विभक्त है– श्रोत्रसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र एवं शुल्बसूत्र।

श्रौतसूत्रों में प्रधानतया श्रौत यज्ञों की विधियाँ एवं श्रोत यज्ञानुसार वैदिक मन्त्रों का विनियोग बताया गया है। चारों वेदों के ये चारों ही कल्प सूत्र या कल्प साहित्य विधाएँ उपलब्ध थी; लेकिन आजकल कुछ ही कल्प सूत्र के ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं; शेष कालकवलित हो गए।

गृह्यसूत्रों में ग्रहकर्मों का सांगोपांग वर्णन है। गृह कर्म या स्मार्त कर्म या संस्कार गृहसूत्रों के प्रधान वर्ण्य विषय है। यथा—गर्भाधान, यज्ञोपवीत विवाह इत्यादि संस्कार।

धर्मसूत्र— यही धर्म विवेचन प्रधन कल्प है। धर्मसूत्रों के अन्तर्गत गौतम सूत्रप्रभृति ग्रन्थ आते हैं। यह कल्प ही मुख्य रूप से मानव जीव के आचार एवं व्यवहारों से सम्बन्धित शास्त्र है। सामाजिक व्यवस्था एवं राजनीति के निर्देशक नैतिक तत्वों का उपदेश इस साहित्य के मुख्य विषय हैं। प्रायश्चित विधान, युगधर्म, मानवधर्म जैसे मुख्य विषयों से सम्बन्धित यह शास्त्र भारतीय संस्कृति, सभ्यता एवं भारतीय विरासत की सार्वभौमिकता को एवं वैज्ञानिकता को सिद्ध करता है। इसी कल्प के द्वारा यह सिद्ध किया जाता है कि भारतीयों का वैदिक धर्म कर्मप्रध ाान, आचार प्रधान तथा मानव जीवन मूल्योपदेश प्रधान धर्म है। जब-जब समाज में धर्म के काठिन्य की अनुभूति होती रही एवं युगानुरूप उस शाश्वत धर्म को परिवर्तित करना हुआ, तब-तब नये-नये धर्म ग्रन्थ लिखे गए, जो आज एक विश्व धर्म के लिए उपजीव्य बन गये हैं। या यों कहें तो अच्छा होगा कि ये धर्मग्रन्थ विश्वधर्म के उपलक्षण बन गए हैं। धर्म सूत्रों एवं स्मृतियों को ठीक से पढ़ लेने के बाद सम्पूर्ण विश्व में धर्मों एवं धार्मिक ग्रन्थों तथा धार्मिक विचारकों के मानव कल्याणोंपयोगी सिद्धान्तों एवं उपदेशों को समझने में सहायता मिलती है तथा सभी धर्मों के मौलिक सिद्धान्त अविरोधी सिद्ध हो जाते हैं। अनैतिक कर्म को छोड़ना, असत्य आचरण से बचना, सभी के प्रति स्नेह एवं अहिंसा का भाव रखना, एक-दूसरे को महत्व देना इत्यादि धर्म सूत्रों को ऐसे विषय हैं; जो विश्व के सम्पूर्ण धर्मों को एक मञ्च पर ला देते हैं।

शूल्बसूत्र— शल्ब का सामान्य अर्थ है; रस्सी। यह कल्पसूत्र मुख्य रूप से यज्ञ की वेदी, यज्ञ की भूमि एवं मण्डप के निर्माण के लिए रचा गया है। जिस प्रकार श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र एवं धर्मसूत्र अलग-अलग वेदों के लिए निर्मित हुए उसी प्रकार शुल्बसूत्र भी अनेक थे, जिनमें बौधायन शुल्बसूत्र तथा कात्यायन शुल्बसूत्र इत्यादि कुछ ही शुल्बसूत्र आज उपलब्ध हैं। इस साहित्य का वैज्ञानिक महत्व आज विद्वानों द्वारा अनुभव किया जा रहा है।

अत: कल्प वेदांग श्रौतस्र्मात यज्ञों के सम्पादन की विधि के उपदेश के साथ सांसारिक व्यवस्था एवं आचार मीमांसा पर भी बल देता है। यही वह ऋषियों के उपदेश का संग्रह करने वाला वेदांग है। जिससे हम अपने आचरण व्यवहार एवं चिन्तन के औचित्य की व्यावहारिक, सामाजिक, नैतिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से परीक्षा करके अपनी सभ्यता एवं संस्कृति को सशक्त एवं समृद्ध बना सकते हैं। तथा—तस्माच्छास्त्रं प्रमांण ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ—अर्थात् कार्याकार्या व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है।

ज्योतिष

वेदा हि यज्ञार्थमभिवृत्ताः
कालानुपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं
यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञान्।।''

वेदांग ज्यो.-3

वेदांगों में ज्योतिष वेदांग अन्तिम वेदांग के रूप में विश्रुत है। यह काल विधान या समय विधान शास्त्र है। वेदों का प्रमुख प्रयोजन यज्ञानुष्ठान है। कालशुद्धि यज्ञानुष्ठान प्रारम्भ करने के लिए शास्त्रों में आवश्यक मानी गयी है। वसन्त ऋतु में ब्राह्मण, ग्रीष्म में क्षत्रिय तथा वर्षा ऋतु में वैश्य के अग्न्याधान के विधान-सूत्र से सूचित होता है कि काल, नक्षत्र एवं तिथि इत्यादि के सम्यक् ज्ञान के बिना यज्ञ का सम्पादन नहीं हो सकता। मास, तिथि, वार एवं नक्षत्रज्ञान के लिए ज्योतिष का अध्ययन आवश्यक है। प्रत्येक 63 वेद के लिए भी अलग-अलग ज्योतिष ग्रन्थ के निर्माण की सूचना शास्त्रों से प्राप्त हाती है। यह ज्योतिषशास्त्र फलित एवं गणित--इन दो रूपों में विभक्त है। गणित शास्त्र के रूप में ज्योतिष की प्रंशसा करते हुए आचार्य लगध कहते हैं--

यथा शिखामयूराणां

नागानां मणयों यथा।

तद्वद्वेदांग शास्त्राणां

गणितं मूर्धनिस्थितम्।। —वे. ज्यो.-6

अत: ज्योतिष शास्त्र के बिना वैदिक साहित्य की प्रवृत्ति बाधित हो सकती है। दर्शपूर्णमासेष्टि इत्यादि यज्ञों का अनुष्ठान नक्षत्रविद्याप्रधान ज्योतिषशास्त्र के अध्ययन के बिना सम्भव नहीं हो सकता। अत: ज्योतिष वेदांग का यज्ञानुष्ठान में महत्वपूर्ण स्थान होने के कारण ही उसे वेद का चक्षु कहा गया है। वेदांग ज्योतिष के कुछ श्लोक आज भी पूर्ण व्याख्यात नहीं हैं। वेदांग ज्योतिष के प्रतिनिधि ग्रन्थ के रूप में आर्चज्योतिष एवं याजुषज्योतिष का उल्लेख पं. बलदेव जी उपाध्याय ने अपने वै. सा. एवं संस्कृति, नामक ग्रन्थ में किया है- जिनमें क्रमश: 43 एवं 36 पद्य हैं। वेदांग ज्योतिष के रचियता आचार्य लगध हैं। वेदांग ज्योतिष की रचना का काल श्री बालकृष्ण दीक्षित ने ई. पूर्व 1400 वर्ष माना है।

अत: वैदिक यज्ञों के सम्यगनुष्ठान के लिए ज्योतिष वेदांग का अन्य वेदांग के तुल्य ही महत्व है।

वेदों का महत्व

आर्यो की सभ्यता और साहित्य का आरम्भ वेदों के आविर्भाव से हुआ है। वेदों के समय को जितना प्राचीन प्रतिपादित किया जा सकता है, आर्य जाति का इतिहास भी उतना भी प्राचीन है। भारतीय धर्म, साहित्य, भाषा, सभ्यता, संस्कृति और कला इन सभी के विकास और उन्नति में वेदों का सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान है। इन सबका मूल आधार वेदों को ही स्वीकार किया जाता है। भारतीय धर्म, संस्कृति और सभ्यता का भव्य प्रसाद वेदों की सुदृढ़ आधार शिला पर ही निर्मित किया गया था।

आर्य जाति या हिन्दू जाति की वेदों के प्रति आस्था एवं श्रद्धा बहुत प्राचीन काल से रही है। पृथिवी के किसी भी स्थान पर निवास करने वाला हिन्दू अपने धर्म और संस्कृति के मूल तत्व वेदों में ही मानता रहा है। धार्मिक पर्वो और सामाजिक समारोहों पर हिन्दुओं के घरों में आज भी वेद-मन्त्रों का उच्चारण अत्यधिक श्रद्धा के साथ किया जाता है। भारतवर्ष में बहुत प्राचीन समय से ही धर्म, दर्शन और सदाचार के सम्बन्ध में विभिन्न मत-मतान्तर प्रचलित रहे, परन्तु उन सभी ने अपने मत का आधार वेदों को माना था और आचार्यों ने अपने मतों की पुष्टि वेद-मन्त्रों के आधार से की थी।

भारतीय साहित्य में वेदों के गुणों के गौरव का गान सदा के लिया किया जाता रहा है। वेदोत्तरकालीन साहित्य में ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, वेदाङ्ग दर्शन, स्मृति आदि ग्रन्थों में वेदों को ईश्वरकृत और अपौरुषेय मानकर इनकी प्रामाणिकता स्वीकार की गयी। वस्तुत: यह सभी साहित्य वेद-मन्त्रों की व्याख्या के रूप में ही है। मनु ने तो यहाँ

तक लिखा है कि वेदों की निन्दा करने वाला नास्तिक है, अर्थात् आस्तिकत्व के लिए ईश्वर के प्रति निष्ठा उतनी महत्वपूर्ण नहीं हैं, जितनी वेदों के प्रति है। भारतीय दर्शनों में प्रतिपादित विभिन्न सिद्धान्तों वेदों के प्रमाणों से पुष्ट किये गये हैं। यहाँ तक कि ईश्वर की सत्ता को भारतीय दर्शनों में प्रतिपादित विभिन्न सिद्धान्तों वेदों के प्रमाणों से पुष्ट किये गये हैं। यहाँ तक कि ईश्वर की सत्ता को असंदिग्ध रूप से स्वीकार न करने वाले सांख्य आचार्य वेदों का प्रमाण मान कर ही अपने सिद्धान्तों की व्याख्या करते हैं।

वेदों का महत्व केवल भारतवर्ष में ही सीमित नहीं रहा, अनेक देशों के विद्वान् वेदों में सन्निहित ज्ञान एवं उसके गुणों से प्रभावित हुए। इस देश में समय समय पर आने वाले पाश्चात्य विद्वान वैदिक साहित्य की विशालता एवं इसमें निहित ज्ञान-विज्ञान से अत्यधिक प्रभावित हुए थे और इन्होंने वेदों के अध्ययन को मानवमात्र के लिए उपयोगी तथा हितकर बताया था। इन विद्वानों के अनुसार वेद मानव के प्राचीनतम साहित्य-ग्रन्थ हैं एवं इनमें आर्य जाति का हजारों वर्षों पुराना इतिहास था। इन विद्वानों के अनुसार वेद मानव के प्राचीनतम साहित्य-ग्रन्थ हैं एवं इनमें आर्य जाति का हजारों वर्षों पुराना इतिहास भरा हुआ है। इनमें विज्ञान का वह आलोक सम्भूत है, जिसकी आवश्यकता आज भी मानव जाति को है। अनेक पाश्चात्य विद्वानों-मैक्समूलर, विन्टरनिट्ज, राथ, कोलबुक, मैकडानल, आदि ने वैदिक साहित्य के अध्ययन के लिए अपना पूरा जीवन समर्पित कर दिया। वेदों के सम्पादन और प्रकाशन का श्रेय भी उन पाश्चात्य विद्वानों को ही दिया जाना चाहिए।

वेदों का महत्व न केवल उनकी प्राचीनता तथा उनमें निहित ज्ञान-विज्ञान के कारण ही है, अपितु वेदों के अध्ययन के नवीन शोधों और विज्ञानों को प्रवर्तित किया है। वेदों की एवं लौकिक संस्कृत की आश्चर्यजनक समता लैटिन, ग्रीक, फारसी आदि भाषाओं में दृष्टिगोचर हुई। इससे प्राचीन इतिहास पर तो महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ा। आधुनिक भाषाविज्ञान का भी इससे जन्म हुआ।

वेदों की रचना का आरम्भ (रचनाकाल)

भारतीय परम्पराओं के अनुसार वेदों को ईश्वरीय ज्ञान माना जाता है। वैदिक ज्ञान नित्य है एवं सृष्टि की रचना के आदि में ईश्वर ने वैदिक ज्ञान का आविर्भाव किया। वेदान्त दर्शन के अनुसार वेद अनादि और अपौरुषेय ज्ञान है, जो प्रलय के बाद भी बना रहता है एवं सृष्टि के आदि में पुन: ईश्वर के द्वारा आविर्भूत होता है। जिस प्रकार ईश्वर अनादि, अनन्त और अविनश्वर है उसी प्रकार ईश्वरीय ज्ञान ऋषियों के हृदयों में प्रकाशित होता है और गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा लोक में प्रवर्तित रहता है। जगत के प्रलय होने पर वह वेद-ज्ञान ईश्वर में निहित हो जाता है।

वर्तमान काल में ऋषि दयानन्द ने वेदों के उद्भव पर सप्रमाण विचार किया है। उनके अनुसार वेद अपौरुशेय है, ईश्वरीय कृति है, जिनका ज्ञान सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर ने मनुष्यों के कल्याण के लिए ऋषियों के हृदय में प्रकाशित किया था। सृष्टि की रचना 1,96,08,52,976 वर्ष पूर्व हुई थी। ईश्वरीय ज्ञान के वेद भी उतने ही प्राचीन हैं।

वेदों के ईश्वरीय ज्ञान होने में वेदों और उसके बाद के साहित्य में अनेक प्रमाण मिलते हैं। निम्न मन्त्रों से वेदों के ईश्वरकृत होनें को प्रमाणित किया जाता है-

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।

छन्दासि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मांदजायत।। ऋ. 10.90.9 ।। यजु. 31.7 ।।

यस्मादृचों अपातंक्षन् यजुर्यस्मांदपाकंषन्।

सामांनि यस्य लोमांन्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्।। अथर्व. 10.7.20।।

इस प्रकार से ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में स्पष्ट रूप से वेदों को ईश्वर से उत्पन्न कहा गया है।

वेदों के अनन्तर जिस साहित्य की रचना हुई, उससे भी इनको अपौरुषेय, नित्य एवं ईश्वरकृत प्रतिपादित किया गया। ब्राह्मणों, आरण्यकों, उननिषदों, दर्शना, सूत्रग्रन्थों, स्मृतियों, पुराणों आदि सभी शास्त्रों में वेदों को ईश्वरीय कृति कहा गया है। 'श्वेताश्वरतर उपनिषद्' में कहा गया है कि सृष्टि के आदि में परमेशवर ने ब्रह्मा को उत्पन्न किया और उसके लिए वेदों को भेजा। 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में वेदों को ईश्वर का नि:श्वास बताया गया है।

ईश्वर द्वारा यह वैदिक ज्ञान किस प्रकार प्रकट किया गया, इस सम्बन्ध में प्राचीन साहित्य में पर्याप्त विवेचन है। 'शतपथ ब्राह्मण' में लिखा है कि अग्नि, वायु और सूर्य ने तपस्या करके तीन वेदों को प्राप्त किया। इसी प्रकार का वचन मनुस्मृति में भी प्राप्त होता है। अथर्ववेद एवं मनु के अनुसार अथर्ववेद का प्रथम ज्ञान अङ्गिरा ऋषि को प्राप्त हुआ था। प्राचीन शास्त्रों के अनुसार अग्नि, वयु और सूर्य ऋषि थे। ऋषि दयानन्द ने भी उनको युग के पुरुष बताया है।

ऊपर के कथन से यह तथ्य स्पष्ट है कि वेदों की रचना ईश्वरीय है। ईश्वर ने उनका ज्ञान सृष्टि के आदि में सर्वप्रथम अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा को दिया था। अग्नि ने ऋग्वेद, वायु ने यजुर्वेद, आदित्य ने सामवेद और अङ्गिरा ने अथर्ववेद का ज्ञान प्राप्त करके इनको लोक में प्रकाशित किया। इसके बाद जिन ऋषियों ने इन वेद मन्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया अर्थात् इनमें निहित अर्थों को सबसे पहले जाना वे मन्त्र उन ऋषियों के नाम से प्रसिद्ध हुये। यास्क ने ऋषि शब्द का अर्थ लिखा है-"ऋषयों मन्त्रद्रष्टार:"। अर्थात् मन्त्रों के अर्थों को देखने वाले, समझने वाले और उनके कर्म को उद्घाटित करने वाले ऋषि हैं।

परन्तु वेदों का अध्ययन करने वाले पाश्चात्य विद्वानों ने एवं इन्हीं का अनुकरण करने वाले वर्तमान भारतीय आलोचकों ने वेदों के ईश्वरकृत और नित्य होने के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया। प्रसिद्ध वेद-विद्वान् जिमरमैन का कथन है कि "वेद अनादि हैं और ईश्वरकृत हैं तथा किसी विशेष समय में किन्हीं ऋषियों ने उनका ज्ञान प्राप्त करके उन्हें प्रकाशित किया था, "इस सिद्धान्त को स्वीकार करना बहुत कष्टदायक है। जिमरमैन, बेकर, मैक्समूलर, मैकडोलन, जैकोबी आदि विद्वानों ने वेदों को नित्य न मानकर चारों वेदों में ऋग्वेद को सबसे प्राचीन मानकर उसका समय निर्धारित करने का प्रयत्न किया। यद्यपि ऋषि दयानन्द आदि कुछ भारतीय विद्यानों ने पाश्चात्य आलोचकों के इस वेद-विषयक विचार की कड़ी आलोचना की यथापि अनेक भारतीय समालोचकों—लोकमान्य तिलक, शंकर बालकृष्ण दीक्षित, अविनाशचन्द्र आदि ने 'ऋग्वेद' के रचना-काल पर विचार किया।

ऋग्वेद की रचना-काल

ऊपर कहा जा चुका है कि भारतीय दृष्टिकोण और परम्परायें वेदों को अनादि एवं नित्य मानते हैं। भारतीय साहित्य के अनुसार सृष्टि के आदि में ईश्वर ने वेदों का ज्ञान अग्नि, वायु, सूर्य और अङ्गिरा को दिया था। उस ईश्वरीय ज्ञान, वेद मन्त्रों का ऋषियों ने दर्शन किया। जिन ऋषियों ने जिन मन्त्रों का दर्शन किया, वे उन मन्त्रों के ऋषि कहलाये। मनुस्मृति आदि के प्रमाणों को उद्धृत करके ऋषि दयानन्द ने यह प्रमाणित किया कि सृष्टि की उत्पत्ति 1,96,08,52,976 वर्ष पूर्व हुई थी, अत: वेदों का आविर्भाव इतने ही वर्ष पहले हुआ था।

परन्तु वर्तमान युग की ऐतिहासिक दृष्टि, जो विकासवाद पर विश्वास रखती है, इस भारतीय दृष्टिकोण को स्वीकार करने के लिए सहमत नहीं है। वैदिक साहित्य का अध्ययन करने वाले अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने ऋग्वेद को सबसे प्राचीन मानकर उसके समय के निर्धारण का प्रयत्न किया। इन विद्वानों का कथन है कि प्रत्यक्ष और सबल प्रमाणों

के अभाव में ऋग्वेद के समय को ठीक ठीक निश्चित नहीं किया जा सकता, परन्तु उसका अनुमान अवश्य किया जा सकता है। हो सकता है कि उस अनुमान में कुछ शताब्दियों का अन्तर रह जाये। पाश्चात्य आलोचकों के अनुकरण में भारतीय आलोचकों ने भी वेदों के समय को निर्धारित करने का प्रयत्न किया और ये ऋग्वेद के समय को पाश्चात्य आलोचकों की अपेक्षा अधिक प्राचीन समय तक खींच कर ले गये। इस स्थन पर ऋग्वेद की रचना के समय के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मतों को उद्धृत करना उपयुक्त होगा।

मैक्समूलर का मत— इंग्लैण्ड को 'सैक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट'' नामक ग्रन्थमाला के अन्तर्गत मैक्समूलर द्वारा सम्पादित ''ऋग्वेद'' (शाकल शाखा) का प्रकाशन हुआ था। यह ग्रन्थ 1859 ई. के लगभग प्रकाशित हुआ। इसकी भूमिका में मैक्समूलर ने ऋग्वेद को निर्धारित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने ''ऋग्वेद'' की रचना को 1200 ई.पू. का सिद्ध किया।

अपने मत को सिद्ध करने के लिए मैक्समूलर ने कहा है कि गौतम बुद्ध के समय तक वैदिक साहित्य की रचना पूरी हो गयी थी। वैदिक साहित्य को उन्होंने चार भागों-छन्द:, मन्त्र, ब्राह्मण और सूत्र में विभाजित किया तथा उनके अनुसार प्रत्येक भाग के विकास का एक विशेष काल रहा था। सबसे पहले छन्दों, उसके बाद मन्त्रों, तदनन्तर ब्राह्मणों तथा उनके पश्चात् सूत्रों की रचना हुई। मैक्समूलर के अनुसार प्रत्येक विभाग के विकास और उसकी पूर्णता के लिये 200 वर्षों का समय पर्याप्त है।

गौतम बुद्ध का समय 500 ई.पू. का है। अति: सूत्रों की रचना 600 ई.पू. में पूरी हो चुकी होगी। सूत्रों से 200 वर्ष पहले अर्थात् 800 ई.पू. का समय ब्राह्मणों का है। इस समय तक ब्राह्मणों, आरण्यकों एवं उपनिषदों की रचना हो जानी चाहिये। उससे पहले 200 षर्षों का समय मन्त्रों का है। वेदों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—छन्द: और मन्त्र। मन्त्रों का विनियोग यज्ञों के अनुष्ठानों में किया जाता है तथा शेष छन्द हैं। मन्त्रों की रचना और विकास उससे पहले के 200 वर्षों में अर्थात् 1000 ई.पू. तक तथा छन्दों की रचना उससे भी 200 वर्ष पहले अर्थात् 1200 ई.पू. में हुई थी। ऋग्वेद में प्राचीनतम छन्द और मन्त्र हैं अत: ऋग्वेद का समय 1200 ई.पू. हो सकता है।

इस कालगणना के सम्बन्ध में मैक्समूलर स्वयं पूरी तौर पर सन्तुष्ट नहीं थे। उन्होंने बाद में स्वयं कहा कि यह समय निर्धारण तो केवल एक अनुमान है। वेदों के समय ठीक-ठीक निर्धारित करना असम्भव सा है। हो सकता है कि वेदों का अस्तित्व इससे पहले भी रहा हो।

विलसन, कीथ, कोलबुक आदि विद्वानों ने ''ऋग्वेद'' की रचना के समय के सम्बन्ध में मैक्समूलर का समर्थन किया है।

ऋग्वेद के समय का निर्धारण करने में अनेक विद्वनों ने मैक्समूलर की पद्धति को तो स्वीकार किया, परन्तु प्रत्येक स्तर के विकास के लिये 200 वर्ष के समय को अपर्याप्त माना। ओल्डनवर्ग के अनुसार ऋग्वेद की रचना का समय 2500 ई.पू. का होना चाहिये।

मैकडोलन का मत— मैक्डोनल ने ऋग्वेद की रचना काल 1300 ई.पू. प्रतिपादित किया है। मैक्डोनल का विचार है कि आर्यो की भारतीय और ईरानी शाखायें, जो पहले एक ही थीं, 1300 ई.पू. के लगभग पृथक् हुई थीं। इसी समय आर्यों की भारतीय शाखा द्वारा ऋग्वेद की रचना हुई। इसके 500 वर्ष बाद 800 ई.पू. में अवेस्ता की रचना हुई। उनका कहना है कि जैकोबी के अनुसार यदि आर्यों की भारतीय एवं ईरानी शाखाओं के पृथक् होने के समय को 4500 ई.पू. भी मान लिया जाये, तो भी 3000 वर्षों तक इनकी भाषायें अपरिवर्तित ही रही होगी। 1907 ई. में एशिया माइनर में प्राप्त 1400 ई.पू. के अभिलेखों में मित्र, वरुण, इन्द्र, नासत्य आदि देवताओं के उल्लेख उस समय

दोनों शाखाओं के साम्य को सिद्ध करते हैं। उसी समय के लगभग यदि दोनों शाखओं के पृथक् होने को स्वीकार कर लिया जाये तो उसके गुछ समय बाद होने वाले भाषागत परिवर्तन ऋग्वेद की भाषा में व्यक्त हुए, जो भाषा उस युग की ईरानी से भिन्न हो गई थी। अत: ऋग्वेद का रचनाकाल 1300 ई.पू. होना चाहिये।

भण्डारकर का मत—डा. आर. जी. भण्डारकर ने इतिहास के आधार पर वेदों की रचना के समय को प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया। ''ईशावास्योपनिषद्'' में,, जो कि ''यजुर्वेद'' का 40वाँ अध्याय है, ''असुर्या'' शब्द आया है। भण्डारकर के अनुसार यह शब्द ''असीरिया'' है। ''ऋग्वेद'' में देवों और असुरों के संग्राम का उल्लेख है। असीरिया (मेसोपोटामिया) के लोग ही वेदों में उल्लिखित असुर हैं। ये 2500 ई.पू. के लगभग भारत की ओर आये थे। अत: ''यजुर्वेद'' की रचना 2500 ई.पू. के लगभग हुई होगी। ''ऋग्वेद'' इससे भी पहले रचा गया होगा। अत: ऋग्वेद की रचना का समय 6000 ई.पू. रहा होगा।

सिकन्दर के आक्रमण के समय ग्रीकों ने राजवंशावलियों का संग्रह किया था। उनके अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य से पहले 154 राजाओं ने 6457 वर्ष तक राज्य किया था। यह समय वैदिक ही रहा होगा इससे बहुत वर्षों पहले ''ऋग्वेद'' की रचना का समय 8000 - 7000 ई.पू. हो सकता है।

जैकोबी का मत—जर्मनी के बोन नगर के निवासी जैकोबी महोदय ने ज्योतिष के आधार पर गणना करके ''ऋग्वेद'' का समय 4500 ई.पू. सिद्ध किया। उनका कहना है कि कल्पसूत्रों में विवाह के प्रकरण में ''ध्रुव इव स्थिरा भव'' वाक्य आया है। इसका अभिप्राय है कि ध्रुव तारा उस समय अधिक चमकीला और स्थिर रहा होगा। यह स्थिति 2000 ई.पू. की हो सकती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में कृत्तिका नक्षत्र में वसन्त सम्पात का उल्लेख है। गणना द्वारा यह समय 2500 ई.पू. का प्रतीत होता है। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों और कल्प सूत्रों का समय 2500 ई.पू. के लगभग रहा होगा। ''ऋग्वेद'' का समय और भी बहुत पहले 4500 ई.पू. होना चाहिये।

हाग—ज्योतिष के आधार पर हाग महोदय ने वेदांग ज्योतिष की रचना का समय 1186 ई.पू. निर्धारित करके ब्राह्मण ग्रन्थों का रचना काल 1400-1200 ई.पू. निश्चित किया। उनके अनुसार वैदिक संहितायें 2000-1400 ई.पू. में निबद्ध हुई। मन्त्रों की रचना का समय 1400-2000 ई.पू. के लगभग रहा होगा।

शंड्कर बालकृष्ण दीक्षित— महाराष्ट्र के प्रसिद्ध ज्योतिषी शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित ने ज्योतिष के आधार पर नक्षत्रों की गणना करके शतपथ ब्राह्मण का समय 3000 ई.पू. निर्धारित किया और ऋग्वेद की रचना के समय को 3500 ई.पू. का प्रतिपादित किया।

तिलक का मत— ज्योतिष के आधार पर वेदों के समय को निर्धारित करने में लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने महत्वपूर्ण भाग लिया है। उनके अनुसार संहिताओं का निबन्धन 4500 ई.पू. में हुआ था और उससे पहले 2000 वर्षों में सारे मन्त्र रचे गये थे। इस प्रकार से प्राचीनतम ऋचायें 6500 ई.पू. तक की हो सकती हैं।

तिलक का कहना है कि ब्राह्मण के समय नक्षत्रों की गणना कृत्तिका नक्षत्र से होती थी तथा कृत्तिका नक्षत्र के समय दिन और रात बराबर होते थे। वर्तमान समय में 21 मार्च और 23 सितम्बर को दिन और रात बराबर होते हैं और सूर्य उस अश्विनी नक्षत्र में रहता है। इतना परिवर्तन 4500 वर्षों में हो सकता है। अत: ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना 4500 वर्ष पूर्व 2500 ई.पू. में हुई होगी। संहिताओं के युग में दिन और रात उस समय बराबर होते थे जब सूर्य मृगशिरा नक्षर में होता था, यह समय 6500 वर्ष पहले का है। अत: संहिताओं की रह्चना का समय 4500 ई.पू. का है। ''ऋग्वेद'' के मन्त्र के अनुसार मृगशिरा नक्षत्र में वसन्त ऋतु होती थी और दिन बराबर होते थे। यह समय और भी 2000 वर्ष पूर्व का रहा होगा। अत: ऋग्वेद के मन्त्रों का रचना काल 6500 ई. पू. होना चाहिये।

ऋग्वेद की एवं अन्य वेदों की रचना के समय को ठीक-ठीक निर्धारित करना प्राय: असम्भव सा ही है। इनके समय को निर्धारित करने में विभिन्न विद्वानों ने शताब्दियों नहीं, अपितु सहस्राब्दियों का अन्तर किया है। परन्तु यह निश्चित है कि वेद संसार का सबसे प्राचीन साहित्य है। इनके अर्थों को ठीक प्रकार से समझना न केवल गैर भारतीयों के लिये अपितु भारतीय विद्वानों के लिए भी कठिन रहा है। भारतीय विचारधारायें वेदों को नित्य और अपौरुषेय मानकर इनके समय के सम्बन्ध में विचार नहीं करतीं। इसलिये वेदों के समय-निर्णय की ओर अधिक ध्यान न देकर इनके प्रतिपाद्य विषयों और उपदेशों पर ही ध्यान देना अधिक उचित है।

ब्राह्मण

संहिताओं के विवरण देने के अनन्तर वेद के ब्राह्मणों का परिचय देना अवसर-प्राप्त है । ग्रन्थवाची ब्राह्मण शब्द नपुंसक लिंग में ही विशेषत: व्यहत किया गया है । मेदिनी कोश के अनुसार वेद-भाग का सूचक 'ब्राह्मण' शब्द नपुंसक ही होता है– ''ब्राह्मणं ब्रह्मसंघाते वेदभागे नपुंसकम् ।'' ग्रन्थ अर्थ में 'ब्राह्मण ' शब्द का प्रयोग पाणिनीय अष्टाध्यायी (3।4।36), निरुक्त (4।27), ब्राह्मण (शतपथ 4।6।9।20), ऐतरेय ब्राह्मण (6।25।8।2) में ही उपलब्ध नहीं होता; प्रत्युत तैत्तिरीय संहिता में इसका सबसे प्राचीन प्रयोग मिलता है–एतद् ब्राह्मणान्येव पञ्च हर्वीषि'' (तैत्तिरीय सं. 3।7।1।1) इसके अर्थ के विषय में मतभेद नहीं है । ब्राह्मण ब्रह्मन् के व्याख्यापक ग्रन्थों का नाम है । 'ब्रह्म' शब्द स्वयं अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है । जिसमें इसका एक अर्थ है मन्त्र, (ब्रह्म वै; मन्त्र: शत. ब्रा. 7।1।1।5)। इस प्रकार वैदिक मन्त्रों के व्याख्यान उपस्थित करने के कारण 'ब्राह्मण' का यह नामकरण है । 'ब्राह्म' शब्द का एक दूसरा अर्थ है–यज्ञ । विस्तार किये जाने के कारण यज्ञ 'ब्रह्म' तथा 'वित्तम्' शब्द के द्वारा अभिहित किया जाता है । इस व्युत्पत्ति के अनुसार यज्ञ के कर्मकाण्ड की व्याख्या तथा विवरण प्रस्तुत करना ब्राह्मणों का मुख्य विषय है । इस प्रकार ब्राह्मणों में मन्त्रों, कर्मों तथा विनियोगों की व्याख्या है । ब्राह्मण की अन्तरङ्ग परीक्षा करने पर यह स्पष्ट है कि ब्राह्मणग्रंथ यज्ञों की वैज्ञानिक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक मीमांसा प्रस्तुत करने वाला एक महनीय विश्वकोश है । संसार के किसी भी धार्मिक साहित्य में ब्राह्मण जैसे ग्रन्थों का नितान्त अभाव है । जिसमें कार्मकाण्ड का, विशेषक यज्ञ-यागादि के विधान का, इतना साङ्गोपाङ्ग तथा पूर्णपरिचय दिया गया हो । सच तो यह है कि यज्ञ भी एक विज्ञान है । बाह्य दृष्टि में यह एक स्वतन्त्र विज्ञान है जिसके प्रत्येक क्रियाकलाप का अपना मूल्य है और जिसका पूर्ण निर्वाह तथा समग्र फल इन विधानों के उचित अनुष्ठान पर ही आश्रित रहता है । यज्ञ के पूर्ण रूप का परिचायक यही ब्राह्मण ग्रन्थ है ।

निरुक्त आदि ग्रन्थों में 'इति विज्ञायते' कहकर ब्राह्मण ग्रन्थों का ही निर्देश किया गया है । इस शब्द की व्याख्या में दुर्गाचार्य ने यही लिखा है–''एवं ब्राह्मणेऽपि विचार्यमाणे'' ज्ञायते'' (निरुक्तटीका 3।11, 2।17)। पाणिनि की अष्टाध्यायी में 'अनुब्राह्मण' शब्द का प्रयोग मिलता है । जिसका अर्थ ब्राह्मण तो नहीं, परन्तु ब्राह्मणों से मिलता-जुलता ग्रन्थ किया गया है । इस शब्द का प्रयोग भट्ट भास्कर ने तैत्तिरीय-संहिता की भाष्यभूमिका में किया है । प्रतीत होता है कि ब्राह्मण के ही अवान्तर भाग को 'अनुब्राह्मण' संज्ञा दी गई थी ।

ब्राह्मण ग्रन्थों का विस्तार बहुत ही विशाल तथा व्यापक था आजकल उपलब्ध ब्राह्मणों की संख्या जितनी मिलती है उससे यह संख्या कितनी गुनी अधिक थी । आश्वलायन गृह्यसूत्र (3 अ. ख.) में ऋषि तर्पण के साथ आचार्य-तर्पण भी उपलब्ध होता है । आश्वलायन ने ऋषियों और आचार्यों में भेद दिया है । ऋषि तो वे हैं जो मन्त्रों के द्रष्टा हैं, परन्तु आचार्य वे है जो ब्राह्मण के द्रष्टा है । ऐसे आचार्यों के यहाँ गण उपलब्ध होते हैं– (1) माण्डूकेय गण, (2) शांखायन गण, (3) आश्वलायन गणा आचार्यों के नाम ये हैं–कहोल,कौषीतक, महाकौषीतक, भरद्वाज, पैङ्ग्य, महापैङ्ग्य, सुयज्ञ आश्वलायन । इन नामों से प्रतीत होता है कि भारत तथा महाभारत के समान ये दो भिन्न-भिन्न ग्रन्थ थे, एक छोटा तथा दूसरा बड़ा । सामान्य: शांखायन ब्राह्मण ही कौषीतक ब्राह्मण माना जाता है,

परन्तु इस आचार्य-सूची में पृथक् तर्पण होने के कारण ये दोनों भिन्न-भिन्न आचार्य हैं । हम निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकते हैं। कि इस समस्त आचार्यों ने ब्राह्मण-ग्रंथों का निर्माण किया था, परन्तु ऐतरेय तथा शांखायन तो निश्चय ही ब्राह्मणों के दृष्टा ऋषि हैं जिनके ब्राह्मणग्रन्थ आज भी उपलब्ध हो रहे थे ।

NOTES

संहिता तथा ब्राह्मण का विषयपार्थक्य

संहिता तथा ब्राह्मण के स्वरूप एवं विषय का पार्थक्य नितान्त स्पष्ट है । संहिता का स्वरूप दोनों प्रकार का है । अधिकांश संहिताएँ छन्दोबद्ध हैं । उनके कतिपय अंश ही (कृष्णयजुर्वेदीय में तथा अथर्वसंहिता का स्वल्प अंश) गद्यात्मक है, परन्तु ब्राह्मण सर्वथा गद्यात्मक ही होता है । विषय में अन्तर है । ऋग्-मन्त्रों में देव-स्तुतियों का प्राधान्य है, अथर्व-मन्त्रों में नाना प्रकार के ऐहिक तथा पारलौकिक फल: देनें वाले विषयों का विवेचन है । उसके सूक्त रोग निवारण, सुयोग्य पति का वरण, घर बनाने, हल जोतने , बीज बोने आदि गार्हस्थ्य सम्बन्धी कार्यों के लिए आशीर्वाद; राजकीय विषयों– जैसे शत्रु को परास्त करना संग्राम में सेना का संचालन तथा तदुपयोगी साधनों– का विवरण आदि लौकिक विषयों का प्रतिपादन विस्तार से करते हैं । यजुर्वेद की संहिताओं में मुख्यतया दर्शपौर्णमास इष्टियों तथा अन्य यज्ञों का विस्तृत विवरण उपलब्ध किया गया है । ब्राह्मणों का विवेच्य विषय इनसे नितान्त भिन्न होता है । ब्राह्मणों का मुख्य विषय है विधि—यज्ञ का विधान कब किया जाय ? कैसे किया जाय ? इस प्रकार के याग की प्रक्रिया में विषय को सुलझाने के लिए ही इस साहित्य का उदय तथा अभ्युदय हुआ । यज्ञ के विषय में कुछ विरोध प्रतीयमान होता है, तो उसका परिहार करना भी ब्राह्मण का उद्देश्य है । शबरवामी के अनुसार ब्राह्मण की विधियों की संख्या दस प्रकार की होती है । कहने का तात्पर्य यह है कि संहिता में स्तुति का प्राधान्य है और ब्राह्मण में विधि का ।

फलत: विधि ही ब्राह्मण-ग्रन्थों का प्रधान विषय है और जितने भी अन्य विषय उपलब्ध होते हैं वे सब अवान्तर होने से उसी के पोषक तथा निर्वाहकमात्र हैं । ऐसे विषयों का मीमांसक अभिधान 'अर्थवाद में निन्दा तथा प्रशंसा का निवेश रहता है, जिसमें यागनिषिद्ध वस्तुओं की निन्दा रहती है, तथा यागोपयोगी द्रव्यों की प्रशंसा रहती है । विधि-विधान सयुक्तिक होता है । वह केवल कल्पना-मात्र की प्रसूति न होकर युक्ति तथा तर्क की आधार-शिला पर खड़ा रहता है । अत: इनके लिए 'हेतु' या कारण का निर्देश करना भी ब्राह्मणों का कार्य है । स्थान-स्थान पर अनुष्ठेय की प्रशंसा कर उनके प्रति याज्ञिकों की श्रद्धा बढ़ाने में समर्थ होते हैं 'निर्वचन' या निरुक्ति का उदय इन्हीं विधियों में प्रयुक्त शब्दविशेष की व्युत्पत्ति दिखलाने से होता है । निरुक्तिज अर्थ से भी ब्राह्मण-वाक्यों का समर्थन होता है । तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणों में विधि ही वह केन्द्रबिन्दु है जिसके चारों ओर निरूक्त, स्तुति, आख्यान तथा हेतु-वचन आदि विषय अपना आवर्तन पूरा किया करते हैं ।

जैमिनि ने भी 'कर्ममीमांसा' में यह पूर्वपक्ष उठाया है कि 'वेद' में केवल विधि-वाक्यों का ही तो अस्तित्व नहीं है । उनसे भिन्न विषय के प्रतिपादन करने वाले वाक्यों की भी यहाँ सत्ता है । फलत: ये वाक्य तो अनर्थक ही हैं; विध्यर्थक न होने से नितान्त व्यर्थ है" (आम्नायस्य क्रियार्थत्वाद् आनर्थक्यमतदर्थानाम्) । सिद्धान्त पक्ष का कथन है कि इन वाक्यों की भी उपादेयता है । ये स्वत: उपयोगी नहीं हैं, प्रत्युत विधियों की ही प्रशंसा में प्रयुक्त है और इसलिए विधिप्रतिपादित अर्थ के ही ये अवान्तर वाक्य समझे जाने चाहिए । अत: परम्परया इनका उपयोग विधि-विधान में अवश्यमेव है– ''विधिना तु एकावाक्यात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्यु:'' (जैमिनिसूत्र 1।2।27)। यह विश्लेषण ब्राह्मणों के विषयों को ही लक्ष्य कर प्रस्तुत किया गया है ।

ब्राह्मणों के विषयों में इन दश वस्तुओं का निर्देश एक संग्रह-श्लोक में किया गया है – (शाबर-भाष्य 2।133)

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः ।

परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारण-कल्पना ।।

उपमानं दर्शते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु ।

NOTES

परक्रिया तथा पुराकल्प शब्दों के अर्थ में मतैक्य नहीं है । ब्रह्माण्ड पुराण (भाग 2, 24। 63-64) इन दोनों का अर्थ इस प्रकार बतलाया है—

अन्यस्यान्यस्य चोक्तिर्या बुधैः प्रोक्ताः पुराकृतिः ।

यो ह्यत्यन्तपरोक्षार्थः स पुराकल्प उच्चते ।।

राजशेखर ने इन दोनों को इतिहास का प्रभेद बतलाया है । परक्रिया एक नायक वाली कथा होती है जैसे रामायण । पुराकल्पबहुनायक वाली कथा होती है जैसे महाभारत । इन दोनों का समावेश यहाँ 'आख्यान' के अन्तर्गत किया गया है ।

परन्तु मुख्यतया 'विधि' को ही प्राप्त है और अन्य विषय तदङ्ग तथा तन्निर्वाक होने से 'गौण' ही है। ब्राह्मण में विहित यज्ञीय अनुष्ठानों की इतनी विशाल राशि तथा बृहत् स्तूप प्रस्तुत हो गया कि उनको व्यर्थ रूप से समझना तथा उचित रीति से अनुष्ठान करना एक दुष्कर व्यापार हो गया । फलतः अनुष्ठानों में सौलबूय तथा सौकर्य को दृष्टि में रखकर कालान्तर में श्रौतसूत्रों की उत्पत्ति हुई । इस विधि तथा अर्थवाद के कतिपय उदाहरण ही यहाँ पर्याप्त होंगे ।

विषय-विवेचना

'विधि' का अर्थ है— यज्ञ तथा उसके अङ्गो-उपाङ्गों के अनुष्ठान का उपदेश । ताण्ड्य (6। 7) में अनेक विधियाँ उपलब्ध होती हैं । उदाहरणार्थ 'बहिष्-उपमान' के लिये अध्वर्यु तथा उद्गाता आदि पाँच ऋत्विजों के प्रसर्पण का विधान किया गया है । साथ ही साथ दो नियमों का पालन करना भी नितान्त आवश्यक होता है । ऋत्विजों को प्रसर्पण करते समय धीरे-धीरे पैर रखने का नियम है, तथा मौन रहने का भी विधान है । पाँचों ऋत्विजों में अध्वर्यु प्रस्तोता, उद्गाता, प्रतिहर्ता तथा ब्रह्मा को एक दूसरे के पीछे इसी क्रम से पंक्ति बाँधकर चलने की व्यवस्था है । इस पंक्ति के टूट जाने पर अनेक हानि तथा अनर्थ की सम्भावना होती है । इस समय अध्वर्यु अपने हाथ में कुश लेकर चलता है।

शतपथ-ब्राह्मण तो विधि-विधानों की एक विशाल राशि प्रस्तुत करता है । आरम्भ के ही काण्ड में दर्श और पौर्णमास इष्टियों के मुख्य तथा अवान्तर अनुष्ठानों का वर्णन यागक्रम से किया है, तथा द्वितीय काण्ड में आधान तथा पुनराधान, अग्निहोत्र, तथा उपस्थान, आग्रायण तथा दाक्षायण यज्ञ का वर्णन बड़े विस्तार से पुंखानुपुँखं किया गया है । विधि के साथ ही साथ हेतु का सयुक्तिक निर्देश भी किया गया है । शतपथ के आरम्भ की कण्डिका में ही सयुक्तिक निर्देश उपलब्ध होता है । पौर्णमास इष्टि में दीक्षित होने वाला व्यक्ति आहवनीय तथा गार्हपत्य अग्नियों के बीच पूरब की ओर खड़ा होकर जल का स्पर्श करता है । इस जल के स्पर्श का क्या कारण ? जल मेहय होता है, अर्थात् यज्ञ के लिए उपयोगी पदार्थ होता है । झूठ बोलने वाला व्यक्ति यज्ञ करने के लिए उपयुक्त नहीं होता । अतः जल के स्पर्श करने से वह पापों को दूर कर मेहय बनता है, या पवित्र होता है । अतः जल के स्पर्श करने से व्यक्ति पवित्र होकर दीक्षित होता है । इसीलिए जल का स्पर्श करता है ।

NOTES

विनियोग

ब्राह्मण-ग्रन्थों में मन्त्रों के विनियोग का प्रथम अवतार होता है । किस मन्त्र का प्रयोग किस उद्देश्य की सिद्धि के लिये किया जाता है? इसकी सयुक्तिक व्यवस्था ब्राह्मणों में सर्वत्र उपलब्ध होती है । मन्त्र के अन्तरंग अर्थ से अपरिचित पाठक मन्त्र के विनियोग को अप्रमाणिक तथा कल्पना-प्रसूत मानने का दु:साहस कर बैठता है, परन्तु वस्तुस्थिति कुछ दूसरी बात की ओर संकेत करती है । ब्राह्मण-ग्रन्थों ने मन्त्र के पदों से ही विनियोग की युक्तिमता सिद्ध की है । आपातत: मन्त्रों का जो तात्पर्य जान पड़ता है, ब्राह्मणों की अन्तरंग तथा आध्यात्मिक व्याख्या के अन्तर से ही उसके सच्चे अर्थ का बोध हमें होता है । ताण्ड्यब्राह्मण के एक दो दृष्टान्त विषय की विशदता के लिए पर्याप्त होंगे ।

'सं न: पवस्व शं गवे' (ऋ. 9।11।3) ऋचा का गायन पशुओं की रोगनिवृत्ति के निमित्त किया जाता है । इस विनियोग के विशेष विवेचन की आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह बात तो मन्त्र के पदों से सिद्ध होती है (ताण्ड्य 6।9।6–9), परन्तु 'आ नो मित्रावरूणा' (ऋ. 3।62।16) मन्त्र के गायन का विनियोग दीर्घ-रोगी की रोगनिवृत्ति के लिए है, यह कुछ आश्चर्यजनक जरूर प्रतीत होता है । इस विषय में ब्राह्मण का कथन है कि मित्रावरुण का सम्बन्ध प्राग और अपान से है । दिन के देवता होने से ही मित्र प्राण के प्रतिनिधि हैं, तथा रात्रि के देवता होने के कारण वरुण अपान के प्रतीक हैं । अत: दीर्घरोगी के शरीर में मित्रावरुण के रहने की प्रार्थना अन्तत: प्राण तथा अपान के धारण करने का प्रकारन्तर से संकेत है । फलत: इस मंत्र का पूर्वोक्त विनियोग नितान्त सयुक्तिक है । कहीं विनियोग के प्रसंग में कल्पना का ही विशेष प्रभाव दीख पड़ता है, परन्तु ब्राह्मण की व्याख्याशैली का अनुगमन करने पर ऐसे स्थलों पर भी युक्तिमत्ता: दृष्टिगोचर होती है ।

हेतु

हेतु से अभिप्राय उन कारणों के निर्देश से है जिसे कर्मकाण्ड की विशेष विधि के लिए उपयुक्त बतलाया गया है । ब्राह्मण-ग्रंथों में यज्ञ के विधि-विधान के निमित्त उचित तथा योग्य कारण का भी निर्देश विस्तार के साथ किया गया है । अग्निष्टोम याग में उद्गाता सदस् नामक मण्डप में औदुम्बर वृक्ष की शाखा का उच्छ्रयण करता है । इस विधान के कारण का निर्देश करते हुए ताण्ड्यब्राह्मण (6।4।1) का कथन है कि प्रजापति ने देवताओं के लिये ऊर्ज का विभाग किया । उसी से उदुम्बी वृक्ष की उत्पत्ति हुई । इस प्रकार उदुम्बर वृक्ष का देवता प्रजापति है । उद्गाता का भी सम्बन्ध प्रजापति से है । इसलिए उद्गाता उदुम्बर शाखा के उच्छ्रयणर का कार्य अपने प्रथम कर्म से करता है । इसके अतिरिक्त इस अवसर पर प्रयुक्त होने वाले उच्छ्रयण का कार्य अपने प्रथम कर्म से करता है । इसके अतिरिक्त इस अवसर पर प्रयुक्त होने वाले उच्छ्रयण मन्त्र की भी व्याख्या विस्तार के साथ यहाँ की गई है । इस प्रकार द्रोणकलश में सोम-रस चुलाकर 'अग्नि-वटोम' में रखने की व्यवस्था है । यह द्रोण कलश रथ के नीचें रक्खा जाता है । इस विधान के कारण का पूर्ण निर्देश ताण्ड्यब्राह्मण (6। 5) में पाया जाता है ।

"प्रजापति ने कामना की कि मैं नाना प्रजाओं की सृष्टि करूँ । इस प्रकार विचार करते ही उनके मस्तक से आदित्य की सृष्टि हुई । उसी द्रोण-कलश में चमकने वाले सोम-रस को देवताओं ने ग्रहण कर दीर्घ आयु को प्राप्त किया ।" इस प्रकार पत्थर के ऊपर द्रोणकलश के स्थापन (अध्यूहन) के विषय में भी विधि-विधानों के कारणों का निर्देश किया गया है— ताण्ड्यब्राह्मण 6।6।1-3)। 'बहिष्पवमान' स्तोत्र में पाँचों ऋत्विजों के आगे चलने वाला अध्वर्यु अपने हाथ में दर्भ की मुष्टि (प्रस्तर) लेकर चलता है ।

क्यों ? इसका कारण निर्देश करते समय ताण्ड्य (6।7।16-20) में अश्वरूप धारण कर यज्ञ के भागने तथा दर्भ की मुष्टि दिखला कर उसे लौटा लाने का आख्यान हेतुरूप से उपस्थित किया गया है । इस प्रकार 'हेतुवचन' प्रस्तुत करने से पाठकों को अनुष्ठानों के कारण का स्वयं परिचय मिलता है, तथा समधिक श्रद्धा का उदय होता है।

अर्थवाद

यज्ञ में निषिद्ध पदार्थों की निन्दा ब्राह्मण-ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर पाई जाती है । यज्ञ में माष (उड़द) का विधान निषिद्ध है । इसलिए इसकी निन्दा इस वाक्य में की गई-'अमेध्या वै माषा' (तै. सं. 5।1।8।1) । अनुष्ठानों, हवनीय द्रव्यों तथा देवताओं की भूयसी प्रशंसा से ब्राह्मणों का कलेवर वृद्धिगत हुआ है । अग्निष्टोम याग की विशेष प्रशंसा ताण्ड्य (6।3) में पाई जाती है । सब कामों (कामनाओं) के लिए उपादेय होने के कारण यही वास्तविक यज्ञ कहा गया है । यज्ञों के समधिक महत्वशाली होने से यही ज्येष्ठ यज्ञ की संज्ञा से मण्डित किया जाता है (ता. ब्रा. 6।3।8-9)। इसी प्रकार बहिष् पवमान स्तोत्र की स्तुति यहाँ उपलब्ध होती है – (ता.-6।8।5)। अर्थवाद का उपयोग विधि की आस्थापूर्वक पुष्टि के लिए ही होता है और इन अर्थवाद-प्रशंसावचनों-ब्राह्मण-ग्रन्थ आदि से अन्त तक भरे पड़े हुए हैं।

निरुक्त

ब्राह्मण-ग्रन्थों में शब्दों के निर्वचन (व्युत्पत्ति) का भी स्थान-स्थान पर निर्देश किया गया है । यह निर्देश इतना मार्मिक और वैज्ञानिक है कि इनका भाषाशास्त्र की दृष्टि से बहुत ही अधिक महत्त्व है । निरुक्त में जो शब्दों की व्युत्पत्तियाँ दी गई हैं, उनका मूल इन्हीं ब्राह्मण-ग्रन्थ में उपलब्ध होता है । ये निर्वचन काल्पनिक नहीं हैं, प्रत्युत भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इनकी वैज्ञानिकता अक्षुण्ण है । ऐसी निरुक्ति स्वयं संहिता भाग में भी उपलब्ध होती है, जिनका आश्रय लेकर ब्राह्मण-ग्रन्थों की व्युत्पत्तियाँ निमित हुई । 'दधि' तथा 'उदक' शब्द की व्याख्या संहिता ग्रन्थों में इस प्रकार है-''तद्ध्नो दधित्वम्'' (तै. सं. 2।5।3।3); ''उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते'' (अथर्व 3।13।1)। शतपथ-ब्राह्मण तथा ताण्ड्य-महाब्राह्मण ऐसी महत्त्वपूर्ण तथा उपादेय निरुक्तियों का भण्डार है । नाना प्रकार के स्तोत्र तथा साम के नामों की बड़ी ही सुन्दर निरुक्ति का भण्डार-ब्राह्मण में उपलब्ध होती है । आज्य स्तोत्र की व्याख्या 'अजि' शब्द से बतला कर सुन्दर आख्यान का भी उपक्रम किया गया मिलता है- ''यदाजिमायन् तदाऽऽज्यानाम् आज्यत्वम् '' (ताण्ड्य 7।2।1) । 'रथन्तर' की निरुक्ति इस प्रकार है:- ''रथं मर्या क्षेप्लाऽतारीत् इति तद् रथन्तरस्य रथन्तर-त्वम्'' (ताण्ड्य 7।6।4)। इसी प्रकार बृहत्-साम की निरुक्ति का प्रकार यह है- ततो बृहदनु प्राजयत । बृहन् मर्या इदं स ज्योगन्तर भूदिति तद् बृहतो बृहत्त्वम् (ताण्डय 7।6।5 ।)

इसका आशय है कि रथन्तर साम के अनन्तर 'बृहत' नामक साम की उत्पत्ति हुई । प्रजापति के मन में यह साम बृहत्काल तक निवास करता था । इसीलिए इस साम का यह विशिष्ट नामकरण है ।

आख्यान

ब्राह्मण-ग्रन्थों में विधि-अर्थवाद का वर्णन विस्तार के साथ किया गया है कि साधारण पाठकों को उद्वेग हुए बिना नहीं रहता, परन्तु इन उद्वेजक विषयव्यूहों में से कभी-कभी अत्यन्त रोचक आख्यान नितान्त आकर्षक तथा महत्त्वपूर्ण निकल आते हैं । तमिस्रा में प्रकाश की किरणों के समान तथा दीर्घ मरुभूमि में हरी भूमि की तरह से आख्यान पाठकों के उद्विग्न हृदय को शान्त तथा शीतल बनाते हैं । विधि -विधानों के स्वरूप की व्याख्या ही इन आख्यानों की जननी है, परन्तु जब कभी-कभी ये यज्ञ के संकीर्ण प्रान्त से पृथक् होकर साहित्य के सार्वभौम क्षेत्र में विचरने लगते हैं। तो कर्म-काण्ड की कर्कशता उन्हें रोक नहीं सकती । आख्यान दो प्रकार के हैं-स्वल्पकाय

तथा दीर्घकाय । स्वल्पकाय आख्यानों में उन कथाओं की गणना है जो सद्य: विधि की सयुक्तिकता प्रदर्शित करने के लिए उल्लिखित हैं । ये आख्यान किञ्चित् भेद से अनेक ब्राह्मणों में उपलब्ध होते हैं । ऐसे छोटे आख्यानों में कतिपय प्रधान ये हैं– वाक् का देवों का परित्याग कर जल और अनन्तर वनस्पति में प्रवेश (ताण्ड्य 6 ।5 ।10-12); स्वर्भानु असुर का आक्रमण तथा अत्रि द्वारा उस अन्धकार का विघटन (ताण्ड्य 6 ।6 ।8), यज्ञ का अश्वरूप में देवताओं से अपाक्रमण तथा दर्भमुष्टि के द्वारा उसका प्रत्यावर्तन अग्निमन्थन के समय घोड़े को आगे रखने प्राचीन इतिहास (शत. 1 ।6 ।4 ।15); असुरों तथा देवों के बीच नाना संग्राम (शत. 2 ।1 ।6 ।8-18; ऐत. 1 ।4 ।23; 6 ।2 ।1) ।

इन छोटे आख्यानों में कभी-कभी बड़ी गम्भीर तात्त्विक बातों का भी संकेत मिलता है, जो ब्राह्मणों के कर्मकाण्डात्मक वर्णन से नितान्त पृथक् होता है, तथा गूढ़ गंभीरार्थ प्रतिपादक होता है । प्रजापति की प्रार्थना उपांशु रूप से करने के निमित्त शतपथ ने जिस कथानक का उपक्रम किया है वह नितान्त रहस्यमय है । श्रेष्ठता पाने के लिए मन और वाक् में कलह उत्पन्न हुआ । मन का कहना था कि मेरे द्वारा अनभिगत बात वाणी नहीं बोलती । मेरा अनुकरण करती हुई मेरे पीछे चलती है । (कृतानुकरा अनुगन्त्री) वाणी का कथन था कि जो तुम जानते हो उसकी विज्ञापना मैं ही करती हूँ । मन के द्वारा ज्ञान या चिन्तित तथ्यों का प्रकटीकरण वाणी करती है । अत; मैं ही श्रेष्ठ हूँ । दोनों प्रजापति के पास गए । उन्होंने अपना निर्णय मन के पक्ष में दिया फलत: वाणी की अपेक्षा मन श्रेष्ठ माना जाता है । इस कथानक के भीतर मनोवैज्ञानिक तथ्य का विशद संकेत है (शत. 1 ।4 ।5 ।8-1) । वाक् से सम्बद्ध अनेक आख्यायिकायें बड़ी ही रोचक तथा शिक्षाप्रद हैं । गायत्री छन्द सोम को देवताओं के निमित्त ले जा रहा था कि गन्धर्वों ने उसका हरण किया । देवता लोगों ने वाक् को भेजा। वाक् अपने साथ सोम को लेकर लौटी । अब वाक् के लौटाने का उद्योग होने लगा । गन्धर्वों ने स्तुति तथा प्रशंसा से उसे अपनी ओर आकृष्ट करना चाहा । उधर देवों ने गायन तथा वादन के द्वारा आवर्जन करना चाहा । वाक् देवों के कार्य पर रीझकर उन्हीं के पास चली गई । इस कथा के प्रतीयमान उपदेश पर ब्राह्मण आग्रह दिखला रहा है कि यही कारण है कि स्त्रियाँ आज भी स्तुति की अपेक्षा संगीत से अधिक आकृष्ट होती हैं । यह उनका स्वभाव ही ठहरा (शत. 3 ।2 ।4 ।2 ।6) ।

सृष्टि के विषय में भी अनेक आख्यान ब्राह्मण-ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं । पुरुष के द्वारा चारों वर्णों की उत्पत्ति का उल्लेख तो पुरुषसूक्त में ही उपलब्ध है । ब्राह्मणों में भी इस प्रसंग का सुन्दर वर्णन मिलता है । ताण्ड्यब्राह्मण (6 ।1) प्रजापति के अंग विशेष से वर्णों की तथा सत्तत् देवताओं की उत्पत्ति बतलाता है, जिनमें शूद्रवर्ण को यज्ञाधि ाकार से वंचित होने की भी सुन्दर उपपत्ति प्रस्तुत की गई है । प्रजापति के मुख से ब्राह्मण तथा अग्नि की, बाहु से क्षत्रिय तथा इन्द्र की, मध्य देश से वैश्य तथा विश्वदेवा की तथा पैरों से केवल शूद्र की ही (देवता की नहीं) उत्पत्ति बतला कर शूद्र के कर्तव्य का निर्देश मिलता है कि वर्णत्रय के पादावनेजन से ही शूद्र का कल्याण होता है, यज्ञ करने से नहीं, क्योंकि उसके साथ किसी देवता की उत्पत्ति ही नहीं हुई थी–''तस्मात् शूद्र उत बहुपशुरयज्ञियो विदेवो हि । न हि तं काचन देवतान्असृज्यत । तस्मात् पादावनेज्यं नातिवर्धते । पत्तो हि सृष्ट:'' (ताण्ड्य0 6 ।1 ।11) ।

हिन्दी आख्यानों में साहित्यिक सौन्दर्य तथा कल्पना की सुन्दर अभिव्यञ्जना मिलती है । रजनी के उदय के विषय में एक सुन्दर आख्यान मैत्रायणी संहिता (1 ।5 ।12) में मिलता है जिससे प्रतीत होता है कि रात्रि की उत्पत्ति यमी के विषाद को भुला देने के लिए की गई है । यम के परलो चले जाने पर यमी उसके दु:ख से इतनी दु:खित हुई कि वह सर्वदा विषाद तथा विलाप करती थी, यम को किसी प्रकार भूलती ही न थी। उस समय दिन का राज्य था । दिन में उसकी स्मृति भूलती न थी । प्रजापति ने दयावश रात्रि को जन्म दिया । अन्धकार से जगत् व्याप्त हो गया। तभी यमी यम को भुला सकी । पर्वतों के पक्ष सम्पन्न होने तथा इन्द्र के द्वारा उनके पक्षच्छेदन की कथा भी इसी संहिता (1 ।10 ।13) में उपलब्ध होती है । ये आख्यायिकायें सचमुच सुन्दर, रोचक तथा कमनीय प्रतीत होती हैं ।

बृहत्काय आख्यानों में पुरुरवा तथा उर्वशी का आख्यान (शत. 11।5।1), प्राचीन जलौध का इतिहास (शत. 1।8।1) तथा शुनः शेप का आख्यान (ऐत. 7।2) मुख्य हैं । इनमें से अनेक आख्यानों का बीज संहिताओं में ही अन्तर्निविष्ट है जिन्हें ग्रहण कर ब्राह्मणों तथा पुराणों ने अपनी पद्धति के अनुरूप उनका पल्लवन किया । पुरुरवा तथा उर्वशी का वर्णन तों ऋग्वेद के एक विख्यात संवाद सूक्त (ऋ. 10।95) में है जिनमें दोनों में परस्परोपकथन-विषयक मन्त्र दिये गये हैं । शतपथ में यही आख्यान विस्तार के साथ दिया गया , तथा पुरुरवा एवं उर्वशी का प्रेम आदर्शकोटि तक पहुँचा हुआ प्रदर्शित किया गया है । प्राचीन ओघ या जलप्लावन की कथा भारतेतर साहित्य में भी उपलब्ध होती है । विषम जलप्लावन से एक वर्धिष्णु मत्स्य ने मनु को कैसे बचाया तथा किस प्रकार मनु ने प्लावन के अनन्तर मानवी सृष्टि का पुनः आरम्भ किया— यह कथा मत्स्यावतार से सम्बन्ध रखती है । तथा पुराणों में विस्तार से वर्णित है (द्रष्टव्य भागवत स्कन्ध सू.) उपलब्ध होता है और इसी का सुन्दर विन्यास ऐतरेय-ब्राह्मण का वैशिष्ट्य है । इस प्रकार आख्यानों के विकास में ब्राह्मण भी एक आवश्यक शृङ्खला है । ब्राह्मण-ग्रंथों को सरस, रोचक तथा आकर्षक बनाने का बहुत कुछ श्रेय इन्हीं आख्यानों को मिलना चाहिए ।

ब्राह्मणों का महत्त्व

ब्राह्मणों के यागानुष्ठानों के विशाल सूक्ष्मतम वर्णन को आजकल का आलोचक नगण्य दृष्टि से देखने का दु:साहस भले ही करे, परन्तु वे एक अतीत युग के संरक्षित निधि हैं, जो वैदिक युग के क्रियाकलापों का एक भव्य चित्र धर्ममीमांसक के लिए प्रस्तुत कर रहे हैं । यह परिस्थिति के परिवर्तन होने से अवश्य ही धूमिल सा हो गया है, परन्तु फिर भी वह है धार्मिक दृष्टि से उपादेय, संग्रहणीय और मननीय । भारतीय धर्म के इतिहास में श्रौत-सौष्ठव के साथ आज भी उपस्थित करने का श्रेय इन्हीं ब्राह्मण-ग्रन्थों को है । समय ने पलटा खाया । युगों ने करवटें बदलीं । भक्ति-आन्दोलन की व्यापकता के कारण वैदिक कर्मकाण्ड का सर्वत्र ह्रास हो गया । श्रौत यज्ञविधान आज अतीत की एक स्मृतिमात्र है । वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड से लोगों की आस्था उठती गई । फलत: न कहीं श्रौत यज्ञविधान आज अतीत की एक स्मृतिमात्र है । वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड से लोगों की आस्था उठती गई । फलत: न कहीं श्रौत याग होते है। और न कहीं उन अनुष्ठानों को साक्षात् करने का अवसर ही कहीं श्रौत याग होते हैं और न कहीं उपन अनुष्ठानों के क्रियाकलापों को ठीक-ठीक हृदयंगम करना एक विषय समस्या है, परन्तु इतनी तो निश्चित है कि वे यज्ञ सम्बन्धी बकवाद नहीं है (जैसा अधिकांश पश्चिमी व्याख्याता मानते आये हैं)। उनके भीतर भी एक तथ्य है और तथ्य को खोलने की कुञ्जी है श्रद्धामय अनुशीलन तथा अन्तरंग दृष्टि । बहिरंग दृष्टि वालों के लिए तो 'ब्राह्मण, ऊटपटांग अंडबंड' के सिवाय और क्या हो सकता है ?

ब्राह्मणों के अनुशीलन से स्पष्ट है कि उस समय यज्ञ-याग के अनुष्ठानों के विषय को लेकर विद्वानों में बड़ा शास्त्रार्थ होता था, तथा 'मीमांसा' जैसे शास्त्र की उत्पत्ति उस युग में हो गई थी, जिससे तर्कपद्धति के अनुसार यज्ञीय विषयों का विमर्श होता था । मीमांसक ही हमारे प्रथम दार्शनिक हैं और मीमांसा हमारा प्रथम दर्शन है । 'मीमांसा' के लिए 'न्याय' का प्रयोग इसलिए उपयुक्त प्रतीत होता है । ब्राह्मणों में यज्ञीय विषयों के मीमांसक विद्वानों की 'ब्रह्मवादी' संज्ञा दी गई है । ब्रह्मवादी विद्वानों के सामने यज्ञ-याग की समुचित व्यवस्था के लिए उनके अनुष्ठानों में आपततः प्रतीयमान विरोधों का निराकरण करना नितान्त आवश्यक समस्या थी, जिसको उन लोगों ने तार्किक बुद्धि का उपयोग कर विधिवत् आवश्यक समस्या थी, जिसकी उन लोगों ने तार्किक बुद्धि का उपयोग कर विधिवत् मीमांसा प्रस्तुत की । ताण्ड्य महा-ब्राह्मण में 'एक ब्रह्मवादिनो वदन्ति' के द्वारा अनेक यज्ञीय गुत्थियों के सुलझाने का प्रशस्त प्रयत्न किया गया है । शतपथ में ऐसे ब्रह्मवादियों के नाम भी निर्दिष्ट मिलते हैं । साथ ही उनके मतों को पर्याप्त समीक्षा भी की गई है । उदाहरण के लिए दीक्षा से पूर्व दिन भोजन करने अथवा न करने के प्रश्न को लेकर सावयव आषाढ़ नामक आचार्य तथा याज्ञवल्क्य के बीच गहरी मीमांसा उपलब्ध होती है । आषाढ़ आचार्य का मत अनशन को ही व्रत मानने के पक्ष में, परन्तु अरण्य में उत्पन्न होने वाले व्रीहि, जैसे संज्ञापद का प्रयोग ब्राह्मण

ग्रन्थों में बहुलता से उपलब्ध होता —''उत्सृज्यां नोत्सृज्यामिति मीमां-सन्ते ब्रह्मवादिन इत्याहु: उत्सृज्यशमेवेति'' (तैं. सं. 7 I5 I7 I1) ''ब्राह्मणं पात्रे न मीमासेत'' (ताण्ड्य 6 I5 I9); ''उदित होतव्यमनुदिते होतव्यमिति मीमांसान्ते'' (कोषी. ब्रा. 2 I9)।

इस प्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थों का गाढ़ अनुशीलन अनेक सिद्धान्तों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है । (क) यज्ञों के नाना रूपों तथा विविध-अनुष्ठानों के इतिहास का पूर्ण परिचय देता है । ब्राह्मणों में यज्ञ एक वैज्ञानिक संस्था के रूप में हमारे समाने आता है । (ख) हम उन निर्वचनों से परिचय पाते हैं जो निरुक्त की निरुक्ति की निरुक्तियों का मौलिक आधार है । (ग) हम उन निर्वचनों से परिचय पाते हैं जो निरुक्त निरुक्तियों का मौलिक आधार हैं । (ग) उन सुन्दर आख्यानों का मूल रूप हमें यहाँ मिलता है जिनका विकास अवान्तरकालीन पुराणों में विशेष: दृष्टिगोचार होता है । (घ) 'कर्म-मीमांसा' के उत्थान तथा आरम्भ का रूप जानने के लिए ब्राह्मण पूर्वपीठिका का काम करते हैं । ब्राह्मणों के अध्ययन से हम इन विधेय शास्त्रों के उदय की कथा जान सकते हैं और स्वयं देख सकते हैं कि यज्ञ को आवश्यकता की पूर्ति के लिए उत्पन्न होने वाले ये शास्त्र किस प्रकार सार्वभौम क्षेत्र में पदार्पण कर अपना विकास सम्पन्न करने लगते हैं ।

ब्राह्मणों का देश-काल

ब्राह्मण-ग्रन्थों में उपलब्ध भौगोलिक विवरण से स्पष्ट होता है कि इन ग्रन्थों के उदय का स्थान है कुरुपाञ्चाल प्राप्त तथा सरस्वती नदी का प्रदेश । ताण्ड्य-ब्राह्मण का सारस्वत प्रदेश से परिचय बड़ा ही घनिष्ठ है । सरस्वती नदी के लुप्त हो जाने के स्थान का नाम 'विनशन' है, तथा उनके पुन: उद्गम के स्थान का अभिधान 'प्लक्ष प्रास्रवण' है (ताण्ड्य. 25 I10 I21)। यह स्थान विनशन से अश्व की गति से 44 दिनों तक चलने की दूरी पर था (ताण्ड्य. 25 I10 I16)। यमुना के बहने का प्रदेश 'कारपचव' नाम से अभिहित किया गया है (ताण्ड्य. 25 I10 I23। इतना ही नहीं, सरस्वती तथा दृषद्दती के बीच के प्रदेश तथा उनके संगम का भी निर्देश मिलता है । सबसे महत्त्वपूर्ण संकेत है कुरुक्षेत्र को प्रजापति की वेदि मानना (एतावतोऽत्र प्रजापतेर्वेदिर्यावत् कुरुक्षेत्रमिति—ताण्ड्य 25 I13 I3)। प्रजापति के यज्ञ का प्रतीक होने से कुरुक्षेत्र यज्ञ की वेदि सिद्ध होता है । अर्थात् इसी प्रदेश में ब्राह्मणों का संकलन किया गया, तथा अज्ञयाग की पूर्ण प्रतिष्ठा इसी प्राप्त में हुई । मनुस्मृति में दृषद्वती तथा सरस्वती दोनों देवनदियों के बीच का यही देवनिर्मित प्रदेश 'ब्रह्मावर्त' के नाम से सुप्रसिद्ध हुआ (मनु. 2 I22)। यज्ञ संस्कृति का यही केन्द्र तथा पीठस्थल है जहाँ ब्राह्मणों की यज्ञ-प्रक्रिया का पूर्ण विकास सम्पन्न हुआ । इसी प्राप्त की भाषा राष्ट्रभाषा हुई तथा यहीं का आचार समग्र भारतवर्ष का मान्य आचार हुआ । यहीं की संस्कृति समग्र भारत की संस्कृति है ।

ब्राह्मणों के संकलन-काल का अनुमान ज्योतिष सम्बन्धी उल्लेखों के आधार पर लगाया गया है । ब्राह्मण साहित्य से उपनिषदों के उदय का काल लगभग एक हजार वर्ष पीछे माना जाना चाहिए । स्वरों से युक्त होने के कारण शतपथब्राह्मण अत्यन्त प्राचीन माना जाता है । इसके द्वितीय काण्ड में (जिसे सब लोग प्राचीनतम भाग स्वीकार करते हैं।) एक बहुत ही महत्त्वशाली ज्योतिष की घटना का उल्लेख मिलता है । इसका आशय है कि कृत्तिका ठीक पूरब दिशा में उदय लेती है और वहाँ से प्रच्युत नहीं होती । इस घटना की स्थिति प्रसिद्ध ज्योतिषी शंकरबालकृष्ण दीक्षित के गणनानुसार विक्रमपूर्व तीन हजार वर्ष में होना चाहिए । दीक्षित की इस गणना पर किसी यूरोपीय विद्वान् ने विशेष ध्यान नहीं दिया, परन्तु डा. विण्टरनित्स ने अपने इतिहास-ग्रन्थ में किसी जर्मन ज्योतिषी (प्रोफेसर ए. प्रे) के गणनानुसार इस ग्रहस्थिति को 1100 ई. पू. माना है । इस ज्योतिषी की व्याख्या है कि कृत्तिकार्य अपने उदय के बाद बहुत देर तक पूरब में दृष्टिगोचर होती थी और ऐसी दिशा 1100 ई. पू. में ही सिद्ध होती है । परन्तु ''इता: (कृतिका:) ह वै प्राच्ये दिशो न च्यवन्त्ते'' शब्द की यह नई व्याख्या मानने की कोई

आवश्यकता नहीं है । दूसरी व्युत्पत्ति यह है कि 'वेदांग ज्योतिष' सर्वसम्मति से शतपथ से अर्वाचीन रचना माना जाती है । इसका काल 1400 ई. पूर्व माना जाता है । डा. मैक्समूलर भी इसका समय 1181 ई. पू. से कथमपि पीछे मानने के पक्ष में नहीं हैं । यदि शतपथ का यह नया काल माना जायगा, तो 'वेदांग ज्योतिष' के समय से उसकी पूर्ववर्तिता भंग हो जायगी, जो कथमपि स्वीकार्य नहीं है । मैत्री-उपनिषद् में निर्दिष्ट ज्योतिष घटना के आध ार पर इसका समय 1900 ई. पू. से लेकर दो सहस्र ई. पू. है, तथा ब्राह्मण युग तीन सहस्र ई. पू. से लेकर दो सहस्र वर्ष ई. पू. तक मानना चाहिए । प्राचीनकाल होने से शतपथ इस काल के आदि में और अर्वाचीन होने से गोपथ इसके अन्त में आता है ।

भाषा तथा शैली

समस्त ब्राह्मण ग्रन्थ गद्य में ही निबद्ध किये गये हैं । ब्राह्मणों का गद्य बड़ा ही परिमार्जित, प्रसन्न तथा उदात्त है । दीर्घ समास का न तो कहीं दर्शन होता है और न अर्थ समझने में कहीं दुरूहता । भगवती भगीरथी के भव्य प्रवाह के समान यह गद्य अपने प्रवाह को लिए प्रवाहित होता है । भाषा मन्त्रों की भाषा के समान ही है परन्तु वह प्राचीन शब्दों तथा धातुओं से वञ्चित होकर नये शब्द तथा नये शब्दों को ग्रहण करने में पराङ्मुख नहीं होती । ब्राह्मणों की भाषा संहिताओं की भाषा तथा पाणिनि के द्वारा नियमित संस्कृत भाषा को मिलाने के वर्णन में नीरसता आने की सम्भावना कम नहीं है, तथापि यह गद्य लघुवाक्यों में विन्यस्त होने के कारण पर्याप्तरूपेण रोचक, आकर्षक तथा हृदयावार्जक हैं । आख्यायिका वाले अंश तो विशेष रूप से हृदयंगम हैं । एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा—

सत्यं वै चक्षु: सत्यं हि वै चक्षुस्तस्मात् यदिदानीहं द्वौ विवदमारनोवेयातम्— 'अहमदर्शम्' अहमश्रौषम् ' इति । य एव ब्रूयात् अहमदर्शमिति तस्मा एव श्रद्दध्याम्। तत् सत्येनैवैतत् समर्धयति ।। (शत. 1।3।2।23)

ब्राह्मणकालीन धर्म तथा समाज

ब्राह्मण-युग में यज्ञ का सम्पादन ही धर्म का मुख्य उद्देश्य था । सच तो यह है कि यज्ञ के सूक्ष्म अनुष्ठानों के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों में बडे; विस्तार से वर्णन मिलता है, तथा इन विधियों के पूर्ण निर्वाह के लिए विशेष आग्रह दीख पड़ता है । अग्नि की स्थापना कब करनी चाहिए ? कैसे करनी चाहिए? घी की आहुति वेदी में कहाँ गिरे? वेदि पर बिछाने के लिए दर्भ का अग्रभाग पूरब की ओर रहता है या उत्तर की ओर ? आदि का विवेचन इतनी सूक्ष्मता तथा विस्तार के साथ किया गया है कि इसे पढ़कर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता है । समस्त कर्मों में यज्ञ को श्रेष्ठतम माना जाता था—

''यज्ञो वै श्रेष्ठमं कर्म'' (शत. 1।7।3।5) ब्राह्मणों में यज्ञ की इतनी महिमा तथा आदर है कि विश्व का सबसे श्रेष्ठ देवता प्रजापति भी यज्ञ का ही रूप है—एष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यत् प्रजापति:'' (शत. 4।3।4।3) विष्णु का भी प्रतीक यही यज्ञ है—''यज्ञो वै विष्णु:''। आकाश में दीप्यमान भी आदित्य यज्ञ रूप है— ''स य: यज्ञोऽसौ आदित्य:'' (शत. ब्रा. 14।1।1।16)।

समस्त कर्मों में श्रेष्ठतम होने के कारण इस विश्व में यज्ञ ही परम आराध्य वस्तु है । जगत् के जितने पदार्थ हैं, यहाँ तक कि देवों का जनकरूप प्रजापति भी, यज्ञ के ही आध्यात्मिक प्रतीक हैं । यज्ञ से सृष्टि हुई, इस वैदिक तत्त्व का परिचय हमें पुरुष सूक्त में ही मिल जाता है, परन्तु ब्राह्मणयुग में यज्ञ की महनीयता तथा परम साधनरूपा होने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है । अग्निहोत्र के अनुष्ठान से प्राणी अपने सब पापों से छूट जाता है—''**सर्वस्मात्**

पाप्मनो निर्मुच्यते य एवं विद्वानग्नि- होत्रं जुहोति'' (शत. ब्रा. 2।3।1।6)। अश्वमेध से यज्ञ करने वाला समस्त पापों से छूट जता है : (गोपथ ब्रा. उत्तर 4।6) ।

NOTES

तद् यथाहिर्जीर्णायास्त्वचो निर्मुच्यते इषीका वा मुञ्जात् ।
एवं ह वै ते सर्वस्मात् पाप्मनः समुच्यन्ते ये शाकलां जु ह्वति ।।

इतना उपादेय होने के कारण ही यज्ञ के पूर्ण अनुष्ठान करने के लिए ब्राह्मणों का इतना आग्रहपूर्वक आदेश है।

संहिता काल के मुख्य देवता इस युग में कुछ गौण गये है, अथवा गौण देवताओं को यहाँ; मुख्यता प्राप्त हो गई है। कहीं नवीन देवता की भी कल्पना की गई मिलती है । ऋग्वेद के गौण देवताओं में प्रजापति अग्रगण्य है । ऐतरेयब्राह्मण के आरम्भ में ही विष्णु के परमदेव होने की सूचना है—''अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमः'' (ऐत. 1।1) । रुद्र के लिए 'महादेव' शब्द का प्रयोग ब्राह्मणों में स्पष्टतयाः उल्लिलिखित है । 'प्रजापति कापद तो देवों में अग्रस्थानीय । प्रजापति ही जगत के स्रष्टा हैं । प्रजापति देवताओं के भी सृष्टिकर्ता हैं । प्रजापति ही इस भूमि के पदार्थों के स्रष्टा हैं । वे ही देवताओं को उत्पन कर उनमें ऊर्जा का विभाग करते हैं। और इसी ऊर्ज-विभाग से उदुम्बर वृक्ष का जन्म हुआ, इसलिए 'प्रजापति' की महिमा ब्राह्मणों में सर्वतों महीयान् है ।

चतुर्वर्ण

ब्राह्मण-युगीय समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चारों वर्णों तथा इनके कार्यों की पूरी व्यवस्था एवं प्रतिष्ठा उपलब्ध होती है। वैदिक यज्ञ का सम्पादक तथा निर्वाहक होने के कारण ब्राह्मण अग्रतम था । ब्राह्मणों में वेदशास्त्र को पढ़ने वाला 'मनुष्येदेव' के महनीय अभिधान से मण्डित किया जाता था— (शत. ब्रा. 2।2।2।6)

ये ब्राह्मणः शुत्रुवांसोऽनूचनास्ते मनुष्यदेवः ।

विद्वांसो ही देवाः (शत. ब्रा. 3।7।3।10)

तैत्तिरीय-संहिता (1।7।3।1) में ब्राह्मण 'प्रत्यक्ष देव' कहा गया है—''एते देवाः प्रत्यक्षं ब्राह्मणाः ।'' शतपथ में दो प्रकार देवता माने गये हैं—अग्नि आदि हविभौजी देव तथा मनुष्य-देवच ब्राह्मण । दोनों कि लिए यज्ञ का दो विभाग किया गया है ।आहुति देवों के लिए और दक्षिणा मनुष्य-देवों के लिए होती है । जिनके द्वारा वे प्रसन्न होकर यजमान का कल्याण करते हैं (शत. ब्रा. 2।2।2।6) राजा अपने समग्र राज्य को दक्षिणा रूप मे दे सकता है, परन्तु ब्राह्मण की सम्पत्ति को छोड़ कर ही । अभिषेक के अवसर पर ब्राह्मण कहता है—हे मनुष्य , यह मनुष्य तुम्हारा राजा है । ब्राह्मणों का राजा सोम है । (सोमोऽस्यामं ब्राह्मणानां राजा) । शतपथ की व्याख्या के अनुसार इसका तात्पर्य यह है कि राज़ा के लिए समस्त प्रजा अन्न-स्थानीय है, परन्तु ब्राह्मण नहीं; क्योंकि वह तो भौतिक राजा की प्रजा ही नहीं होता । आदर्श है ब्रह्मवर्चसी होना, अर्थात् वेद के अध्ययन से तेजस्वी बनना और इसलिए ब्राह्मणों में वही सर्वश्रेष्ठ वीर्यवान् माना जाता है जो वेद का ज्ञाता होता :—

तदद्येव ब्राह्मणेनैष्टव्यं यद् ब्रह्मवर्चसी स्यादिति ।।

(शत. ब्रा. 1।9।3।16)

यो बै ब्राह्मणानामनूचानतमः स एषं वीर्यवत्तमः।।

(वही, 4।6।6।5)

ब्राह्मण का बल उसके मुख में—भाषण में, वाक् शक्ति में ही होता है, क्योंकि उसकी सृष्टि मुख से हुई है (ताण्ड्य ब्रा. 6।1।6)

तस्माद् ब्राह्मण मुखेन वीर्य करोति । मुखतो हि सृष्टिः ।

ऐसे अनूचान ब्राह्मण के वश में क्षत्रिय के रहने पर ही राष्ट्र का मंगल होता है । और राष्ट्र में वीर पैदा होते हैं—

''**तद् यत्र ब्राह्मणः क्षत्रं वशमेति तद् राष्ट्रं समृद्धं तद्वतीरवदाहास्मिन् वोरो जायते**'' (एते. ब्रा. 8।9)।

क्षत्रिय राष्ट्र का रक्षक तथा वैश्य उसका वर्धक माना जाता था । पैर से उत्पन्न होने के कारण शूद्र का सेवाध ार्म ही प्रधान धर्म था । इस प्रकार यज्ञप्रधान वैदिकसमाज में वेदज्ञ ब्राह्मणों की महती प्रतिष्ठा होना स्वाभाविक ही है ।

नैतिकता

यज्ञ का सम्पादन बाह्य आचार के होने पर भी अन्तर आचरण के ऊपर पूर्ण-तथा अवलम्बित था । जिन पाश्चात्य आलोचकों ने ब्राह्मणग्रन्थों में नैतिकता के अभाव की बात कही हैं उनके कथन कथमपि मान्य तथा प्रामणिक नहीं हैं । उस काल का समाज पूर्णरूपेण नैतिक था, आचारवान् तथा कल्याण के लिए सत्य के अनुष्ठान पर आग्रही था । दीक्षित को ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक व्यक्ति सारे सत्यभाषी होने चाहिए। झूठ बोलने वाला व्यक्ति यज्ञ के लिए उपयुक्त नहीं होता है । झूठ का बोलना जल से अग्नि का सेचन करना है, तथा सत्य बोलना अग्नि को घी से सेचन करना है । झूठ बोलने वाले का तेज धीरे-धीरे कम हो जाता है । वह नित्यपापी होता है, अत एव सत्य ही बोलना चाहिए । इस प्रकार सत्य पर आग्रह करनेवाले ब्राह्मण पर नैतिक हीनता का आरोप क्या कथमपि समुचित है ?

ब्राह्मणकालीन समाज पाप के आवर्तनशील स्वभाव से भली-भाँति परिचित था । वह जानता था कि जो मनुष्य एक बार पाप करता है वह अभ्यासवश उसके अनन्तर अन्य पाप का भी आचरण करता है, रुकता नहीं (ऐतरेय ब्रा. 7।27)

यः सकृत् पापकं कुर्यात् कुर्यादेनस्ततोऽपरम् ।

इसलिए पाप को रोककर पुण्य करने की आवश्यकता है । सत्य तथा श्रद्धा के आचरण से ही मनुष्य स्वर्गलोक को प्राप्त कर लेता है । वाग्देवी के दो स्तन हैं—सत्य और अनृत सत्य वाग्देव के पुत्रों के उपासकों की रक्षा करता है, परन्तु उन्हें अनृत मार डालता है—

''**वाचो वाव तौ स्तनौ सत्यानृते वाव ते । अवत्येनं सत्यं न**

तम- नृतं हिनस्ति य एव वेद'' (एत. ब्रा. 4।9)

ताण्ड्य ब्राह्मण में असत्य बोलना वाणी का छिद्र कहा गया है (''एताद्वाचश्छिद्रं सदनृतम्'' ताण्ड्य 8।6।12) । इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार छेद के भीतर से सब वस्तुयें गिर जाती हैं, उसी प्रकार अनृतभाषी की बाणी में से उसका सार गिर जाता है, अर्थात् वह सारहीन वाणी किस पर अपना प्रभाव नहीं जमा सकती । शतपथ ब्राह्मण (2।2।2।19) में सत्य तथा अनृत के रूप में निर्देश के लिए एक सुन्दर उपमा का प्रयोग किया है । सत्य बोलना क्या है? अग्नि का घृत से अभिषेक है, अर्थात् उद्दीप्त करना है । अनृत क्या है । जलते हुए अग्नि पर जल का

अभिषेक है । अनृतभाषी का तेज धीरे-धीरे कम हो जाता है और अन्तमें वह पापी बन जाता है । इसलिए सत्य ही बोलना चाहिए । ऐतरेयब्राह्मण में श्रद्धा तथा सत्य की मिथुन कल्पना बड़ी सुन्दर एवं रोचक है । ''श्रद्धा पत्नी है, सत्य पत्नी यजमान है । श्रद्धा तथा सत्य की जोड़ी बहुत ही उत्तम है । यजमान अपनी पत्नी के साथ मिलकर यज्ञ के द्वारा स्वर्ग पाने में समर्थ होता है उसी प्रकार सत्य श्रद्धा के साथ संयुक्त होकर स्वर्गलोकों को जीत लेता है।

श्रद्धा पत्नी सत्यं यजमान् श्रद्धा सत्यं तदित्युत्तमं. मिथुनम् ।

श्रद्धया सत्येन मिथुनेन स्वर्गाल्लोकान् जयतीति (ऐत. ब्रा. 7।10)।।

समाज में दान तथा आतिथ्य की प्रतिष्ठा थी । जो मनुष्य न देवों को, न पितरों और न अतिथियों को दान से तर्पण करता था, वह पुरुष 'अश्रद्धालु' कहलाता है । सायंकाल में आये हुए अतिथि का किसी प्रकार निराकरण नहीं करना चाहिए । जो पुरुष अतिथि की सेवा करता है वह मानो मोटा हो जाता है –प्रसन्न हो जाता है । उस समाज में आतिथ्य की बड़ी महिमा का पता इसी घटना से लग सकता है कि आतिथ्य यज्ञ का शिर माना जाता था । अतिथि की पूजा यज्ञ के मस्तक को पूजा मानी जाती थी (ऐत. 1।25)

शिरो वा एतद् यज्ञस्य यद् आतिथ्यम् ।।

नारी की महिमा

समाज में स्त्री का महत्वपूर्ण स्थान था । उचित भी ऐसा ही है । यज्ञ में पत्नी यजमान की सहधर्मवारिणी होती है । 'पत्नी' शब्द की व्युत्पत्ति भी तो इसी विशिष्टता की ओर संकेत कर रही है । पत्नी से विहीन पुरुष यज्ञ करने का कथमपि अधिकारी नहीं होता था ('अयज्ञे वा एषो योऽपत्नीक'' तै. ब्रा. 2।2।2।6) पत्नी शरीर का आधा भाग मानी जाती थी । (''अथा अर्घो वा एष आत्मनो यत् पत्नी'' तै. ब्रा. 3।3।3।5)। वेदि की रचना के प्रसंग में शतपथब्राह्मण स्त्री-सौन्दर्य के लिए एक महनीय आख्या की ओर संकेत करता है । स्थूल जंघा, कन्धों के बीच छाती का भाग जंघा की अपेक्षा कम स्थूल तथा हस्ताग्राह्य मध्यभाग स्त्री का शरीरिक सुषमा के श्लाघनीय प्रतीक थे (''एवमेव हि योषं प्रशंसन्ति पृथुश्रोणिविमृष्टान्तरांसा मध्ये संग्राह्येति'' शत. 1।2।5।16)। ऐसा रूप सुन्दर केशपाश तथा अन्य आभूषण से सुसज्जित होकर चमक उठता था । ऐसी ही सुन्दर स्त्री के साथ वैदिककालीन पुरुष विवाह-सम्बन्ध में दीक्षित होकर गुणवान् पुत्र की उत्पति को स्वर्ग का मुख्य साधन समझता था । ऐतरेय-ब्राह्मण में पुत्र की भव्य प्रशंसा समाज में वीर सन्तान के मूल्यांकन करने मे पर्याप्त मानी जा सकती है पितृलोग पुत्र के द्वारा ही अत्यन्त बहुल क्लेश को भी पार करने में समर्थ होते हैं । पुत्र आत्मा से जन्मने वाला स्वयं आत्मा ही होता है । वह अन्य से भरी नौका है जो इस संसृति-सरित् को पार करने में नितान्त समर्थ होती है । ''स वै लोकोऽवदावदः'' (पुत्र निन्दा के आयोग्य स्वर्गलोक का प्रतीक है), ''ज्योतिर्ह पुत्रः परमे व्योम्'' ''नापुत्रस्य लोकोस्तीति'' –आदि श्रुति-वाक्य पुत्र के सामाजिक मूल्य की कल्पना के कतिपय निदर्शन-मात्र हैं । पति के लिए पति-व्रत धर्म का पालन मंगलमय माना जाता था । समाज में किसी प्रकार के नैतिक स्खलन या शैथिल्य का चिह्न नहीं पाया जाता था । ऐसे नैतिक आदर्श पर चलने वाले ब्राह्मणकालीन समाज का अवलोकन कर कोई भी विद्वान् उसके ऊपर अनैतिकता का आरोप नहीं कर सकता ।

ब्राह्मण-साहित्य

ब्राह्मणों का साहित्य बड़ा ही विशाल था, परन्तु अनेक ब्राह्मण काल-कवलित हो गये हैं, केवल उसका नाम निर्देश तथा उदाहरण ही कतिपय श्रौत ग्रन्थों में उपलब्ध होता है । साहित्य में उद्धृत, परन्तु अनुपलब्ध, ब्राह्मणों में

से कतिपय महत्त्वशाली ग्रन्थों का नामोल्लेख यहाँ किया जा रहा है । डाक्टर वट कृष्ण घोष ने ऐसे अनुपलब्ध ब्राह्मणों के उपलभ्यमान उद्धरणों को एकत्र प्रकाशित करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है ।

1. शतपथ (2।5।2।20) के अनुसार जो स्त्री एक की होती हुई दूसरे के साथ संगति करती है वह वरुण-सम्बन्धी (वरुण्य = पाप) कार्य करती है- वरुण्यं वा एतत् गृह्णाति यः पाप्मना गृहीतो भवति (शत. 12।7।17)।

ऐसे ब्राह्मणों में (1) शाट्यायन-ब्राह्मण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है । इसके 70 उद्धरण आज भी उपलब्ध । हैं जिनमें अधिकांश ऋग्वेद के सायणभाष्य (1।105।10; 7।33।7; 8।91।5 आदि) तथा ताण्ड्य ब्राह्मण के सायणभाष्य (4।2।10; 4।3।2; 4।5।10; 4।6।23) में मिलते हैं । चार पाँच उद्धरण ब्रह्मसूत्र के शांकरभाष्य (3।3।25; 3।3।26; 4।1।16; 4।1।17) में मिलते हैं । इतने बहुल उद्धरण ग्रन्थ की महत्ता के पर्याप्त सूचक हैं । इसके अधिकांश उद्धरण जैमिनीय ब्राह्मण में भी अक्षरशः उपलब्ध होते हैं ।

(2) भाल्लवि-ब्राह्मण सामवेद की ही एक सुप्रसिद्ध शाखा का ब्राह्मण था, जिसका निर्देश श्रौत ग्रन्थों के अतिरिक्त पतञ्जलि ने महाभाष्य में (4।2।104) तथा काशिका ने (4।2।66, 4।3।105 सूत्रों पर) किया है । (3) जैमिनीय या तवलकार ब्राह्मण—सामवेद की जैमिनि शाखा से सम्बद्ध ब्राह्मण हैं जो बृहत् तथा महत्वपूर्ण होने पर भी पिछले ग्रंथों में उद्धृत् नहीं है । शाट्यायन के साथ इसकी समानता इतनी अधिक है कि उसकी प्रसिद्धि के सामने इसका उद्धरण आवश्यक नहीं माना गया । इन महत्त्वशाली ब्राह्मणों के अतिरिक्त इस श्रेणी के ग्रन्थ ये हैं:— (4) आह्वरक-ब्राह्मण (चरणव्यूह में निद्रिष्ट चरकशाखा से सम्बद्ध); (5) कंकति-ब्राह्मण; (6) कालवि-ब्राह्मण (पुष्पसूत्र में शाट्यायन ब्राह्मण के संग में निदिष्ट); (7) चरक-ब्राह्मण (कृष्णयजुः की प्रधान शाखा चाक से सम्बद्ध): (8) छागलेय- ब्राह्मण (तैत्तिरीय शाखा से सम्बृद्ध), (9) जाबालिब्राह्मण (10) पैंगायनि-ब्राह्मण, (11) माषशरावि-ब्राह्मण, (12) मैत्रायणीय ब्राह्मण (कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणीय शाखा से सम्बद्ध), (13) रौरुकि-ब्राह्मण; (14) शैलालि-ब्राह्मण (महाभाष्य 6।4।44 तथा काशिका में निदिष्ट), (15) श्वेताश्वतर-ब्राह्मण, (16) हारिद्रविक-ब्राह्मण (चरण-व्यूह में निदिष्ट यजुर्वेद की शाखा से सम्बद्ध)। इनके अतिरिक्त इन आठ ब्राह्मणों के नाम और भी मिलते हैं—काठक-ब्राह्मण, खाण्डिकेय-ब्राह्मण, गालब-ब्राह्मण, तुम्बरु ब्राह्मण, आरुणेय ब्राह्मण, सौलभ-ब्राह्मण, पाराशर-ब्राह्मण । उपलब्ध ब्राह्मणों की संख्या वेदानुसार इस प्रकार है—

ऋग्वेद—(1) ऐतयेब्राह्मण, (2) शांखायन-ब्राह्मण

शुक्लयजुर्वेद —(3) शतपथ-ब्राह्मण

कृष्णयजुर्वेद—(4) तैत्तिरीय-ब्राह्मण

सामवेद— (5) ताण्डय, (6) षड्विंश, (7) सामविधान, (8) आर्पेय, (9) दैवत, (10) उपनिषद्-ब्राह्मण, (11) संहितोपनिषद, (12) बंशब्राह्मण, (13) जैमिनीब्राह्मण (9 ब्राह्मण)।

अथर्व वेद—(14) गोपथ-ब्राह्मण ।

1. द्रष्टव्य भगवदत्त-वैदिक-वाङ्‌मय का इतिहास, नाम भाग द्वितीय, पृ 26-34 ।

वैदिक ग्रन्थों की सूची

वेद शाखा ब्राह्मण आरण्य उपनिषद्

ऋग्वेद 1-शाकल ऐतरेयब्राह्मण ऐतरेय आरण्य ऐतरेय उपनिषद् = (आरण्यक 2।4-6)

2-बाष्कल कौषिकि-ब्राह्मण (शांखायन-ब्राह्मण कहते हैं) शांखायन आरण्यक 1-कौषितकि उपनिषद् (आरण्यक 3-6) 2-बाष्कल मन्त्रोपनिषद्

सामवेद 1-कौथुम 1-पञ्चदिश = (प्रौढ़ = ताण्ड्य-महाब्राह्मण)

2-षड्विंश ब्राह्मण (अद्भुत ब्राह्मण अन्तिम प्रपाठक में है)

3-सामविधान ब्राह्मण

4-आर्षेय ब्राह्मण

5-मन्त्र (= उपनिषद्) ब्राह्मण छान्दोग्य उपनिषद् (ब्राह्मण के अन्तिम आठ प्रपाठक)

6. देवताध्याय-ब्राह्मण

7-वंश-ब्राह्मण

8-संहितोपनिषद् ब्राह्मण

वेद शाखा ब्राह्मण आरण्यक उपनिषद्

2-रामायणीय+ कतिपय सूत्रग्रंथों में ही रक्षित

3-जैमिनीय 1-जैमिनीय ब्राह्मण (आर्षेय) केनोपनिषत्

2-जैमिनीय तवल्कार-ब्राह्मण (= ब्राह्मण 4।18-21)

3-जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण

(छन्दोग्य ब्रा.)

कृष्णयजुर्वेद 1-तैत्तिरीय क-तैत्तिरीय संहिता (ब्राह्मण भाग) 1ख-तैत्तिरीय ब्राह्मण (संहिता भाग को छोड़कर) तैत्तिरीय आरण्यक 1-तैत्तिरीय उपनिषद् (= आरण्यक 7-9) 2-महानारायण उपनिषद् (= आरण्यक 10)

2-मैत्रायणी मैत्रायणी संहिता (ब्राह्मण भाग) मैत्रायणी उपनिषद् (= मैत्री उपनिषद्)

3-कठ काठक ब्राह्मण भाग कठोपनिषद्

4-कापिष्ठलकठ कापिष्ठल कठ-संहिता (ब्राह्मण भाग)

5. श्वेताश्वतर श्वेतारोपनिषद्

वेद शाखा ब्राह्मण आरण्यक उपनिषद्

शुक्लयजुर्वेद 1-काण्व शतपथ-ब्राह्मण बृहदराण्यक 1-ईशावास्योपनिषद् =

(= ब्राह्मणध का काण्ड 17) (संहित 40 अ0) 2-बृहदारण्यकोपनिषद् (= आरण्यक 3-8)

2-माध्यन्दिन शतपथ-ब्राह्मण बृहदारण्यक (=ब्राह्मण का काण्ड 14) 1-ईशावास्योपनिषद्= (संहिता 40 अ.)

2-बृहदारण्यकोपनिषद् (= आरण्यक 4-9)

अथर्ववेद 1-पैप्पलाद — प्रश्नोपनिषद्

2-शौनक गोपथ-ब्राह्मण — 1-मुण्डकोपनिषद्

2-माण्डूक्योपनिषद्

3-अनेक पिछले उपनिषद्

पूर्णतया उपलब्ध +अनुपलब्ध अंशत: उपलब्ध

वैदिक साहित्य

विशेष परिचय

ऐतरेय-ब्राह्मण—ऋग्वेदीय ब्राह्मणों में सर्वप्रथम ब्राह्मण हैं ऐतरेय ब्राह्मण । इसके रचयिता ऋषि महिदास ऐतरेय माने जाते हैं । इस नाम की व्युत्पत्ति के आधार पर सायणाचार्य ने अपने भाष्य के आरम्भ में एक कथानक दिया है । जिसके अनुसार ये किसी शूद्र इतरा के पुत्र थे,, परन्तु इसमें ऐतिहासिक तथ्य थोड़ा भी प्रतीत नहीं होता । अवेस्ता में ऋत्विज् अर्थ में व्यवहृद 'एथ्रेय' शब्द उपलब्ध होता है । विद्वानों का अनुमान है हकि 'ऐतरेय' शब्द भी इसी एन्थ्रेय से साम्य रखता है, तथा इसका भी अर्थ ऋत्विज् ही है ।

ऐतरेय की लेखनशैली विशुद्ध ब्राह्मणोचित है । संहिताकाल की भाषा से वह बहुत दूर नहीं है । इसकी रचना में एक प्रकार की एकता तथा समानता वर्तमान है जिससे इसमें किसी प्रकार के अवान्तर प्रक्षेप की कल्पना सर्वथा निराधार है। आश्वलायन के तर्पणविधि में किसी महैतरेय का भी नामोल्लेख पाया जाता है जिससे इस ग्रन्थ के किसी महान् तथा विशाल संस्करण की कल्पना की जा सकती है, परन्तु ऐसे ग्रन्थ की स्थिति आज भी नितान्त अभाव-रूप है । यदि इस नाम का कोई ब्राह्मण कभी होगा भी; तो आज वह नष्ट हो गया है ।

ऐतरेय-ब्राह्मण में चालीस अध्याय में कण्डिका की कल्पना है । इस प्रकार पूरे ऐतरेय में 40 अध्याय, 8 पंचिका तथा 285 कंडिकायें हैं । ऋग्वेद से सम्बद्ध यह ब्राह्मण यज्ञ में होतृ नामक ऋत्विज् के विशिष्ट कार्य-कलापों का विशेष विवरण प्रस्तुत करता है । प्रथम तथा द्वितीय पंचिका में 'अग्निष्टोम' समस्त सोमयागों की प्रकृति है । इसलिए इसका विशेष विवरण यहाँ प्रस्तुत किया गया है । तृतीय-चतुर्थ पंचिका में प्रात: सवन, माध्यन्दिन सवन तथा सायं सवन के समय प्रयुज्यमान शस्त्रों का वर्णन मिलता है । साथ ही अग्निष्टोम की विकृतियों— उक्थ्य, अतिरात्र तथा षोडशी नामक यागों— का भी संक्षिप्त विवेचन है । पंचम में द्वाद्रशाह यागों का तथा षष्ठ में कई सप्ताहों तक चलने वाले सोमयागों में होता तथा उसके सहायक ऋत्विजों के कार्यों का विवेचन पर्याप्त रूपेण किया गया है । सप्तह पंचिका का प्रधान विषय 'राजसूय' है तथा इसी प्रसंग में शुन:शेप का प्रख्यात आख्यान भी विस्तार के साथ दिया गया है । अष्टम पंचिका ऐतिहासिक दृष्टि से नितान्त महत्त्वशाली है, क्योंकि प्रथमत: इसमें 'इन्द्र महाभिषेक' का तथा तदनन्तर उसीं के आधार पर चक्रवर्ती नरेशों के महाभिषेक का बड़ा ही रोचक वर्णन प्रस्तुत किया गया है । अन्तिम अध्याय में पुरोजित के धार्मिक तथा राजनैतिक महत्त्व का प्रतिपादन नितान्त उपादेय है । इस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण सहयोग के नाना प्रकारों के स्वरूप तथा इतिहास बलताने में विशेष गौरव रखता है।

महत्त्व

धार्मिक दृष्टि से ऐतरेय की आलोचना हमें अनेक नवीन तथा प्रामाणिक तथ्यों का ज्ञान करती है । इसका अनुशीलन हमें बतलाता है कि इसके युग में किस प्रकार विष्णु की महिमा वैदिक समाज में विशेष स्थान कर रही थी । शुन:शेप ऋग्वेद के ऋषि हैं तथा प्रथम मण्डल के अनेक सूक्तों (24-27 तक) के द्रष्टा हैं । शुन:शेप का आख्यान बड़ा ही करुणोत्पादन होने साहित्यिक दृष्टि से भी पठनीय है । राजा हरिश्चन्द्र वरुण की दया से प्राप्त पुत्र को उन्हें बलि देना चाहता है । समर्थ होने पर वह पुत्र 'रोहित' जंगल में चला जाता है और पिता उदर-व्याधि का शिकार बन जाता है । समाचार पाकर रोहित जंगल से घर लौटता है । इन्द्र उसे लौटने से रोकता है । अन्ततोगत्वा रोहित घर लौट आता है, परन्तु अजीगर्त सौवयसि नामक ब्राह्मण से उसके मध्यम पुत्र पुन: शेप को गायों की दक्षिणा में देकर खरीद लाता है । वरुण के यज्ञ में पिता ही अपने पुत्र को बलि देने के लिए दक्षिणा लेकर तैयार हो जाता , परन्तु अनेक देवताओं की अभ्यार्थ के बल पर पुत्र प्राण बचा लेता है । विश्वामित्र उसे अपनापोष्य पुत्र बना लेते हैं। । उनके जिन पचास पुत्रों को यह घटना मान्य नहीं होती उन्हें पिता के अभिशाप से आर्य देश की प्रान्तभूमि में आन्ध्र, मूतिब, पुलिन्द आदि म्लेच्छ जाति के रूप में परिणत होना पड़ता है ।

ऐतरेय के ही कथनानुसार यह पूर्वोक्त आख्यान एक शत ऋचाओं के ऊपर आश्रित बतलाया गया है (ऋक्-शतगार्थ शौन:शेपमाख्यानम्) , परन्तु वस्तुत: ये ऋचाएं संख्या में 17 ही हैं; तथापि तीन ऋचाओं की कमी पर ध्यान न देकर पूरी संख्या एक शत बतलाई गई है । इस आख्यान को अनेक पश्चिमी वेदज्ञ वैदिक युग में मनुष्य के बलिदान का परिचायक प्रमाण मानते हैं । परन्तु भारतवर्ष के आर्य धर्म में मनुष्य के बलि देने का कहीं विधान नहीं है । शांखायन श्रौत सूत्र में पुरुषमेघ की राजसूर्य के समय योजना का वर्णन जो मिलता है वह वास्तव नहीं, प्रत्युत काल्पनिक तथा राजा के अभिषेक के समय इस आख्यान का पुरोहित द्वारा कथन एक आवश्यक तथ्य का संकेत कर रहा है । राजा को मनुष्य तथा देवता किसी को भी दी गई प्रतिज्ञा का निभाना आवश्यक धर्म है । हरिश्चन्द्र ने वरुण के सामने पुत्र के बलिदान की प्रतिज्ञा को निष्कृति के दान से निभा कर अपने सत्यसन्ध होने की बात स्पष्टत: प्रमाणित की । रोहित को घर लौटने से इंद्र ने रोक कर 'चरैवेति चरैवेति' की जो सुन्दर शिक्षा दी है, वह आर्य जाति के अभ्युदाय का संबल है । कर्म की दृढ़ उपासना ही आर्य संस्कृति का मेरुदण्ड है । आर्य-धर्म कर्मण्यता का पक्षपाती और अकर्मण्यता का प्रतिद्वन्द्वी है ।

यह आख्यान आर्यों के दक्षिण देशों में प्रसार के इतिहास तथा समय का पूर्ण साक्षी है । ऐतरेय के ही समय आर्य लोग अपनी अभ्यस्त सीमा के बाहरी प्रान्तों में जाकर निवास करने लगे थे । पौण्ड्र, आन्ध्र पुलिन्द्र, शबर तथा सूतिब आर्यों के सीमान्तर प्रदेश में निवास करने वाली ऐसी ही अनार्य जातियाँ है, जिनके साथ आर्यों का इस युग में सम्पर्क होता है । पौण्ड्र से बंगाल का संकेत जंगली जातियाँ है । मूतिब का ठीक पता नहीं चलता ।

ऐतरेय का भौगोलिक सम्बन्ध मध्यदेश से ही है, क्योंकि मध्यदेश का उल्लेख बड़े अभिमान के साथ किया गया है, और वह ध्रुव तथा प्रतिष्ठा माना गया है (ध्रुवायां मध्यमायां प्रतिष्ठायां दिशि—ऐत. परन्तु ऋग्वेद के समान इसका भी प्रचार आजकल महाराष्ट्र देश में ही है । इसीलिए 'ड' के स्थान पर 'ळ' का बहुल प्रयोग इस ब्राह्मण में मिलता है।

इसके ऊपर तीन व्याख्याओं का पता चलता है—(1) सायणकृत भाष्य, (2) षड्गुरु-शिष्य-रचित 'सुखप्रदा' नाम्नी लघुकाय व्याख्या (3) गोविन्द स्वामी की व्याख्या (अप्रकाशित) । इस व्याख्या-सम्पत्ति से भी इसकी महिमा का पता भली-शांखायन ब्राह्मण ।

ऋग्वेद का यह दूसरा ब्राह्मण 30 अध्यायों में विभक्त है; प्रत्येक अध्याय में खण्ड है जो 5 से लेकर 17 तक हैं । सम्पूर्ण खण्ड़ों के भीतर लम्बे-लम्बे गद्य हैं । तथा कौषीतकि का मत यथार्थ ठहराया गया है (द्रष्टव्य 8 ।9; 26 ।3) । कौषीतकि के मत का निर्देश अन्य स्थलों पर भी है (11 ।5; 25 ।15)।

विषय की दृष्टि से यह ऐतरेय का ही अनुगामी है, जिसके आरम्भिक तीस अध्यायों का विषय यहाँ प्राय: समानता के साथ दिया गया है । इसके अनुशीलन से अनेक महनीय बातों से परिचय मिलता है:—

(1) उदीच्य लोगों का संस्कृत ज्ञान प्रशंसनीय माना गया है । साथ ही देश में लौटने पर वे आदर तथा सत्कार के पात्र माने जाते थे (उदञ्च एव यन्ति वाचं शिक्षितुम्; यो वै तत आगच्छति तं शश्रूषन्ते—8 ।6), भाषाशास्त्र की दृष्टि से इस कथन का मूल्य बहुत ही अधिक है । पाणिनि भी उदीच्य थे, क्योंकि उनका जन्मस्थान शलातुर तक्षशिला के ही पास था। इस संकेत से पाणिनि का भाषाज्ञान विशेष श्लाघनीय प्रतीत होता है ।

(2) रुद्र की विशेष महिमा का वर्णन है । वह देवों में श्रेष्ठ तथा ज्येष्ठ माना गया है (रुद्रो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च दूर्वानाम् 25 ।13) 6 अ. में शिव के भव, शिव, पशुपति, उग्र, महादेव, रुद्र, ईशान तथा आशनि नाम दिया गये हैं, तथा उन नामों की उत्पत्ति रूप से बतलाई गई है, साथ ही उनके विशिष्ट व्रत का भी यहाँ निर्देश किया है ।

(3) सप्तम अध्याय में अग्नि बिल्कुल निम्नकोटि के तथा विष्णु उच्चकोटि के देवता माने गये हैं (अग्निरवरार्घ्यै: विष्णु पराध्य:) । यह युग की धार्मिक मान्यता थी जिसकी पुष्टि ऐतरेय ब्राह्मण से भी होती है । उस युग की उदात्त भावना का प्रतीक यज्ञ विष्णु का प्रतीक था (यज्ञो वै विष्णु:)।

(4) यज्ञ के हिंसित पशुओं के विषय में कहा गया है कि वे दूसरे लोक में जाकर यज्ञ करने वाले को खाते हैं जिससे स्पष्ट है कि पशु-याग तथा मांसभक्षण के प्रति लोगों में घृणा की भावना जाग रही थी और लोग उससे पराङ्मुख होने की चेष्टा करते थे । (अमुष्मिन् लोके पशवो मनुष्यानश्नन्ति—11 ।13) ।

(5) अध्याय 23 ।2 में शक्वरी (इन्द्र) के नाम की ऐतिहासिक निरुक्ति है । इन छन्दों के द्वारा इन्द्र वृत्र को मारने में समर्थ हुआ; यहीं तो शक्वरी का शक्वरीत्व है (इन्द्रो वृत्रमशकद् हन्तुमाभिस्तस्मात् शकर्यै: । महानाम्नी साम में शक्वरी ऋचायें हैं और यह मुख्यतया इन्द्र के प्रति कहा गया है ।

(6) गोत्र का प्रचलन तथा प्रभाव दृढ़ हो गया था, क्योंकि एक स्थान पर ब्राह्मण से कहा गया है कि वह अपने ही गोत्र वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के साथ निवास करें, अन्य गोत्रीय के साथ नहीं (ब्राह्मणे समानगोत्रे वसेत् यत् समाने गोत्रेऽन्नद्यं तस्योपापत्यै—25 ।15)।

यजुर्वेदीयब्राह्मण

शतपथ-ब्राह्मण

ब्राह्मण ग्रन्थों में सबसे अधिक महत्त्वशाली विपुलकाय तथा यागानुष्ठान का सर्वोत्तम प्रतिपादक ग्रन्थ यही शतपथ-ब्राह्मण है । शुक्लयजुर्वेद की अवशाखाओं— माध्यान्दिन तथा काण्व शाखाओं—में यह उपलब्ध होता है । विषय की एकता होने पर भी उसके वर्णक्रम तथा अध्यायों की संख्या में यहाँ अन्तर पड़ता है । माध्यन्दिन शतपथ में काण्डों की संख्या 14, अध्यायों की पूरी एक सौ, प्रपाठकों की 68, ब्राह्मणों की 438 तथा कण्डिकाओं की 7624 है । काण्व शतपथ में प्रपाठक नामक उपखण्ड का अभाव है, तथा काण्डों की संख़्या 17, अध्यायों की 104, ब्राह्मणों की 434 तथा कण्डिकाओं की 6806 है । माध्यन्दिन शतपथ में प्रथम काण्ड से आरम्भ कर नवन ?म

काण्ड तक पिण्डपितृयज्ञ को छोड़कर विषय का क्रम माध्यन्दिन-संहिता के अनुसार ही है । पिण्डपितृ यज्ञ का वर्णन संहिता में दर्शपौणमासके अनन्तर है, परन्तु ब्राह्मण में आधान के अनन्तर है; यही प्रन्तर है । अवशिष्ट काण्डों में भी संहिता का ही क्रम अङ्गीकृत किया गया है । दोनों शतपथों के आरम्भ में ही एक अन्तर दृष्टिगोचर होता है । माध्यन्दिन शतपथ के प्रथम काण्ड का विषय (दर्शपूर्णमासेष्टि) काण्ड के द्वितीय काण्ड में है और द्वितीय काण्ड का विषय (आधान, अग्निहोत्र आदि) कण्व के प्रथम काण्ड में ही समाविष्ट है । अन्यत्र विषय उतने ही है, परन्तु उनका क्रम दोनों में भिन्न-भिन्न है ।

माध्यन्दिन शतपथ के प्रथम काण्ड में दर्शपूर्णमास इष्टियों का तथा द्वितीय काण्ड में आधान, अग्निहोत्र, पिण्डपितृयज्ञ, आग्रायण और चातुर्मास्य का व्रर्णन है । सोमयाग के नाना यागों के विवरण से सम्बद्ध तृतीय तथा चतुर्थ काण्ड हैं । पञ्चम कांड में वाजपेय याग तथा राजसूय याग का विवेचन है । 6 काण्ड से लेकर 10 काण्ड तक उषासम्भरण, विष्णुक्रम, वनीवाहनकर्म (6 काण्ड), चयन का सम्पूर्ण वर्णन (7 तथा 8 कांड), शतरुद्रिय होम (9 कांड) तथा चित्तिसम्पत्ति तथा उपनिषद् रूप से अग्नि की उपासना आदि का वर्णन (10 काण्ड) किया गया है। प्रथम कांड-पञ्चक में याज्ञवल्क्य का—जो चतुर्दश कांड में समस्त शतपथ के कर्ता माने गये हैं—प्रामाण्य सर्वातिशायी है, परन्तु द्वितीय काण्ड-पञ्चक (6 काण्ड—10 कांड) में याज्ञवल्क्य का नामनिर्देश न होकर शाण्डिल्य ऋषि का ही प्रामाण्य निर्दिष्ट है । ये ही शाण्डिल्य दशम कांड में वर्णित 'अग्निरहस्य' के प्रवक्ता बतलाये गये हैं । अन्तिम कांडचतुष्टय (11कांड-14कांड) में अनेक नवीन विषयों का विवेचन उपलब्ध होता है, जो साधारण रीति से ब्राह्मणों में विवेचित तथा संकेतित नहीं होते । ऐसे विषयों में से कतिपय महत्त्वशाली विषय ये हैं—उपनयन (11।5।4), स्वाध्याय—जो ब्रह्मयज्ञ के रूप में स्वीकृत किया गया है (11।5।5-8), और्ध्वदैहिक क्रियाओं का अनुष्ठान (13।8), अश्वमेध, पुरुषमेध तथा सर्वमेध का विशद विवेचन 13वें कांड में तथा प्रवर्ग्य याग का वर्णन 14वें कांड में किया गया है । शतपथ के अन्त में बृहदारण्यक उपनिषद् है, जिसका विषय विवेचना अगले परिच्छेद में उपनिषदों के प्रसङ्ग में किया जायेगा ।

शतपथ ब्रह्मण का विषय विवेचन

शतपथ-ब्राह्मण की महत्ता इस घटना से है कि विभिन्न प्रकार यज्ञयागों का बड़ा सांगोपांग तथा पूर्ण विवरण करता है, जो अन्य ब्राह्मणों में दुर्लभ है, अथवा मात्रा में बहुत ही न्यून है । यज्ञ का आरम्भ वैदिक युग के आरम्भ काल से है पहले यज्ञ का विधान संक्षेप में ही होता था, परन्तु कालान्त में यह यज्ञ-संस्था बहुत ही विस्तृत बन गई । यज्ञ के विभिन्न अंशों के यथावत् अनुष्ठान पर विशेष महत्त्व दिया जाने लगा। ब्राह्मण साहित्य का भी अपने वर्ण्य विषयों के विस्तार, विचार तथा विवरण शतपथ-ब्राह्मण मुकुट-मणि माना जाता है ।

शतपथ-ब्राह्मण शुक्ल यजुर्वेद से (अर्थात् वाजसनेय संहिता से) है । इसलिए संहिता में निर्दिष्ट और याग उसी क्रम से यहाँ भी उल्लिखित है । शत-पथ के प्रथम नौ काण्डों में वाजसनेय संहिता प्रथम अध्यायों की क्रमबद्ध व्याख्या है, जिसमें ब्राह्मणोचित आख्यायिकाओं का भी यथास्थान निवेश यज्ञ के शुष्क वर्णनों को सजीव तथा रोचक बना देता है । इष्टियों में दर्शपूर्णमास प्रधान तथा प्रकृति माने जाते हैं। दर्श इष्टि, प्रत्येक अमावस्या के अनन्तर प्रतिपदा में सम्पन्न होती है और पूर्णमास इष्टि पूर्णिमा के दूसरे दिन होने वाली प्रतिपदा में । इनके प्राधान्य के कारण इनका साङ्गोपाङ्ग विवरण शतपथ के प्रथम काण्ड में दिया गया है । इन इष्टियों के उपयुक्त मन्त्रों का निर्देश संहिता के प्रथम अध्याय की पञ्चम कण्डिका से लेकर द्वितीय अध्याय की 28वीं कण्डिका तक किया गया है । द्वितीय काण्ड में अग्निहोत्र का वर्णन प्रथमत: है । प्रत्येक आर्यगृहस्थ के लिए अग्नि का आधान करके उसमें प्रात: और सायं हवन करने की विधि है। इसी का नाम 'अग्निहोत्र' है । 'पिण्डपितृ-यज्ञ' पितरों की तृप्ति के उद्देश्य से किया जाता है । 'चातुर्मास्य' भी एक विशिष्ट याग है । पूर्वोक्त चारों यागों का विवरण शतपथ के द्वितीय काण्ड में प्रस्तुत मिलता है ।

तृतीय और चतुर्थ काण्ड का विषय सोमयाग है । सोमयाग में सोमलता को कूटकर उसका रस निकालते हैं और उसमे गाय का दूध तथा मधु मिलाकर उंचित समय पर देवता के निमित्त आग में हवन करते हैं । सोमयाग का प्रकृतिभूत याग 'अग्निष्टोम' कहलाता है जिसके उपयोगी मन्त्रों का सङ्कलन वाजसनेय संहिता के चौथे अध्याय से आरम्भ कर 8 वें अध्याय की 32वीं कण्डिका तक किया गया । प्रकृतियाग होने के कारण 'अग्निष्टोम' का वर्णन तृतीय काण्ड में तथा इसकी विकृति होने वाले ज्योतिष्टोम आदि इतर सोमयागों का वर्णन चतुर्थ काण्ड में दिया गया है । पञ्चम काण्ड में वाजपेय तथा राजसूय का विस्तृत विवरण है । राजसूय एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण याग है जिसका मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय नरेश ही अधिकारी होता है । अभिषेक प्राचीन भारत सूर्य जैसे लम्बे याज्ञिक अनुष्ठान का सम्पादक होता था । षष्ठ काण्ड में शाण्डिल्य का प्रामाण्य विशेष रूप से स्वीकृत है और उनकी सम्मति बड़े आदर के साथ उद्धृत की गई है । इन शाण्डिल्य काण्ड़ों में गान्धर, केकय और शाल्व जनपदों का उल्लेख किया गया है, जब कि इतर काण्डों में गान्धार विवरण है । इन काण्डों में शाण्डिल्य का प्रामाण्य विशेष रूप से स्वीकृत है और उनकी सम्मति बड़े आदर के साथ उद्धृत की गई है । इन शाण्डिल्य काण्डों में गान्धार, केकय और शाल्व जनपदों का उल्लेख किया गया है, जब कि इतर काण्डों में आर्यावर्त के मध्यभाग के निवासी अथवा पूरब के निवासियों--शाण्डिल्य का सम्बन्ध उत्तर-पश्चिम के प्रान्तों से था और इसलिए उनके निर्देश के सङ्ग में इन जनपदों का उल्लेख स्वाभाविक प्रतीत होता है । आर्य निवासी के तीनों खण्डों में उस समय पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध का अभाव नहीं था । ये तीन प्रान्त थे--(क) गान्धार पञ्जाब, (ख) कुरु-पाञ्चाल और मध्यदेश, (ग) पूरबी भाग, विदेश और कोशल । ब्राह्मणों में व्याकरण का स्पष्ट वर्णन है कि व्याकरण का अध्याय उत्तरी भाग में विशेष रूप से किया जाता था और कर्मकाण्ड का मध्यदेश में वैयाकरण पाणिनि का जन्मस्थान गान्धार प्रान्त के शलातुर नामक स्थान में था, तथा कुरुपाञ्चाल आर्यसंस्कृति के विकास का क्षेत्र था-- इन बातों की सङ्गति पूर्णरूप से जमती है । फलत: शाण्डिल्य के प्रामाण्य का उल्लेख होने पर भी हमें इन काण्डों की रचना का श्रेय याज्ञवल्क्य को ही देना उचित प्रतीत होता है ।

शपतथ-ब्राह्मण के अन्तिम चार काण्डों की विषय-योजना, मूल संहिता के आधार पर है । 11 वें काण्ड में पशुबन्ध, पञ्चमहायज्ञ तथा देश-पूर्णमास के अवशिष्ट विधानों का वर्णन है । भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ और ब्राह्म यज्ञ --ये प्रख्यात यज्ञ 'महायज्ञ' के रूप में यहाँ अंकित हैं (11 ।5 ।6) । स्वाध्याय वेद का अध्ययन-ब्राह्मयज्ञ का ही रूपान्तर है जिसकी यहाँ (11 ।5 ।7) भूयसी प्रशंसा बड़ी ही आलङ्कारिक शैली में की गई है । 'ऋक् का अध्ययन देवों के लिए पय आहुति है, यजुष् का आज्यहुति, साम को सोमाहति, अथर्वाङ्गिरस का मेद-आहुति तथा अनुशासन (वेदाङ्ग)' विद्या वाक्योवाक्य, इतिहास-पुराण और नाराशंसी गाथाओं का अध्ययन देवों के लिए मधु की आहुति है' और इसलिए शतपथ का वेद तथा वेदाङ्ग के अनुशीलन के लिए बड़ा ही बलवान् आग्रह है । अनेक प्रमाणों से 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य:' का समर्थन इस काण्ड का महिमामय सिद्धान्त है । द्वादश काण्ड में द्वादश-सत्र, संवत्सरसत्र, सौत्रामणी और और्ध्वदेहिक अनुष्ठान का विस्तृत वर्णन है । जो यज्ञ आरम्भ के दिन से लेकर लगातार बारह दिनों तक चलते हैं, उन्हें 'क्रत' कहते हैं । बारह दिनों से अधिक दिनों (6 मास या कई सालों) तक चलने वाले यज्ञों को 'सत्र' कहते हैं। द्वादशाह दोनों प्रकार का होता है--सत्र और अहीन । द्वादशसत्र और संवत्सरसत्र (वर्ष भर तक चलने वाला यज्ञ) के अनन्तर सौत्रामणी नाम प्रख्यात याग का विवरण कुछ विस्तार के साथ किया गया है । (12 ।7 ।1) । इस याग के आध्यात्मिक रूप का भी विवेचन बड़ा मार्मिक है (12 ।9 ।1) ।

13 वें काण्ड में अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध तथा पितृमेध का विवरण है । मूर्धाभिषिक्त राजन्य को ही 'अश्वमेध' करने का अधिकार था । अनेक दिनों में व्याप्त होने वाला याज्ञिक विधान था, जिसमें यज्ञीय अश्व के हवन का विध ाान है । यज्ञ के प्रसङ्ग में हम आगे चल कर इन यज्ञों का विशिष्ट विवरण प्रस्तुत करेंगे । 14वें काण्ड में 'प्रवर्ग्य' का वर्णन है । अन्ति पाँच अध्यायों में (चौथे अध्याय से लेकर 9वें अध्याय तक) बृहदारण्यक उपनिषद् निबद्ध है

जिसका वर्णन उपनिषदों के प्रसङ्ग में यथास्थान किया जायगा । इस प्रकार यज्ञ के नाना प्रकारों का विस्तृत , प्राञ्चल तथा प्रामणिक विवरण देने में शतपथब्राह्मण अद्वितीय है; इस कथन में कथमपि विप्रतिपत्ति नहीं है।

यज्ञों का आध्यात्मिक महत्त्व—यज्ञ कर्म के भीतर नाना कर्मों का अनुष्ठान पाया जाता और वह भी एक विशिष्ट क्रम से सम्पन्न होता है। यह क्रम भी सयुक्तिक है । शतपथ-ब्राह्मण में इस क्रम के प्रत्येक पदार्थ की उपयोगिता सिद्ध करने के लिए बड़ी ही उदात्त और प्राञ्चल व्याख्या की गई है । तथ्य यह है कि भौतिक याग एक प्रतीकात्मक व्यापार है । अन्तर्याग में पूर्ण सामञ्जस्य और आनुरूप्य है । अग्नि-समिन्धन होने पर दो आहुतियाँ कहलाती प्रथमत: दी जाती है—मन के लिए पहिली आहुति पूर्वाधार आहुति कहलाती है । और वाक् के लिए दूसरी आहुति 'उत्तराध ाार आहुति' । भौतिक रथ को ले चलने के लिए जैसे दो अश्वों को आवश्यकता होती है उसी प्रकार यज्ञचक्र को खींचने के लिए मन और वाक् आवश्यकता होती है । मन किसी वस्तु का प्रथमत: संकल्प करता है, तब वाक् वचन-व्यापार के द्वारा उसका प्रतिपादन करती है । मन वाक् बिना संयोग हुए किसी भी कर्म का, विशेष: यज्ञ जैसे अध्यात्म कर्म का, अर्थ यथार्थ सम्पादन असम्भव है । इसी दृष्टि से दोनों आहुतियों की निष्पत्ति क्रमश: स्रुव और स्रुक् नामक पात्रों के द्वारा की जाती है । इस विश्व के भीतर दो प्रधान तत्त्व हैं-अग्नि और सोम (अग्निषोमात्मकं जगत्)। अग्नि है अन्नाद (= अन्न का भक्षरणा करने वाला, पुरुष तत्त्व) तथा सोम है अन्न (उपभोग्य तत्त्व, स्त्री तत्त्व)। इस तत्त्वों का यथार्थ मिलन और सामञ्जस्य होने पर ही विश्व का कल्याण सम्पन्न होता है । अग्नि में सोमरस की आहुति देने का यही अभिप्राय है कि अन्नाद तथा अन्न के परस्पर सम्बन्ध से जगन्मंगलसाधिका सामग्री प्रस्तुत होती है । उपनिषदों में यही तत्त्व रयि और प्राण के नाम से उल्लिखित है । यज्ञ की प्रत्येक छोटी क्रिया का भी स्वरस्य इस मूलतथ्व की पीठिका में पूर्णतया अभिव्यक्त करने का श्रेय शतपथब्राह्मण को है । पूर्वाधार की आहुति बैठे ही दी जाती है । तथा उत्तराधार की आहुति खड़े-खड़े दी जाती है । इस प्रक्रिया के भीतर विद्यामान तत्त्व का स्पष्टीकरण शतपथ में बड़े विस्तार के साथ किया गया है (1।4।5)। सच तो यह है कि यज्ञ का विधान साधारण दृष्टि से निर्जीव, आडम्बी-सा प्रतीत होता है, परन्तु शतपथ की व्याख्या के अनुशीलता से उसके अन्तर्निहित तत्त्वों का उन्मीलन तथा उदात्तरूप ज्ञात होता है ।

शतपथ ब्रह्मण की प्राचीनता

शतपथ-ब्राह्मण आजकल उपलब्ध ब्राह्मणों में प्राचीनतम माना जाता है । भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्तकौमुदी में निर्दिष्ट एक उल्लेख से वह प्राचीन न होकर नवीन ब्राह्मण प्रतीत होता है । इस तथ्य का कारण क्या ? अष्टाध्यायी में 'पुराणप्रात्केषु ब्राह्मण- कल्पेषु' (4।3।105) सूत्र के द्वारा प्रोक्त अर्थ में 'णिन्' प्रत्यय का विधान किया गया है यदि वह ब्राह्मण या कल्प चिरन्तन ऋषि के द्वारा प्रोक्त हो । उदाहरण इस सूत्र का है—भल्लबिन: तथा शाट्यानिन अर्थात् इन उदाहरणों के अनुसार भल्लु ऋषि एवं शाठ्यणानि है,' अर्थात् याज्ञवल्क्य के द्वारा प्रोक्त ब्राह्मण प्राचीन है । 'याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानि हैं,' अर्थात् याज्ञक्ल्क्य के द्वारा प्रोक्त ब्राह्मण में णिन् प्रत्यय का इसीलिए निषेध है कि वे अर्वाचीन काल के ऋषि थे, भल्लु तथा शट्ययायन के समान याज्ञवल्क्य प्राचीन नहीं थे भट्टोजिदीक्षित का यह मत प्राचीन वैयाकरण के मत से नितान्त विरुद्ध होने के कारण उपेक्षणीय है । उन्होंने वररुचि के वार्तिक 'याज्ञवल्क्यादिभ्य: प्रतिषेध:, तुल्यकालत्वात्' की बिल्कुल उपेक्षा कर दी है । यह वार्तिक स्पष्टत: याज्ञवल्क्य की पूर्व निर्दिष्ट ऋषियों का 'तुल्य काल' अर्थात् समकालीन मानता है । पातञ्जलि ने महाभाष्य में इस वार्तिक को स्वीकार किया है । इस विषय की मीमांसा हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाती है । कि वैयाकरणों की दृष्टि में भाल्लवि-ब्राह्मण तथा शाट्यायन-ब्राह्मण, जो आज उपलब्ध नहीं हैं, नि:सन्देह प्राचीनतम थे, तथा याज्ञवल्कय के द्वारा प्रोक्त शतपथ ब्राह्मण भी इसी काल से सम्बद्ध ग्रन्थ था । भट्टोजिदीक्षित के द्वारा इसे अर्वाचीन मानना । कथमपि न्याय नहीं है ।

नागोजिभट्ट ने 'लघुशब्देन्दुशेखर' में याज्ञवल्क्य को अर्वाचीन मानना दीक्षिजती का अभिमान बतलाया है । अत: दीक्षित-पूर्व तथा दीक्षित-प्रश्चाद् उभयविध वैयाकरणों के द्वारा शतपथ-ब्राह्मण की प्राचीनता अक्षुण्ण ही सिद्ध होती है।

भाषाशास्त्र की दृष्टि से पश्चिमी विद्वानों में शतपथ के समय के विषय में दो मत दृष्टिगोचर होते हैं । डा. वाकरनागेल और तैत्तिरीय-ब्राह्मण को प्राचीनता ब्राह्मणों के अन्तर्गत मानते हैं, ऐतरेय और शतपथ को अर्वाचीन ब्राह्मण स्वीकार करते हैं । इसी मत के समान ही मत है डा. ओल्डनवर्ग का, जिन्होंने संस्कृत गद्य के इतिहास-प्रतिपादक अपने ग्रन्थ में प्राचीन गद्य के उदाहरण तैत्तिरीय संहिता से और अर्वाचीन गद्य का नमूना शतपथ-ब्राह्मण से दिया है । डा. कीथ इन मतों कि विपरीत मत रखते हैं । उनकी दृष्टि में अन्य ब्राह्मणों की अपेक्षा शतपथ प्राचीनतर है । उनकी दृष्टि में अन्य ब्राह्मणों की अपेक्षा शतपथ की प्राचीनता है । यही मत युक्तियुक्त प्रतीत होता है । शतपथ स्वरांकित रूप में उपलब्ध है और तैत्तिरीय-ब्राह्मण को छोड़कर अन्य कोई भी ब्राह्मण स्वरांकित नहीं है । शतपथ की प्राचीनता का यह स्पष्ट सूचक है । इसकी स्वरांकन-पद्धति सामान्य वैदिक पद्धति से भिन्न है, परन्तु इसका कोई महत्व नहीं । वाजसनेयी संहिता की भी तो स्वरांकन पद्धति अन्य वेदों की पद्धति से भिन्न है । इसी कारण यहाँ भी भिन्नता सम्भाव्य है । शतपथ का उच्चारण वाजसनेयी संहिता के अनुरूप है—यकार का उच्चारण होता है जाकर, षकार का, खकार, अनुस्वार मा 'गुँ' पद के आदि में बकार का द्वित्व वकार (व्व), ऊष्म और ऋकार से संयुक्त रेफ का 'रे' (यथा 'सहस्रशीर्ष' का सहस्रशीरेखा उच्चारण होता है) तथा ऊष्मयुक्त लकार का उच्चारण 'ले' होता है । यह उच्चारण-पद्धति माध्यान्दिन शाखा की अपनी विशिष्टता है और तदन्तर्भुक्त होने के कारण शतपथ में भी इसका होना नितान्त स्वभाविक है ।

शतपथ ब्रह्मण का वैशिष्ट्य

शतपथ-ब्राह्मण ब्राह्मण-गन्थों में अनेक दृष्टियों से महत्त्वशाली है । जैसे ऊपर वर्णित है—इसमें यज्ञ-विद्या अपने पूर्ण वैभव के साथ आलोचकों के सामने उपस्थित होती है । यज्ञीय अनुष्ठान के छोटे से छोटे विधि-विधानों का विशद वर्णन, इन क्रियाओं के लिए हेतु का निर्देश, प्राचीन आख्यानों का सरल विवेचन—इस ब्राह्मण के उत्कर्ष बतलाने के लिए पर्याप्त कारण माने जा सकते हैं।, परन्तु इतना ही नहीं; यज्ञ के आध्यात्मिक रहस्य का पूर्ण संकेत भी इस ब्राह्मण में पाया जाता है । मण्डल-ब्राह्मण (दशम मण्डल) सूर्य के आध्यात्मिक रूप को दिखलाने में जितना समर्थ है , उतना ही समर्थ वह भी भाग है जिसमें यज्ञ के अवान्तर अनुष्ठान कहीं प्रजापति और कहीं विष्णु के प्रतीक रूप में उल्लिखित किये गये हैं । प्राचीन आख्यानों में मनु की कथा बड़ी मार्मिक तथा सरस है । पुराणों में उल्लिखित मत्स्यावतार का बीज इसी कथा में है (शतपथ. 1।8।1)। जिससे पता चलता है कि किस प्रकार जल के ओघ (बाढ़) से मनु के उस अपूर्व मत्स्य की सहायता के बल पर मानवी सृष्टि की रक्षा की, मानवों के नष्ट हो जाने पर संचित बीजों के द्वारा से मानव का पुन: प्रादुर्भाव इस भूतल पर हुआ आदि । यह घटना हिमालय के ऊपर घटित हुई थी और मनु के नाव बाँधने का स्थान 'मनोरवंसर्पण' के नाम से विख्यात था । इस प्रकार प्रलयकारी जलोघ की कथा पुरानी बाइबिल में हिब्रू लोगों के बीच भी पायी जाती है । यही कथा शतपथ-ब्राह्मण से ली गई है, अथवा स्वतन्त्र रूप से पश्चिम देश में आविर्भूत हुई ? यह निर्णय करना प्रमाणों के अभाव में नितान्त कठिन है ।

आर्यावर्त में आर्यों के प्रसार के वृत्तज्ञान के निमित्त शतपथ महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना का वर्णन करता है । इसके प्रथम काण्ड (अध्याय 4, ब्रा. 1. कण्डिका 10-17) में माथव विदेघ तथा उनके पुरोहित गौतम राहूगण ऋषि की बड़ी ही रोचक आख्यायिका दी गई है जिसके अनुसार विदेघ मराथव सरस्वती के तट पर थे । वहाँ से अग्नि वैश्वानर सब स्थानों को जलाता हुआ पूर्व की ओर उत्तरगिरि (हिमालय) से बहने वाली 'सदानीरा' नदी तक गया

और वहीं रह गया । राजा और पुरारेजि अग्नि के पीछे-पीछे गए और अपने निवास स्थान की आज्ञा दी । इस कथा में वैदिक धर्म के सारस्वत-मण्डल से पूरब की ओर प्रसार का संकेत हैं । यहाँ सदानीरा से पूरब का प्रान्त प्राचीन काल में ब्राह्मणों के निवास के लिए अयोग्य बतलाया है । इस घटना के अनन्तर ही वह आर्य-प्रदेश बना तथा ब्राह्मण वहाँ निवास करने लगे । सदानीरा के पार्श्वस्था भूखण्ड— मिथिला मुनि थे । अनेक प्राचीन राजाओं का भी उल्लेख है, जिनके प्रधान उपदेष्टा याज्ञवल्क्य मुनि थे । अनेक प्राचीन राजाओं का भी उल्लेख अश्वमेध के प्रसंग में यहाँ किया गया है । दुष्यन्त भारत अश्वमेघ के कर्त्ता रूप में उल्लिखत किये गये हैं । (शत: 1।5।4) । महाराज जन्मेजय का भी वहाँ निर्वेश है । स्मरण रखना चाहिए । कि मिथिला के राजाओं की उपाधिर ही 'जनक' थी । अत: शतपथ में उल्लिखित जनक को सीता का जनक बतलाना एकदम निराधार तथा प्रमाणरहित है । शतपथ में याज्ञवल्क्य के गुरु उद्दालक आरुणि का व्यक्तित्व और पाण्डित्य बड़ा ही आकर्षक है । अनेक शिष्यों की सत्ता उनके व्यक्तित्व को स्पशष्ट बना रही है ।

तैत्तिरीय ब्राह्मण

तैत्तिरीय-ब्राह्मण कृष्ण यजुर्वेदीय शाखा का एकमात्र उपलब्ध ब्राह्मण है । काठक- ब्राह्मण का नाम ही सुना जाता है । अभी तक उसकी उपलब्धि नहीं हुई है । तैत्तिरीय ब्राह्मण का पाठ स्वरों से युक्त मिलता है, जिस प्रकार शतपथ-ब्राह्मण का । फलत: यह नितान्त प्राचीन होता है । परिमाण में भी यह न्यून नहीं है । यह तीन भागों में विभक्ति है, जिन्हें 'काण्ड' कहते हैं । पीछे ये ऋग्वेदीय विभाग के समान 'अष्टम' के नाम से भी प्रसिद्ध हुई । प्रथम तथा द्वितीय काण्ड में आठ अध्याय (मूल नाम प्रपाठक) हैं, तथा तृतीय काण्ड में 12 अध्याय जिनके खण्ड 'अनुवाक' के नाम से प्रसिद्ध हैं ।

तैत्तिरीय का वर्णन है । द्वितीय काण्ड में अग्निहोत्र, उपहोम, सौत्रामणि (जिसमें सोम के स्थान पर सुरा के पाप का विधान है) तथा बृहस्पतिसत्र, वैश्यसत्र आदि नाना सत्रों का विवरण दिया गया है । प्रत्येक अनुष्ठान के उपयोगी ऋग्-मन्त्रों भी सर्वत्र निर्देश है । इनमें से अनेक ऋचायें ऋग्वेद से उद्धृत हैं, तथा अनेक नवीन प्रतीत होती हैं । नासदीय सूक्त (ऋ. 10।129) के मन्त्रों का विनियोग एक सामान्य उपहोम (काण्ड 2, प्रपाठक 8) के निमित्त है । इस काण्ड में अनेक मन्त्रों में ऋग्वेद के प्रश्नों का भी उत्तर मिलता है । उदाहरणार्थ ऋ. 10।81।4 में उस वन तथा वृक्ष का नाम पूछा गया है जिससे द्यावापृथिवी का निर्माण किया गया है । इस ब्राह्मण में उत्तर दिया गया कि वन तथा वृक्ष 'ब्रह्म' ही है । फलत: उपनिषदों के ब्रह्मतत्त्व का संकेत यहाँ विशद तथा अवस्मिरणीय शब्दों में किया गया है, परन्तु यज्ञ की भावना से यह सर्वत्र ओतप्रोत है । इसीलिए यज्ञ की वेदि ही पृथ्वी का परम अन्त तथा मध्य मानी गई है—'वेदिमाहु: परमन्तं पृथिव्या:, वेदिमाहुर्भुवनस्य नाभिम्'' (तै. ब्रा. 2।7।4-10) ।

तृतीय काण्ड अवान्तरकालीन रचना माना जाता है जिसमें प्रथमत: 'नक्षत्रेष्टि' का विस्तृत वर्णन है । चतुर्थ प्रपाठक में पुरुषमेध के उपयुक्त पशुओं का वर्णन है, जो कृष्णयजुर्वेद की संहिता में उपलब्ध नहीं होता, प्रत्युत माध्यन्दिन-संहिता से वहाँ उद्धृत किया गया है । इस काण्ड के अन्तिम तीन (10-12) प्रपाठक 'पाठक' नाम से युजर्वेदियों के द्वारा अभिहित किये जाते हैं । बहुत सम्भव है कि यही अंश काठकशाखीय ब्राह्मण का हो तो किसी विशेष उद्देश्य से यहाँ संगृहीत हो । एकादश प्रपाठक में ब्रह्मचर्य के द्वारा भरद्वाज ऋषि ने अनन्त वेदों में से केवल तीन मुष्टियों को प्राप्त किया जो त्रयी-विद्या के नाम से प्रसिद्ध हैं । चतुर्थवेद के नाम न होने से कुछ विद्वान् अथर्व को तैत्तियों ब्राह्मण से भी अवान्तर रचना मानते हैं । नाचिकेत अग्नि की वेदि तथा उपासना का यहाँ विशेष वर्णन है, जिसमें अग्निविद्या के द्वारा मोक्ष- प्राप्ति का निर्देश है । कठोनिषद् में इसी आख्यान का विकसित रूप में हमें उपलब्ध होता है । द्वादश प्रपाठक में चातुर्होत्र तथा वैश्वसृज याग का वर्णन है । वैश्वसृज याग एक प्रतीकात्मक अनुष्ठान है जिसमें समस्त

पदार्थों का होम सम्पन्न किया जाता है । देवताओं ने एक सहस्र वर्षों में इसका सम्पादन किया और ब्रह्म के साथ सायुज्य, सलोकता, साष्टिता समानकोलता प्राप्त की ।

इस ब्राह्मण में सामवेद समस्त वेदों का शीर्ष-स्थानीय माना गया है । मूर्ति तथा वैश्य की उत्पत्ति सामवेद से बतला कर यह ब्राह्मण साम को सर्वष्ठ बतलाया है । नाना प्रकार के यज्ञों में गाय की दक्षिणा का ही सर्वत्र विधान है । वर्णव्यस्था की पूर्ण प्रतिष्ठा तथा उसका सर्वत्र आदर दीख पड़ता है । अश्वमेध केवल क्षत्रिय राजाओं के लिए ही विहित था और इसका वर्णन यहाँ (काण्ड 3, प्रपाठक 8 और 9) बड़े विस्तार तथा विशदता से किया गया है । वह वर्णन शतपथ के विवरण से विशेष साम्य रखता है । क्षत्रियों में दो प्रकार का भेद दीखता है—जो राज्य करने के अधिकारी थे उनका नाम 'राजपूत' था,—"अहविरेव तद् इत्याहुर्यच्छूद्रो दोग्धीति" (तै. ब्रा. 3।1।3)। पुरुषमेध के लिए निर्दिष्ट पशुओं की आलोचना करने से प्रतीत होता है कि संकर जातियों की उत्पत्ति हो गई थी । स्त्रियों का आदर समाज में विशेष था, तथा उनके लिए उपयुक्त आभूषणों का भी वर्णन मिलता है जिन्हें ऋत्विज् लोग यज्ञ की दक्षिणा के रूप में विशेष महत्त्व देते थे (3।10।4) ब्राह्मण लोग यज्ञ के अवसर पर यज्ञ तथा दर्शन से सम्बद्ध विषयों पर शास्त्रार्थ करते थे, तथा अपने प्रतिपक्षियों को परास्त करने में गौरव समझते थे । पुराणों में उल्लिखित अनेक अवतारों की कथाओं के बीज यहाँ उपलब्ध होते हैं । यहाँ (1।2) वराह अवतार का स्पष्ट संकेत मिलता है । वैदिक-कालीन ज्योतिःशास्त्र के अनेक ज्ञातव्य तथ्यों का उल्लेख इस ब्राह्मण को इस दृष्टि से भी नितान्त उपयोगी बनाता है ।

सामवेदीय ब्राह्मण

सामवेद के ब्राह्मणों की संख्या इतर वेद के ब्राह्मणों की अपेक्षा कहीं अधिक है । समावेदीय ब्राह्मणों की संख्या आठ है जिनका नामोल्लेख सायण ने इस प्रकार किया है-

अष्टौ हि ब्राह्मणग्रन्थाः प्रौढं ब्राह्मणमादिमम् ।
षड्विशाख्यं द्वितीय स्यात् ततः सामविधिर्भवेत् ।।
आर्षेयं देवताध्यायो भवेदुपनिषत् ततः ।
संहितोपनिषद् वंशे ग्रन्था अष्टावितीरिताः।।

(1) प्रौढ-ब्राह्मण (= ताण्ड्य, पञ्चविंश); (2) षड्विंश; (3) सामविधि (= साम-विधान); (4) आर्षेयः (5) देवताध्याय; (6) उपनिषद् ब्राह्मण; (7) संहितोपनिषद् ब्राह्मण तथा (8) वंश-ब्राह्मण ।

इन ब्राह्मणों का यहाँ इसी क्रम से संक्षेप में परिचय दिया जा रहा है । इनमें से कतिपय ब्राह्मणों का तो वही विषय है जो अन्य वेदों की अनुक्रमणियों का होता है । सम्भवतः इनमें से अनेक ब्राह्मण एक ही बड़े सामब्राह्मण के विधिा भाग थे, जो कारणवशात् आज स्वतन्त्ररूप से सामने हैं; तथापि इनके पारस्परिक संकलन का प्रामाण्य इन ब्राह्मणों के अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है ।

(1) ताण्ड्य-ब्राह्मण-सामवेद का प्रधान ब्राह्मण ताण्डि-शाखा से सम्बद्ध होने के कारण 'ताण्ड्य,' पच्चीस अध्यायों में विभक्त होने के हेतु 'पञ्चविंश' तथा विशाल काय होने से 'महा-ब्राह्मण' के नाम से ख्यात है । यज्ञानुष्ठानों में उद्गाता के कार्यों की विपुल मीमांसा इसे महनीय बना रही है । यज्ञ के विविध रूपों का—एक दिन से लेकर सहस्र संवत्सर तक चलने वाले यज्ञों का —एकत्र प्रतिपादन इस महाब्राह्मण में है । इसके द्वितीय तथा तृतीय अध्याय में त्रिवृत, पञ्चदश, सप्तदश आदि स्तोतों की विष्टुतियों का विशद वर्णन है ।

चतुर्थ तथा पञ्चम अध्यायों में 'गवामयम' का वर्णन है । यह एक वर्ष तक चलने वाला याग और समस्त सत्रों की प्रकृति है ।

6-9 ।2 अध्याय यज्ञों की प्रकृति होते हैं 6 अ. 6 ।7-8 तक ज्योतिष्टोम की उत्पत्ति, उद्‌गाता के द्वारा औदुम्बरी शाखा की स्थापना, द्रोणकलश की स्थापना का वर्णन है ।

सप्तम खण्ड 6 ।7 से लेकर 7 के द्वितीय खण्ड का प्रात: सवन; 7 ।2 से लेकर 8 ।3 तथा माध्यन्दिन सवन; जिसमें रथन्तर बृहत् नौधस तथा कालेय सामों का विस्तृत वर्णन है ।

8 के शेष खण्ड से नवम अध्याय तक सायं सवन तथा रात्रिकालीन पूजा का विधान है । दशम से लेकर 15 अ. तक द्वादशाह यागों का विधान जिनमें क्रमश: प्रथम दिन से आरम्भ कर दशम दिन तक के विधानों तथा सामों का विशिष्ट वर्णन 16-19 अ. तक नाना प्रकार के 'एकाह' यागों का विवरण है ।

20-22 अ. तक अहीन यागों का वर्णन है । 'अहीन याग' से तत्पर्य उस सोम-याग से है जिसमें तीनों वर्णों का अधिकार रहता है, दक्षिणा होती है, अन्त में अतिरात्र संस्था होती है तथा एक दो तीन चार आदि अनेक यजमानों के द्वारा निष्पन्न होता है । ''त्रैवणिकाधिकारिक: सदक्षिणोऽतिरात्रसंस्थाक:, एकद्वित्रिचतुराद्यनेक-यज-मान-कर्तृक: सोमयागोऽहीन:'' ।

23-25 अ. तक सत्रों का वर्णन । सत्र का लक्षण है—''ब्राह्मणकर्तृकोऽदक्षिण उभयतोऽतिरात्रसंस्थाक: सोमयागविशेष: सत्रम्'' । सत्र में आहिताग्नि अग्निष्टोम संस्था के सम्पादक कम से कम 17 और अधिक से अधिक 24 अधिकारी होते हैं । सभी यजमान होते हैं । इसीलिए सत्रजन्य फल सबके समानरूपेण मिलता है और दक्षिणा नहीं दी जाती । सभी यजमान होने पर 18 अधिकारिकर पक्ष में एक गृहपति कहलाता है । तथा अन्य सोलह ब्रह्मादि का कार्य करते हैं । 24 अधिकारि-पक्ष में 8 गृहपति होते हैं तथा 16 ऋत्विक् आदि का कार्य करते हैं । इन्हीं अध्यायों में 13 दिन में समाप्त त्रयोदशाह यज्ञ से लेकर सहत्र सवंत्सर सत्र का विशद विवेचन है ।

ताण्ड्य-महाब्राह्मण में साम और सोमयाग का वर्णन ही मुख्य विषय है । सामवेद से सम्बद्ध होने के कारण साम के विशेष प्रकारों का तथा उनके नामकरण और उदय का विवेचन यहाँ औचित्य-प्राप्त ही है । साम का नामकरण उनके द्रष्ट ऋषियों के कारण ही पड़ता है । वैखानस ऋषि के द्वारा दृष्टसाम ''वैखानस' (14 ।4 ।7), शंकर-दृष्ट सामों 'शंकर' (14 ।5 ।14)—सामों के नामकरण की यही परिपाटी है । कहीं-कहीं सामों को स्तुति तथा महत्ता के प्रदर्शनार्थ प्राचीन रोचक आख्याकि भी दी गई है । यथा 'बात्स' याम के विषय में । वत्स तथा मेधातिथि दो काण्व ऋषि थे । मेधातिथि ने वत्स को शूद्रपुत्र तथा अब्रहाण कहकर गाली दी । वत्स 'वात्स साम' से तथा मेधातिथि 'मेधातिथ्य साम' से अग्नि के पास ब्राह्मीयान् का निर्णय के लिए पहुँचे तथा अपने को वत्स ने अग्नि में डाल दिया, परन्तु अग्नि ने उसका रोंआ भी नहीं जलाया । (तस्य लोम च नौषत्) । तभी से वातस साम इच्छाओं के पूरक होने से 'कामसनि' के नाम से विख्यात हुआ (14 ।6 ।6) । इसी प्रकार वीङ्क साम के द्वारा च्यवन ऋषि को यौवन प्रदान करने की आख्यायिका का उल्लेख किया गया है । (14 ।6 ।10) ।

इस ब्राह्मण में यज्ञ के प्रधान विषयों को लेकर विभिन्न ब्रह्मवादियों के मतों का उल्लेख बहुश: उपलब्ध होता है । (ताण्ड्य 14 ।5 ।8; 15 ।12 ।3), भिन्न-भिन्न आचार्यो के मतों का खण्डन कर स्वाभीष्ट मत की पुष्ट स्थापना भी की गई है । (18 ।1 ।11-12) में प्रसङ्ग है कि व्रात्य यज्ञ में अग्निष्टोम साम का विधान किस मन्त्र पर हो । किसी की सम्पति है 'वेदों वा द्रविणोदा' (साम, उत्तराचिंक 7 ।1 ।10) पर साम का विधान होना चाहिए । अन्य आचार्य 'अदर्शि गातु वित्तम' (उत्तरा. 7 ।1 ।11) सतो- बृहती पर साम रखने के पक्षपाती हैं ताण्ड्य 17 ।1 ।12 में इनका खण्डन कर

पूर्वमत करा मण्डन किया गया है ताण्ड्य का रचनाकाल यज्ञ के उत्कर्ष का प्रतीक है, जब यज्ञ की मनुष्य को मनुष्य बनाने के लिए पर्याप्त साधन माना जाता था । इसलिए एकत्र उल्लेख है (ता. 18 ।1 ।9) कि इन्द्र ने यज्ञ न करने वाले यतियों को शृंगालों को भक्षण करने के लिए दे दिया । इसी कारण अपनी लौकिकी समृद्धि पाने के लिए नागों ने भी यज्ञ किया ।

व्रात्यों को आर्यों के समकक्षस्थान पाने के लिए अथवा आर्यों की श्रेणी में लाने के हेतु ताण्ड्य में व्रात्य यज्ञ' का वर्णन एक महत्त्वपूर्ण घटना है । ताण्ड्य के 17 अ. 1 खण्ड में व्रात्यों की वेशभूषा, आचार-विचार के विषय में बहुमूल्य पदार्थों का निर्देश मिलता है जो धार्मिक दृष्टि से विषय महत्व रखते हैं प्रवास करने वाले आचार से ही आर्य लोग ही 'व्रात्य' के नाम पुकारे जाते थे । इनके चार भेदों का उल्लेख सायण-भाष्य में किया है (ताण्ड्य 17 ।1 ।1), तथा इन सबकी दोषमुक्ति के लिए अलग-अलग यज्ञों का विधान यहाँ मिलता है । व्रात्यों के गृहपति तथा अन्य व्यक्तियों की दक्षिणा में भी यहाँ पार्थक्य किया है । इन वस्तुओं की सूची देखने से व्रात्यों के साधनों का परिचय मिल सकता है । गृहपति की देय दक्षिणा है—(17 ।1 ।14) उष्णीष (पगड़ी), प्रतोद (बैलों को हाँकने के लिए लोहे का सिरा बाला डंडा); ज्याह्रोड (इषुरहित केवल धनुर्दण्ड), फलकास्तीर्ण विपथ (तख्तों से फैला हुआ कुटिल मार्ग में जाने वाला रथ), कृष्णश-वास (काली धारी वाली धोती), काला और सफेद अविचर्म, रजत निष्क (चाँदी का बना हुआ गले का भूषण) । अन्य व्रात्यों की दक्षिणा में इन वस्तुओं का निर्देश है— लाल किनारे की धोती का कपडा, दो जूता, तथा शुक्लकृष्ण अजिन आदि (ता. 17 ।1 ।15) ।

ब्राह्मणयुगीय भौगोलिक ज्ञान के लिए भी इस ब्राह्मण की प्रकृष्ट उपयोगिता है । ताण्ड्य का भौगोलिक क्षेत्र कुरुक्षेत्र तथा सरस्वती का मण्डल है, जो स्वर्ग के समान माना गया है (25 अ.) । कुरुक्षेत्र से नैमिषारण्य तक का प्रदेश यज्ञभूमि के रूप में उल्लिखित है । 'रोहितकूलीय' साम कर व्याख्या (14 ।3 ।13) में भरतो के साथ विश्वामित्र का रोहित नदी के कूल (यमुना नदी के पास का प्रदेश) को जीतने का उल्लेख है । महाभारत के अनुसार कर्ण तथा नकुल ने रोहित लोगों को जीता था । विश्शन (25 ।10 ।1), प्लक्ष प्रास्रवण (= सरस्वती के पुनरुद्गम का स्थान, (15 । 10 ।16), यमुना तथा कारपचव (यमुना के प्रवाह वाला प्राप्त: (25 ।10 ।16)—कतिपय महत्त्वपूर्ण भौगोलिक स्थान यहाँ निर्दिष्ट है ।

(2) षड्विंश ब्राह्मण–'षड्विंश' का विभाजन दो प्रकार से उपलब्ध होता है—(1) प्रपाठक तथा खण्ड (2) अध्याय तथा खण्ड । जीवानन्द के सं. पूरे ग्रन्थ में पाँच ही प्रपाठक हैं तथा तिरूपति वाले सं. समग्र ग्रन्थ 6 अध्यायों में विभक्त है जिनके अवान्तर भाग खण्ड कहलाते हैं । इसके प्रारम्भिक पाँच अध्यायों में यज्ञ का ही विषय वाणित है केवल अन्तिम भाग (पञ्चम प्रपाठक; षष्ठ अध्याय) का विषय पूर्व भागों की अपेक्षा नितान्त भिन्न है । जैसा इनके नाम से प्रतीत होता है, यह ब्राह्मण पञ्चविंश ब्राह्मण का ही परिशिष्ट भाग है और इसका विषय उस ब्राह्मण के विषयों का आवश्य पूरक सा प्रतीत होता है इसके पंचम प्रपाठक को 'अद्भुत ब्राह्मण' इसलिए कहते हैं। कि इसमें भूकम्प, अकाल में पुष्प तथा फल उत्पन्न होने, अश्वरती के गर्भ होने, हथिनी के डुबने आदि नाना प्रकार के उत्पातों के लिए शान्ति का विधान किया गया है । यह प्रपाठक उस युग की विभिन्न भावनाओं को समझने के लिए शान्ति का विधान किया गया है । यह प्रपाठक उस युग की विभिन्न भावनाओं को समझने के लिए नितान्त उपयोगी है । इन्हीं विषयों को ग्रहण कर पिछले युग धर्मग्रंथो में प्रायश्चितों का विपुल विधान पाया है । दोनों तारतम्य परीक्षा के लिए इस प्रपाठ का मूल्य अत्यधिक है ।

तत्कालीन धार्मिक धारणाओं का भी विशेष संकेत उपलब्ध होता है । प्रथम काण्ड के आरम्भ में ही 'सुब्रह्मण्या' ऋचा का विशेष व्याख्यान मिलता है । अभिचार के समय ऋत्विजों के वेश के वर्णन से पता चलता है कि वे लोग लाल पगड़ी तथा किनारी वाली धोतियों को यज्ञ के अवसर पर पहनाते थे— ''**लौहितोष्णीषा लोहितावाससो**

NOTES

निवता ऋत्विजः प्रचरन्ति'' 4 अ., खण्ड, 22) ब्राह्मणों के लिए सन्ध्या- वन्दना का काल अहोरात्र के सन्धिकाल में बतलाया गया है– ''**तस्माद् ब्राह्मणोऽहोरात्रस्या संयोगे सन्ध्यामुपास्ते**'' (5 ।5 ।4)। इसी प्रकार के अन्य उपदेश तथ्यों का संकलन किया जा सकता है ।

3 सामविधान–यह सामवेद का अन्यतम ब्राह्मण है जिसका विषय ब्राह्मणों में उपलब्ध विषयों से नितान्त भिन्न है । इस ब्राह्मण में जादू तथा टोना करने के लिए– जैसे किसी व्यक्ति को गाँव से भगाने के लिए, शत्रु को ध्वस्त करने के लिए, धन पाने के लिए–नाना उपद्रवों की शान्ति के लिए सामगायन के साथ कतिपय अनुष्ठानों के करने का विधान पाया जाता है । अन्य वेदों में भी तत्तत् मन्त्रों के इस प्रकार आभिचारिका प्रयोगों के उपयोग का वर्णन मिलता है । 'ऋग्विधान' में ऋग्वेदीय मन्त्रों का तथा 'यजुविधान' में यजुर्वेदीय मन्त्रों का प्रयोग ऐसी क्रियाओं के लिए किया गया है, परन्तु ये ब्राह्मणों से भिन्न ही ग्रन्थ हैं ।

इन ब्राह्मण की शैली न तो पुनरुक्ति-प्रधान है (जैस ब्राह्मणों में प्रायः पाया जाता है) और न अत्यन्त संक्षिप्त है । जैसे सूत्रों में उपलब्ध ने सामवेद के आठों ब्राह्मणों का नाम निर्देश किया है, जिनमें यह ब्राह्मण अन्यतम है ।

इस ब्राह्मण में तीन प्रकरण हैं जिसमें प्रथम प्रकरण कृच्छ्र, अतिकृच्छ आदि स्मृतियों में बहुशः वर्णित व्रतों का वर्णन उपलब्ध होता है । पुराणों में वर्णित व्रतों का मूल इस ब्राह्मण में उपलब्ध है, जैसे किसी मन्त्र को जल में कमर तक खड़े होकर अपने से विशेष फल की प्राप्ति आदि । इन्हीं विषयों का ग्रहण धर्मसूत्रों तथा कालान्तर में धर्मशास्त्रों में विशेषरूप से उपलब्ध होता है । ध्यान देने की बात यह है कि अथर्ववेद के मन्त्रों का उपवयोग तथा प्रयोग तान्त्रिक विधि-विधानों की दृष्टि से तो किया ही जाता था, परन्तु इस विशेषता तथा आवश्यकता की पूर्ति अन्य वेदों के मन्त्रों के द्वारा भी की जाने लगी । 'सामविधान' इसी वैशिष्ट्य का परिचायक है । इसमें काम्य प्रयोग तथा प्रायश्चितों का विधान विशेष रूप से किया गया है ।

सामविधान (2 ।6 ।14) में किसी शत्रु को गाँव से भगाने के लिए चौराहे पर किसी चिता से भस्म को लाने तथा शत्रु के घर में या बिस्तरे पर उसे फेंकने का वर्णन है । इसी प्रकार मणिभद्र (यक्ष-विशेष) की मांस-बलि तथा साम-गायन के साथ पूजा का विधान सुवर्ण की प्राप्ति के लिए किया गया है (3 ।3 ।3); पुराणों के प्रसिद्ध रुद्रानुचरों की शान्ति के लिए भी यहाँ साम का विधान कम कौतूहलवर्धन नहीं है । विनायक तथा स्कन्द की शान्ति दो सामों के द्वारा तथा रुद्र और विष्णु की शान्ति अन्य दो सामों के द्वारा विदित है (1 ।4 ।6-19) शत्रु के मारने की एक विचित्र विधि का उल्लेख यहाँ मिलता है। शत्रु की आटे की मूर्ति बनानी चाहिए जिसका छुरे से काटना होता है तथा अंगों को काट-काट कर आग में डालना पड़ता है । (2 ।5 ।4)। राजयक्ष्मा एक भयानक रोग माना गया था जिसे दूर करने की विधि का वर्णन यहाँ उपलब्ध होता है (2 ।4 ।9)। द्वितीय प्रकरण के आठवें में सुन्दर तथा दीर्घायु पुत्र? की प्राप्ति के लिए नाना प्रयोगों का वर्णन किया गया है ।

तृतीय परिच्छेद में एश्वर्य, नवीन भिन्न-भिन्न साम-गायन के साथ किया गया है अभिषेक के अवसर पर 'एकवृष' साम से अभिषेक करने पर राजा सम्राट् हो जाता था । सेना के नाना अंगों– घोड़ों, हाथी आदि को –मारने के लिए आटे की मूर्ति बनाकर छुरे से गला काटने का । विधान बहुशः किया गया है भूत-प्रेत गन्धर्व-अप्सरा तथा देवताओं के लिए सामों का प्रयोग किया गया है (3 ।7 ।6)। 'श्रुतिनिगादो' ऐसे व्यक्ति को कहते हैं जो किसी मन्त्र को एक बार में ही सुनकर उसका पाठ करने लगता है । इस सिद्धि की प्राप्ति के लिए भी साम-गायन का विधान है ।

यह ब्राह्मण-ग्रन्थ धर्मसूत्रों की पूर्व-पीठ़िका है, क्योकि धर्म-सूत्रों में विस्तार से वर्णित दोष, तथा उनके प्रायश्चित इस ब्राह्मण में मुख्यतया प्रतिपादित हैं । उस काल में समाज चार वर्णों में विभक्त था, तथा शूद्रा के साथ विवाह सर्वथा निषिद्ध माना जाता था । जिन पाचरणों के लिए प्रायश्चित का विधान हैं उन्हें देखकर तत्कालीन समाज की

स्थिति का परिचय मिल सकता है और स्मृतियों में निर्दिष्ट अपराधों से ये भिन्न नहीं है । शूद्रों का वेद पढ़ाना तथा उन्हें यज्ञ कराना, अशोभन शब्दों का बोलना, सुरा पीना, ब्राह्मण आदि चारों वर्णों के व्यक्तियों की हत्या, गाय को मारना, जेठे भाई से पहिले ही विवाह करना, शूद्र के साथ व्यभिचार, ब्राह्मण के लिए दूध, मधु आदि रसों तथा पशुओं का बेचना—पापाचरणों के दूरींकरण के लिए प्रायश्चित का विधान इस ब्राह्मण में किया गया है ।

इस प्रकार यह ग्रन्थ एक नवीन तथा विचित्र विधिविधानों के परिचय के लिए अपना विशेष महत्त्व रखता है ।

(4) आर्षेय ब्राह्मण–यह सामवेद का चौथा ब्राह्मण है । यह तीन प्रपाठकों तथा 82 खण्डों में विभक्त है । यह ब्राह्मण सामवेद के लिए आर्षानुक्रमणी का काम करता है, जैसा इसके नाम से स्पष्ट है । इस ब्राह्मण में साम के उद्भावक ऋषियों का नाम तथा संकेत दिया गया है । साम-गायन के वैज्ञानिक अनुशीलता के निमित्त यह ब्राह्मण के निमित्त यह ब्राह्मण नितान्त उपादेय है । सामवेद के वर्णन के समय-योनि ऋचाओं तथा सामों में विभेद दिखलाया गया है । यह ब्राह्मण सामागायन के प्रथम प्रचारक ऋषियों का वर्णन करने के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से भी विशेष महत्त्वशाली है । सामगायन का विषय बड़ा ही कठिन तथा पेचीदा है । इसका सच्चा अध्ययन विशेष अध्यवसाय, मनोयोग तथा अनुशीलन का परिणाम हो सकता है । इस कार्य में नारदीय, गौतमी तथा माण्डूकी आदि सामवेदी शिक्षाओं का गंभीर अध्ययन अपेक्षित है । इस कार्य में आर्षेय ब्राह्मण निःसन्देह विशेष उपकार तथा लाभ पहुँचा सकता है ।

(5) देवताध्याय ब्राह्मण–यह देवता ब्राह्मण सामवेदीय ब्राह्मणों में बहुत ही छोटा है । इनमें केवल तीन खण्ड हैं—(1) प्रथम खण्ड में (26 कंडिका) देवताओं का वर्णन है । प्रथम कंडिका के अनुसार साम-देवताओं का नाम-निर्देश इस प्रकार है—अग्नि, इन्द्र प्रजापति, सोम वरुण, त्वष्टा, अंगिरस् पूषा, सरस्वती तथा इन्द्रग्नी तथा इन देवताओं की प्रशंसा में गेय सामों के विशिष्ट नाम भी दिये गये है । (2) द्वितीय खंड (11 कंडिका) में छन्दों के देवता तथा वर्णों का विशेष वर्णन, (3) तृतीय खण्ड (25 कंडिका) में छन्दों की निरुक्तियाँ दी गयी है । इन निरुक्तियों में से अनेक निरुक्तियाँ यास्क ने अपने निरुक्त में ग्रहण की हैं (7।12, 13)। यह खण्ड भाषाशास्त्र की दृष्टि से बड़े महत्त्व का है, क्योंकि छन्दों के नपाम का निर्वचन बड़े ही प्रामाणिक ढंग से यहाँ किया है । 'गायत्री' छन्द्र के नाम का अर्थ है—स्तुति अर्थ वाले गै वाले धातु से निष्पन्न होने से देवताओं के प्रशंसक तथा वेद समुदाय को गाने वाले ब्राह्मण से उत्पन्न होने वाला छन्द । इसी प्रकार अन्य छन्दों के भी निर्वचन उपलब्ध होते हैं ।

(6) उपनिषद् ब्राह्मण–यह ब्राह्मण 10 प्रपाठकों में विभक्त: है । जिसमें दो ग्रन्थ सम्मिलित हैं:—

(1) मन्त्र ब्राह्मण—इसी का दूसरा नाम छान्दोग्य-ब्राह्मण है । इसके संस्करण भारत तथा विदेशों में अनेक विद्वानों ने प्रकाशित किया है । सत्यव्रत सामश्रमी ने कलकत्ते से 1890 ई. में मन्त्र-ब्राह्मण के नाम से टीका के साथ इसे प्रकाशित किया । यूरोप के दो विद्वानों ने दोनों प्रपाठकों का अलग-अलग संस्करण निकाला है, तथा जर्मन भाषा में इनका अनुवाद भी किया है । प्रो. दुर्गामोहन भट्टाचार्य ने गुणविष्णु और सायण के साथ इसे कलकत्ता से प्रकाशित किया है।

इस ब्राह्मण में दो प्रपाठक हैं और प्रत्येक प्रपाठक में 8, 8 खण्ड हैं । यह ब्राह्मण गृह्य संस्कारों में प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों का एक सुन्दर संग्रह है । ये ही मन्त्र खादिर एवं गोभिल गृह्यसूत्रों में भिन्न-भिन्न संस्कारों के अवसर पर प्रयुक्त उपनिषद् से उद्धरण देते समय इन दोनों ग्रन्थों को ताण्ड्य-शाखा से सम्बद्ध बतलाया है । इससे ज्ञान होता है कि सामवेद की शाखाओं में ताण्ड्य-शाखा का प्राधान्य बहुत कुछ था । शंकराचार्य के उद्धरण इस प्रकार हैं :-

ताण्डिनाम् (मन्त्रसमाम्नाय:)—देव सवित: (मन्त्र ब्रा. 1।1।1),

अस्ति ताण्डिनां श्रुतिः—अश्व इव रोमाणि (छा. उपः 8।13।1),

ताण्डिनामुपनिषदि—स आत्मा ततवमसि (छा. उप. 6।8।7)।

देवताध्याय-ब्राह्मण में उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है जिनके आधार पर सामगानों के (सूक्तों तथा मन्त्रों के नहीं) देवता का निर्धारण किया जाना चाहिए । आर्षेय तथा देवताध्याय—दोनों ही ब्राह्मण एक ही मूलभूत ब्रह्मण के भाग प्रतीत होते हैं क्योंकि प्रथम में सामगान सम्बन्धी ऋषियों का तथा दूसरे में तत्सम्बद्ध देवताओं का विवरण दिया गया है । देवताध्याय के 4/4 सूत्र से दोनों के संपृक्तभव का स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध होता है । सूत्र है 'स्वरित देव ऋषिभ्यश्च' का सायणभाष्य कहता है— "देवा ऋषयश्च ये आर्षेय श्देवताध्यायाभ्यां प्रतिपादितास्ततसकाशाच्च स्वस्ति भवति ।" यहाँ स्पष्टत: दोनों ब्राह्मणों के परस्पर एकाङ्गीभाव का प्रमाण उपलब्ध होता है । तथ्य तो यह है कि सामवेद के छोटे-छोटे ब्राह्मण किसी एक बड़े ब्राह्मण के अंग प्रतीत होते हैं, जो कालान्तर में अपने मूल से किसी कारण पृथक् हो गये । इनका विषय इतर देवों की अनुक्रमणिकाओं के समान है । किसी सूक्त के ज्ञान की पूर्णता के निमित्त उस सूक्त के ऋषि, देवता तथा छन्द के ज्ञान की नितान्त आवश्यकता होती है । इन तीनों की जानाकारी की बिना सूक्त का ज्ञान अधूरा ही रहता है । इस ज्ञान की पूर्ति अन्य वेदों में अनुक्रमणी द्वारा होती है; साम में इसके साधन ये ही ब्राह्मण ग्रन्थ हैं, जो अपने विशिष्ट विषय के प्रतिपादन में ही जागरूक रहते हैं ।

इन ब्राह्मण के कुल मन्त्र 257 हैं; इनके अतिरिक्त ने गृह्यसूत्रों से 11 मन्त्र और लेकर उनको सभाष्य जोड़ा है । प्रथम प्रपाठक में विवाह, गर्भाधान, सीमन्तोन्नयन, चूड़ाकरण, उपनयन, समावर्तन एवं गो-वृद्धि के लिए मन्त्र दिए गए हैं । दूसरे प्रपाठक में भूतवलि, आग्रहयण्यीकर्म, पितृपिण्डदान, देवबलिहोम, दर्शपूर्णमास, आदित्यो-अनुलोम-प्रतिलोम स्वर, अन्य नाना प्रकार के स्वर आदि का बड़ा ही व्यापक प्रतिपादन है । यह विषय सातिशय वैज्ञानिक है और सामगायन के मर्म का उद्घाटन यहाँ पूरे विस्तार के साथ किया गया है । इन खण्डों की जानकारी सामगायन के विधान के लिए नितान्त आवश्यक तथा उपादेय है । तृतीय खण्ड के अन्तिम भाग में गुरु तथा शिष्य की योग्यता का विवेचन तथा पात्र में दान की भूयसी प्रशंसा की गई है । चतुर्थ तथा पञ्चम खण्ड का विषय पूर्वोक्त तथ्य का पूरक है । इस प्रकार सामगायन के रहस्य की जानकारी के लिए यह ब्राह्मण एक प्रकार से अद्वितीय है । इसीलिए इसके टीकाकार द्विजराजभट्ट की संस्तुति है—"सामब्रह्मरसज्ञानां विशुद्धज्ञानहेतवे", अर्थात् सामब्रह्म के रस जानने वालों को इस ब्राह्मण के अध्ययन के अपने विषयों का विशुद्ध ज्ञान निश्चितरूप से होता है ।

इसकी दो टीकाओं का प्रकाशन हुआ है—(क) सायणभाष्य, जो केवल प्रथम खण्ड तक ही उपलब्ध है । (ख) विष्णुभट्ट के आत्मज द्विजराजभट्ट-रचित भाष्य । सायणभष्य संक्षिप्त है, लेकिन द्विजराजभाष्य विशेषरूपेण विस्तृत है । दोनों की तारतम्य परीक्षा से प्रथमभाष्य प्रख्यात सायणाचार्य की कृति होने की योग्यता नहीं रखता । उसमें सामान्य अनवधानजन्य अनेक त्रुटियाँ हैं । द्विजराभट्ट ने यद्यपि अपने रचनाकाल का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, तथापि वे सायण के पश्चाद्वर्ती, 15 शती के ग्रन्थकार प्रतीत होते हैं । विषम सामगायन के गम्भीर तत्त्वों का ज्ञान इन टीकाओं के साहाय्य से भली-प्रकार किया जा सकता है । इन टीकाओं के साथ इसका एक विशद्ध समीक्षणात्मक संस्करण तिरुपति से प्रकाशित हुआ है (1965), जिसके विद्वान् सम्पादक डा. बे. रा. शर्मा ने ग्रन्थ को भूमिका में तथा समालोचनात्मक टिप्पणियों में अनेक प्रमेयों की सूचारू व्याख्या की है । यह ब्राह्मण कभी बहुत ही प्रसिद्ध था । निरुक्तकार ने अपने ग्रन्थ (2/4) में 'विद्या हवै ब्राह्ममणमाजगाम्' आदि मन्त्रों को इसी इसी ब्राह्मण के तृतीय खण्ड में से उद्धृत किया है । इसी मन्त्र का भावानुवाद मनुस्मृति (2/114) में मनु ने भी किया है । इससे स्पष्ट है कि यह ब्राह्मण निरुक्त तथा मनृस्मृति में प्राचीनतम है।

(8) वंशब्राह्मण–यह ब्राह्मण मात्रा में बहुत ही छोटा है इसमें केवल तीन खण्ड हैं । इसमें सामवेद के आचार्यों की वंशपरम्परा दी गई है । प्राचीन ऋषियों के इतिहास जानने के लिए यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगा ।

(9) जैमिनीय ब्राह्मण-जैमिनि-शाखा का यह ब्राह्मण सम्पूर्णरूप से अब तक उपलब्ध नहीं होता थे । इसके अंश की छिन्न-भिन्न रूप से अब तक मिलते थे। डा. आर्टल ने इसके अंशों को अमेरिका से निकाला था तथ, डा. कैलेण्ड ने विशेष टुकड़ों को जर्मन अनुवाद के साथ सम्पादित किया था । डा. रघुवीर ने इस महत्वपूर्ण ब्राह्मण का सम्पूर्ण अंश एक विशुद्ध संस्करण में प्रकाशित किया है (नागपुर, 1954) । ब्राह्मणों में शतपथ के समान यह ब्राह्मण भी विपुलकाय तथा योगानुष्ठान के रहस्य जानने के लिए नितान्त उपादेय तथा महत्त्वशाली है । "जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण' भी इस महान् ब्राह्मण-ग्रन्थ का ही एक अंशमात्र है, जो गायत्र्युपनिषद् के नाम से विख्यात है । इसका सम्पादन डा. ओर्टल ने अमेरिकन ओरियन्टल सोसायटी के जर्नल (भाग 16, 1894) में रोमन अक्षरों में किया है । यह लाहौर से नागराक्षरों में भी प्रकाशित है ।

अथर्ववेदीय-ब्राह्मण

गोपथब्राह्मण—अथर्ववेद का केवल एक ही ब्राह्मण है जिसका नाम 'गोपथब्राह्मण' है । इसके दो भाग हैं–(1) पूर्व-गोपथ, (2) उत्तर-गोपथ । प्रथम ग्रन्थ में पाँच तथा द्वितीय में 6 प्रपाठक या अध्याय हैं । प्रपाठकों का विभाजन कण्डिकाओं में हुआ है, जो कुल मिलाकर 258 है ।

ब्राह्मण-साहित्य में यह ग्रन्थ बहुत ही पीछे की रचना माना जाता है । इस ब्राह्मण में अथर्ववेद की स्वभावत: विशेष महिमा गाई गई है । अथर्व ही सब ब्राह्मणों में अग्रगण्य तथा प्रथम माना गया है । अथर्व से ही तीनों वेदों तथा ओंकार की उत्पत्ति और ओम् से समस्त संसार की उत्पत्ति बतलाई गई है । इसीलिए इस ब्राह्मण का आग्रह है कि प्रत्येक वेदाभ्यासी को अन्य वेदों के पढ़ने के पूर्व अथर्व का अध्ययन करना नितान्त आवश्यक है । पूर्व गोपथ के प्रथम प्रपाठक में ओंकार तथा गायत्री की विशेष महिमा का सुन्दर वर्णन है । द्वितीय प्रपाठक में ब्रह्मचारी के नियमों का विशेष वर्णन है । प्रत्येक वेद के अध्ययन के लिए बारह वर्ष का समय नियत किया गया है, परन्तु छात्र की शक्ति को देखकर इस अवधि में कमी भी की जा सकती है । तृतीय प्रपाठक में यज्ञ के चारों ऋत्विजों के कार्यकलाप का वर्णन है । चतुर्थ प्रपाठक में ऋत्विजों दीक्षा का विशेष वर्णन किया गया है । प्ञ्चम् प्रपाठक में प्रथमत: सम्वत्सरसत्र का वर्णन है । अनन्तर अश्वमेघ, पुरुमेध अग्निष्टोम आदि अन्य सुप्रसिद्ध यज्ञों का भी विवरण है । उत्तर-गोपथ का विषय-वर्णन इतना सुव्यस्थित नहीं है; तथापि नाना प्रकार के यज्ञों तथा तत्सम्बद्ध आख्यायिकाओं के उल्लेख से यह भाग भी पूर्व की अपेक्षा कम रोचक नहीं है ।

''गोपथब्राह्मण'' के रचयिता ही 'गोपथ' ऋषि हैं । अथर्ववेदीय ऋषियों की नामावली में 'गोपथ' का नाम परन्तु अन्य वेदों के ऋषियों की नामावली में इनका नाम नहीं मिलता है । इस ब्राह्मण के देश-काल का परिचय अनुमान से ही हमें मिलता है । इसमें निर्दिष्ट देशों में कुरु-पांचाल, अङ्ग-मगध; काशी-कोशल, साल्व-मत्स्य तथा वश-उशीनर (उदीच्येदश) का नाम पाया जाता है । (गोपथ, पूर्व. 2।10), जिससे रचयिता मध्यदेश का निवासी प्रतीत होता है । अथर्ववेद के प्रथम मन्त्र का उल्लेख वह 'शन्नो देवीरभिष्टय' से करता है जिससे उसका पिप्पलाद-शाखीय होना अनुमान से सिद्ध है। यास्क ने निरुक्त में गोपथब्राह्मण के निश्चित अंशों को उद्धृत किया है, जिससे इसकी निरुक्त से पूर्वकालीनता स्वत: सिद्ध होती है । ब्लूमफोल्ड इसे वैतानसूत्र से भी अर्वाचीन मानते हैं, परन्तु डा. कैलेण्ड तथा कीथ इसे प्राचीन ही मानते हैं फलत: ब्राह्मण-साहित्य में पिछली रचना होने पर भी यह एक सहस्र वर्ष वि. पू. से अर्वा- चीन नहीं हो सकता ।

अथर्ववेद का एकमात्र ब्राह्मण होने से यदि इसके अन्तिम खण्ड में अथर्व की विपुल प्रशंसा गई है तो हमें आचश्र्य करने की कोई नहीं है । इसमें बहुत से नवीन विचार पाये जाते हैं, जैसे ब्रह्म द्वारा कमल के ऊपर ब्रह्मा का उदय (पृ0 16), ब्राह्मण को न गाना चाहिए, न नाचना और इस प्रकार 'माग्लागृध: 2।21); प्रत्येक वेदमन्त्र के उच्चारण से पूर्व ओंकार का उच्चारण ; किसी अनुष्ठान से आरम्भ के पहिले तीन बार आचमन करना (जिसके लिए विशिष्ट मन्त्र का संकेत है 1।39)। ऋग्वेद से अनेक मन्त्र उद्धृत हैं, परन्तु मन्त्रों के ऋषियों के विषय में पार्थक्य दीखता है।

भाषाशास्त्र की दृष्टि से गोपथ के अनेक संकेत बड़े महत्त्वपूर्ण हैं । 'परोक्षप्रिया हि देवा: प्रत्यक्षद्विष:' का शब्दों के निर्वचन के प्रसंग में भी यहाँ अनेकत्र उल्लेख मिलता है । उदाहरणार्थ—(1) 'वरुण' शब्द की व्युत्पत्ति 'वरण' से राजा वरण किये जाने के कारण है ('तं वा एतं वरणं सन्तं वरुण इत्याचक्षते' पूर्व-गोपथ 1/6); (2) 'मृत्यु' शब्द की व्युत्पत्ति 'मुच्यु' शब्द से सिद्ध की गई है । (3) 'अंगिरा' की व्युत्पत्ति 'अंगरस' से तथा (4) 'दीक्षित' की व्युत्पत्ति 'धीक्षित' (श्रेष्ठ धी को आश्रय करने वाले व्यक्ति) से दी गई है ('श्रेष्ठां धियं क्षियतीति तं वा एतं धीक्षितं सन्तं दीक्षित इत्याचक्षते'—गोपथ-पूर्व, 3/19) ये व्युत्पत्तियां भाषाशास्त्र की दृष्टि से अपना महत्त्व रखती हैं । बहुतों का उल्लेख स्वयं अवान्तरकालीन निरुक्तग्रन्थों में किया गया है ।

ब्राह्मण—वेद का अविभाज्य अङ्ग

ब्राह्मण के अन्तर्गत तीन प्रकार के ग्रन्थों का समावेश अभीष्ट माना जाता है । एक तो है ब्राह्मण, दूसरा आरण्यक एवं तीसरा उपनिषद् । 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' आपस्तम्ब के इस सूत्रानुसार मन्त्र के समान ही ब्राह्मण भी वेद नाम का अधिकारी माना जाता है । अत्यन्त प्राचीन काल से लेकर गत शताब्दी के मध्य काल तक इस सूत्र की प्रामाणिकता के विषय में रंच मात्र भी सन्देह किसी भी व्यक्ति को न था, परन्तु आर्य समाज के संस्थापक दयानन्द सरस्वती (1824 ई. - 1883 ई.) ही इस सूत्र के तथ्य पर संशयालु प्रथम व्यक्ति हैं । तबसे उनके अनुयायियों की मान्यता इस पर कथमपि नहीं है । परन्तु तथ्य इसके सर्वथा विपरीत है । भारतीय प्राचीन परम्परा ब्राह्मण को वेदका अविभाज्य अङ्ग मानने के लिए सर्वदा कृतसंकल्प है और उसे ब्राह्मण के वेदत्व में कोई संदेह नहीं हुआ ।

निघण्टु तथा निरुक्त, 'त्रिमुनि व्याकरणम्' के तीनों मुनि—पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि, दार्शनिक सूत्रों के रचयिता एवं भाष्यकार तथा स्मृतिकारों में सर्व प्राचीन स्मृति के निर्माता मनु—सब एक स्वर में मंत्र के साथ ही साथ 'ब्राह्मण' को भी श्रुति मानते आये हैं । इस तथ्य के अनुशीलनकर्ता व्यक्ति के लिए यह तथ्य कथमपि परोक्ष, अग्राह्य तथा उपेक्षणीय नहीं है । कतिपय उदाहरणों के द्वारा इस सिद्धान्त की प्रामाणिकता का परिचय संक्षेप में यहाँ दिया जा रहा है जिससे यह स्पष्ट हो जायगा कि ब्राह्मण भी संहिता-तुल्य ही वेद के अविभाज्य अंग हैं ।

निघण्टु में संगृहीत वैदिक शब्दों में से केवल मन्त्र-संहिता से ही सम्बद्ध शब्दों का चयन नहीं मिलता, प्रत्युत ब्राह्मणों से भी । यास्क निरुक्त में संहिता तथा ब्राह्मण उभय स्थानों में प्रयुक्त शब्दों के उदाहरण में तत्तत् ग्रन्थों के उद्धरण प्रस्तुत करते हैं । पाणिनि तथा कात्यायन स्वर वैदिकी से सम्बद्ध अपने सूत्रों में 'वेदे' 'छन्दसि' आदि पदों का प्रयोग कर 'ब्राह्मण' को नि:सन्दिग्ध श्रुति होने का तो संकेत मात्र करते हैं, परन्तु महाभाष्य में पतञ्जलि तो वेद के अन्तर्गत ब्राह्मण ग्रन्थों से अनेक उद्धरण देकर इस विषय का प्रचुर प्रमाण उपस्थित करते हैं । महर्षि पाणिनि 'छन्दसि' के अन्तर्गत मन्त्र तथा ब्राह्मण दोनों के उदाहरणों को समाविष्ट करते हैं । 'तचुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' (पाणिनिसूत्र 2/3/62) सूत्र के द्वारा मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदमें चतुर्थी के स्थान पर कहीं षष्ठी का विधान निर्दिष्ट किया गया है । 'पुरुषमृगश्चन्द्रमस:' तथा 'पुरुषमृगंश्चन्द्रमसे' यह तो मन्त्र का उदाहरण है । 'या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते'—इस वाक्य में 'तस्या:' षष्ठी के स्थान पर चतुर्थी उपलब्ध होती है । 'यां मलवद्वाससं संभवन्ति, यस्ततो जायते सोऽभिशस्तो, यामरण्ये तस्यै स्तेनो, या स्नाति तस्या अप्सु मारको, याऽभ्यङ्क्त तस्यै दुश्चर्मा'— आदि अनेक

NOTES

ब्राह्मण—वचनों का उद्धरण महाभाष्य में किया गया है । तात्पर्य यह है कि महर्षि पाणिनि की दृष्टि में 'छन्दसि' के द्वारा मन्त्र तथा ब्राह्मण दोनों का ग्रहण अभीष्ट है । फलत: वे ब्राह्मण को वेद का अविभाज्य अंग मानते हैं ।

किन्हीं सूत्रों में पाणिनि ने भाषाविषयक नियमों का निर्देश किया है अर्थात् वे नियम बोलचाल की संस्कृत भाषा के ही लिए हैं । 'भाषा' से भिन्न होता है—वेद फलत: ऐसे सूत्रों के प्रत्युदाहरण में मन्त्र तथा ब्राह्मण उभय ग्रन्थों से समानरूपेण उद्धरण दिया गया है । 'प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् (पा. सू. 7/2/28) ऐसा ही सूत्र है । युष्मद् शब्द के प्रथमा द्विवचन में भाषा में तो 'युवाम्' होता है, परन्तु भाषाभिन्न में 'युवम्' होता है । यहाँ दूसरा उदाहरण है 'युवं सुतरामविश्वना' (बाज.सं. 20/76) तथा ब्राह्मण के उदाहरण है—'युवं वै ब्रह्मणौ भिषजौ (श. 8/2/1/3) जो शतपथ ब्राह्मण का वाक्य है तथा 'युवमिंदं निस्कुरुतम् । (ऐ. ब्रा. 2/28) जो ऐतेरेय ब्राह्मण का उद्धरण है । स्पष्ट है पाणिनि की सम्मति में मन्त्र और ब्राह्मण में किसी प्रकार का पार्थक्य मानना सर्वथा अनुचित है, क्योंकि दोनों ही वेद के ही अंग हैं । समान रूप से वेद होते हुए भी यजुर्वेद और सामवेद में श, ष, स, ह वर्णों के आगे रहने पर अनुस्वार का 'गुं' हो जाता है, परन्तु ऋग्वेद एवे अथर्व वेद में यह नियम नही लगता । उसी प्रकार समानरूप से वेद होने पर भी कुछ कार्य मन्त्र में नहीं होता, ब्राह्मणों में होता है और कुछ कार्य ब्राह्मणों में न होकर मन्त्रों में ही होता है । देव सुम्नयोर्यजुषि 'कांठकें' (पा. 7/4/38) सूत्र के द्वारा देव और सुम्न शब्दों के साथ यजुर्वेद की कठशाखा में ही आकार का विधान होता है जिससे देवायन्त:' सुम्नायन्त: पद बनते हैं ।

महर्षि पाणिनि ने वेदभण्डार का स्वत: गम्भीर अनुशीलन कर स्वरवैदिकी के अपने सूत्रों का प्रणयन किया है । यह तथ्य उनके वेदविषयक विस्तृत अध्ययन तथा स्वर सम्बन्धी विश्लेषण की गम्भीरता का प्रत्यक्ष सूचक है । पाणिनि ने अपने एक सूत्र (3/1/123) में निष्टर्क्यं, देवहूय, प्रणीय, उन्नीय आदि निम्रातनात् सिद्ध होने वाले 17 शब्दों की एक लम्बी सूची दी है जिन्हें वे 'छन्दसि' सिद्ध मानते हैं । ध्यान देने की बात यह है कि इन शब्दों में कुछ शब्द संहिता में उपलब्ध होते हैं और कुछ ब्राह्मणों में ही प्राप्त होते हैं । इनमें छ: शब्द ऋग्वेद एवं यजुर्वेद के ही अन्तर्गत नियमत: मिलते हैं—देवहूय (ऋ. 7/85/2), खन्य (तै. सं. 7/4/13/1), ब्रह्मवाद्य (तै. सं. 2, 5, 8, 3); उच्छिष्य (मैं. सं. 3, 9, 2), प्रणीय (मै.सं. 3,9,1) तथा उपचाय्य-पृड (काठक 11, 1) । इसी सूत्र में निर्दिष्ट शब्दों में 'स्तर्याध्वर्य' भी है जिसका महाभाष्य में दी गई व्याख्या के अनुसार काशिकाकार तथा भट्टोजी दीक्षित परिच्छेद 'स्तर्या + अध्वर्य' करते हैं तथा स्त्रीलिंग 'स्तर्या' शब्द को इन निपातनों में गिनते हैं, पुल्लिङ्ग स्तर्य को नहीं । परन्तु स्त्रीलिंग 'स्तर्या' किसी भी वैदिक ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है । शतपथ ब्राह्मण ही ऐसा वैदिक ग्रन्थ है जो पुल्लिंग 'स्तर्य' का प्रयोग करता है तथा साथ ही उसके नञ् समास प्रयुक्त 'अस्तर्य' शब्द का भी । दोनों पुल्लिंग में ही है, स्त्रीलिंग अप्रयुक्त ही है । शतपथ ब्रा. (2, 2, 2, 10) का उद्धरण इस प्रकार है—ते होचु: । हन्तेदम् अमृतम् अन्तरात्मन्नादधामहै, त इदममृतम् अन्तरात्मन्नधाय अमृता भूत्वा अस्तर्या भूत्वा स्तर्यान् सपत्नान् मर्त्यानभिभविष्याम इति ।

प्रसंग है देव तथा असुरों के परस्पर संघर्ष का । देवों ने विचार किया कि हम लोग अपने अन्तरात्मायें अमृत अग्नि को (अभिमन्त्रित अग्नि को) धारण करेंगे जिससे हम लोग अमर (अमृत) तथा अजेय (अस्तर्य) बन जायेंगे और अपने हिंस्य (स्तर्य) शत्रुरूप मर्त्यों का अभिभव कर सकेंगे । सायण ने अपने भाष्य में इसी अर्थ की ओर स्पष्टत: संकेत दिया है—

अमृतरूपाऽग्निधारणेन यस्मादाहिताग्नि: अर्हिस्य:, तस्मात् विवदमनोऽसौ अनाहिताग्नि अभिभवितुं शक्नोति इत्यर्थ:।

निष्कर्ष यह है सायण 'अस्तर्य' का अर्थ 'अहिंस्य' (मारने में अयोग्य =जीतने में अयोग्य) मानते हैं । पाणिनि के पूर्वोक्त सूत्र के अनुशीलन का फल है—

(क) 'स्तर्याध्वर्य' का पदच्छेद स्तर्य + अध्वर्य करना चाहिए, स्तर्या + अध्वर्य नहीं ।

(ख) पाणिनि शतपथ ब्राह्मण से पूर्णतया परिचित हैं । फलत: संहिता तथा ब्राह्मण दोनों प्रकार के ग्रन्थों का संकेत वे 'छन्दस्' शब्द के द्वारा स्पष्टत: करते हैं । पाणिनि के इस प्रामाण्य पर शत्तपथ ब्राह्मण वेद का अविभाज्य अंग है—इसमें सन्देह करने के लिए लेशमात्र भी स्थान है क्या ?

पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में ऐसा ही निर्देश किया है–

(1) स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ (1/1/56) की व्याख्या में 'वेदेऽपि सोमस्य स्थाने पूतिकातृणांन्यभिषुणुयादित्युच्यते' यहाँ ब्राह्मण का वचन वेद कहा गया है ।

(2) एक: पूर्वापरयो: (1/3/84) पर भाष्यकार का कथन है– 'वेदे खल्वपि वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निहोत्रादिभि: क्रतुभिर्यजेत' यहाँ ब्राह्मणवाक्य वेद शब्द से अभिहित है ।

(3) एक: शब्द: सम्यग् ज्ञात: शास्त्रान्वित: सुप्रयुक्त: स्वर्गो लोके च कामधुग् भवति—यह श्रुति मन्त्रभाग में उपलब्ध नहीं होती । यह स्पष्टत: ब्राह्मण-वाक्य है ।

(4) 'तेऽसुरा हेलय हेलय इति कुर्वन्त: पराबभूवु: तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै, नापभाषितवै । म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्द:'—महाभाष्यकार ने यह श्रुति उपस्थापित की है परन्तु यह संहिता में कहीं उपलब्ध नहीं होती।

(5) पस्पशाह्निक में पतञ्जलि ने ब्राह्मण के चार वाक्यों को वेद शब्द के द्वारा उद्धृत किया है– यथा योऽग्निष्टोमेन यजते य उ एनं वेद' आदि वाक्य तैत्तिरीय ब्राह्मण (3/11/7/2) के ही हैं ।

ऐसे उदाहरणों से स्पष्ट है कि भाष्यकार वेद शब्द के द्वारा ब्राह्मणों का भी ग्रहण करते हैं । परम्परा भी तो वैसी ही है ।

महर्षि कणाद ने भी 'ब्राह्मण' को परमेश्वर-कर्तृक ही माना है । 'बुद्धि-पूर्वा नामकृतिर्वेदे (वैशेपिक सूत्र 6/1/1) का तात्पर्य है कि 'स्वर्गकामो जयेत' आदि वाक्यों की रचना निर्दोष, स्वतन्त्र एवं सर्वज्ञ पुरुष के द्वारा की गई है । दूसरे सूत्र 'ब्राह्मणे संज्ञाकर्म सिद्धिलिङ्गम् (वै. सू. 6/1/2) का तात्पर्य है कि जैसे पिता लोक में अपने पुत्र का नाम विष्णुमित्र आदि रखता है, उसी प्रकार ब्राह्मणभाग में 'उद्भिदा यजेत, अभिजिता यजेत' आदि वाक्यों में उद्भिद तथा अभिजित आदि नामकरण सर्वज्ञ परमेश्वर ही करता है । फलत: ब्राह्मणभाग परमेश्वरकर्तृक ही है जिस प्रकार मन्त्रभाग । कणादमुनि की यही मान्यता है ।

न्याय के सूत्रकार गौतम एवं भाष्कार वात्स्यायन ने वेदों में अनेक दोषों को दिखलाकर उनका विधिवत् प्रामाणिक रूप से समाधान किया हे । ये दोनों कार्य—दोषारोपण एवं समाधान—ब्राह्मण वाक्यों के ही आधार पर सम्पन्न किये गये हैं । उदाहरणों से स्पष्टीकरण आवश्यक है । गौतम ने वेद अप्रामाण्य के लिए तीन दोषों दिखलाया है[1]—(क) अनृत दोष । 'पुत्र की कामना वाला व्यक्ति पुत्रेष्टि के द्वारा यज्ञ करें—यह श्रुति में निर्दिष्ट है परन्तु पुत्रेष्टि करने पर भी पुत्र की प्राप्ति नही होती—यह अनृत दोष है । (ख) व्याघात दोष की सत्तावेद में है । 'सूर्य के उदय होने पर हवन करें' सूर्य के उदय होने से पूर्व ही हवन करें तथा सूर्य की बेला बीत जाने पर हवन करें—ऐसा आदेश है, परन्तु इस आदेश की वहीं निन्दा भी की गई है । (ग) पुनरुक्त दोष—प्रथम ऋचा को तीन बार और अन्तिम ऋचाको भी तीन बार उच्चरित करना चाहिए—यह नियम पुनरुक्ति का उदाहरण है ।

अब इस दोषारोपण का समाधान भी वहीं दिया गया है जो उसी क्रम से यहाँ दिया जा रहा है:—

(क) पुत्रेष्टि यागों का यथाविधि अनुष्ठान होने पर पुत्र आदि फल की प्राप्ति अवश्य होती है । कर्म, कर्ता एवं साधन के वैगुण्य के कारण पुत्रेष्टि आदि में फल नहीं मिलता । इतने से ही असत्य बात का उपदेश देने के कारण वेद अप्रमाण है—ऐसा नहीं कहा जा सकता ।[2]

(ख) उदिते, अनुदिते एवं समयाध्युषिते—ये तीन पक्ष हवन करने के लिए निर्दिष्ट हैं । इनमें से संकल्प करते समय एक पक्ष का ग्रहण अभीष्ट होता है । एक को स्वीकार कर जो उसका पालन नहीं करता, उसी के लिए अर्थवाद वाक्य में श्याव-श्यबल कुत्तों के द्वारा आहुति के परिगृहीत होने की बात कही गई है । मीमांसको का यह सिद्धान्त है कि निन्दा वाक्यों का तात्पर्य किसी की निन्दा में न होकर विधेयकी स्तुति में होता है । इसलिए यहाँ पर संकल्पित पक्ष में दृढ़ निष्ठा करने के लिए अन्य पक्षों में दोष दिखलाया गया है । फलत: यहाँ व्याधात दोष नहीं है ।[3]

(ग) सामधेनी ऋचायें संख्या में एकादश हैं । उन्हें पन्द्रह बनाने के लिए ही प्रथम तथा अन्तिम ऋचाओं की तीन तीन बार आवृत्ति की जाती है । 'अनुवादोपपत्तेश्च' (न्यायसूत्र 2/1/60) में स्पष्ट कहा गया है कि किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए की गई आवृत्ति अनर्थक नहीं होती । 'यह मैं पन्द्रह बार बोले गये वाणीरूपी वज्र से अपने उस शत्रु को नष्ट करता हूँ जो हमसे द्वेष करता है ओर फलत: हम भी जिससे द्वेष करते हैं ।'[4] यह मन्त्र पन्द्रह सामध ेनी ऋचाओं को वज्र होना बतलाता है । परन्तु बिना मन्त्र की आवृत्ति पञ्चदश संख्या बन नहीं सकती । फलत: यहाँ कोई भी 'पुनरुक्त' दोष नहीं है ।

निष्कर्ष यह है कि वेद के अप्रामाण्य का विचार गोतम तथा वात्स्यायन ने ब्राह्मण वाक्यों के आधार पर ही किया है । दोष तथा उसका समाधान दोनों की आधारशिला ब्राह्मण वाक्य ही तो हैं । दोषों के समाधान द्वारा वेद का प्रामाण्य सिद्ध किया गया है न्याय सूत्रों तथा उसके भाष्य में । अत: इसके द्वारा ब्राह्मण ग्रन्थ वेद ही माने गये हैं—इसमें किसी प्रकार का सन्देह उपस्थित नहीं होता ।

महर्षि बादरायण ने अपने 'ब्रह्मसूत्र' में अनेकत्र ब्राह्मण वाक्यों को श्रुति शब्द के द्वारा साक्षात् संकेतित किया है । ऊपर कहा गया है कि उपनिषद् 'ब्राह्मण' के ही अन्तिम अंश है । इसी लिए वे 'वेदान्त' जैसे सार्थक नाम के द्वारा सूचित किय जाते हैं । वेद के अन्त में स्थित होने के कारण ही उपनिषद 'वेदान्त' शब्द द्वारा निर्दिष्ट किये जाते हैं । इन उपनिषदों की ही मीमांसा 'ब्रह्मसूत्र' में उपन्यस्त की गई है । और यह ब्रह्मसूत्र अनेकत्र स्पष्ट शब्दों में उपनिषदों को 'श्रुति' कह कर पुकारता है । दो-तीन उदाहरण पर्याप्त होंगे—

(क) परात्तु तच्छ्रुतेः (ब्रह्मसूत्र 2/3/49) सूत्र में अविद्यावस्था में जीव के कर्तृत्व का विचार किया गया है । जीव का कर्तृत्व ईश्वरानपेक्ष है या ईश्वर-सापेक्ष है ? इस प्रश्न का उत्तर शंकराचार्य के शब्दों में है कि कर्माध्यक्ष, सर्वभूताधिवास, साक्षी एवं चेतयिता परमात्मा की अनुज्ञा से ही जीव की कर्तृत्व-भोक्तृत्वरूप संसार की सिद्धि होती है । इसके प्रमाण हैं—श्रुति और यहाँ श्रुति के द्वारा कौषीतकी उपनिषद् (3/8) का संकेत किया गया है जिसका आशय है जिस जीव का परमात्मा संसार से उन्नयन करना चाहता है उससे तो वह साधु कर्म करवाता है और जिसे अध ोलोक में ले जाना चाहता है उससे असाधु कर्म करवाता है । परमात्मा का ही आदेश जीव के लिए सर्वोपरि है ।

(ख) सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते हि तद्विद: (ब्र. सू. 3/2/4) सूत्र का आशय है कि स्वप्न भविष्य में होने वाले साधु एवं असाधु कार्यो का सूचक नियमेन होता है । इस तथ्य के सूचक है श्रुति के वाक्य और इन वाक्यों के अन्तर्गत छान्दोग्य उपनिषद् (5/2/9) का निर्देश शंकराचार्य ने किया है 1। और अन्य उपनिषदों के वाक्य भी यहाँ श्रुति वाक्य मान कर उद्धृत किये गये हैं ।

(ग) तदभावो नाडीषु तदद्ु तेरात्मनि च (ब्र. सू. 3/2/7) सूत्र में बादरायण ने सषुप्तिविषयक श्रुतियों का उल्लेख किया है जिनके द्वारा यह सिद्ध किया जाता है कि जीव सुषुप्तावस्था में भिन्न भिन्न नाड़ियों में निवास करता है । इस

पर विचार किया गया है कि ये सुषुप्ति स्थान भिन्न-भिन्न होते हैं ? अथवा परस्परापेक्षा से एक ही सुषुप्ति स्थान होता है । यह पूरा का पूरा प्रकरण उपनिषदों के ही आधार पर है । शांकरभाष्य में छान्दोग्य 8/6/3, बृहदा. 2/1/19, कौषी. 4/19, बृहदा. 2/1/17 आदि विभिन्न वाक्यों का उद्धरण देकर विषय की भरपूर मीमांसा की गई है ।

हमारे लिए इतना ही ज्ञान आवश्यक है कि इन सूत्रों में बादरायण तथा भाष्यकार शंकर ने बृहदारण्यक, छान्दोग्य, कौषीतकी, कठ आदि उपनिषदों को ही श्रुति शब्द से अभिहित किया है । फलत; वे ब्राह्मणों को (जिसके अन्तर्गत उपनिषदों का पूरा साम्राज्य विराजता है) श्रुति का ही अंग मानते थे, अन्यथा नहीं ।

अब मीमांसा-सूत्रों का इस समस्या के समाधान के लिए योगदान की परीक्षा करें । यह तो सर्वत्र प्रसिद्ध है कि वेद के दो विभाग हैं—कर्मकाण्ड एवं ज्ञान काण्ड । ज्ञानकाण्ड की विचारणा ब्रह्म-सूत्रों का विषय है । महर्षि जैमिनि ने अपनी द्वादशलक्षणी 'कर्ममीमांसा' के द्वारा वेद के समग्र कर्मकाण्ड का—यज्ञ, उनके अनुष्ठान एवं विधान, उनके भीतर विद्यमान नाना विसंगतियों का समाधान, आदि विषयों का—बड़े विस्तार के साथ बड़ी ऊहापोह शैली में विचार प्रस्तुत किया है । जैमिनि के सूत्रों में आदि से अन्त तक ब्राह्मण ग्रन्थों में निदिष्ट विषयों का ही प्रचुर मात्रा में विवेचन एवं उपबृंहण है । यहाँ सर्वत्र ही ब्राह्मण द्वारा विशेषेण उपन्यस्त विषयों की मीमांसा है, और ब्राह्मण ग्रन्थ श्रुति के अविभाज्य अंग स्वीकृत किये गये हैं ।

महर्षि जैमिनि के ग्रन्थ-निर्माण का उद्देश्य ही है धर्ममीमांसा और इसी लिये उसका आदिम सूत्र है—अथातोधर्मजिज्ञासा और यह धर्म अर्थात् वैदिक धर्म का स्वरूप ब्राह्मणों में ही प्रतिपादित है । इसके विषय में मीमांसा दर्शन के प्रतिष्ठापक जैमिनि एवं भाष्यकार शबर स्वामी के मतमें किसी प्रकार का वैमत्य नहीं है ।

शेषे ब्राह्मण शब्द: (मीमांसा सूत्र 2/1/60) के ऊपर भाष्यकार शबर स्वामी का कथन नितान्त स्पष्ट है—

मन्त्राश्च ब्राह्मणं च वेद: । तत्र मन्त्रलक्षण उक्ते परिशेषसिद्धत्वात् ब्राह्मण लक्षणमवचनीयम् । तात्पर्य यह है कि मन्त्र और ब्राह्मण दोनों मिलकर वेद होते हैं । मन्त्र का लक्षण जब कह दिया, तब परिशेषात् ब्राह्मण का लक्षण भी सिद्ध हो ही जाता है । उसे कहने की कोई आवश्यकता नहीं रहती ।

धर्म का लक्षण जैमिनि ने किया है—चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म: (जै. सू. 1/1/2) यहाँ विधिवाक्य के द्वारा स्थापित इष्टसिद्धि-दायक वस्तु ही 'धर्म' शब्द के द्वारा अभिहित की गई है । फलत: धर्म में विधिवाक्य की ही प्रमाणता मानी गई है । और यह विधि वाक्य तो ब्राह्मणों में ही उपलब्ध होता है, मन्त्रों में नहीं । यथा 'स्वर्गकामो यजेत' यह विधिवाक्य ताण्डय महाब्राह्मण में उपलब्ध होता है ।

मीमांसा सूत्रों का पूरा प्रासाद ही ब्राह्मण साहित्य में निर्दिष्ट विधिविधानों के आधार पर ही तो प्रतिष्ठित है । सैकड़ों ऐसे स्थल हैं जहाँ महर्षि जैमिनि ब्राह्मण को वेदरूप मान कर अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं । फलत: भारतीय विभिन्न दार्शनिकों की दृष्टि में ब्राह्मण वेदका अविभाज्य अंग है ।

मनुस्मृति के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि यह स्मृति वेद अथवा श्रुति के अन्तर्गत ब्राह्मणों का भी समावेश पूर्णतया स्वीकारती है । वह ब्राह्मणों को भी उसी प्रकार श्रुति मानती है, जिस प्रकार किसी मन्त्र को । कतिपय उदाहरणों से इसका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है—

(1) धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं श्रुति: (म. स्मृ. 1/13) इसका अर्थ है कि धर्म की जिज्ञासा करने वालों के लिए श्रुति परम प्रमाण है । धर्म से तात्पर्य अग्निहोत्रादिकों से है, परन्तु यह धर्म वर्णित है कहाँ ? ब्राह्मणों में ही तो । यथा शतपथ ब्राह्मण की उक्ति है 'अग्निहोत्रं जुहुयात् (श. ब्रा. 2/8)

(2) श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः (म. स्मृ. 2/10) यहाँ श्रुति तथा वेद का अभेद प्रतिपादित किया गया है । 'विविधाश्चौपनिषधीरात्म संसिद्धये श्रुतीः' (म. स्मृ. 6/29) यहाँ मनु ने उपनिषदों को 'श्रुति' अर्थात् वेद कहा है । ये उपनिषद् तो ब्राह्मण के ही अंग हैं ।

(3) उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा । सर्वथा वर्तते यज्ञः इतीयं वैदिकी श्रुतिः ।। (2/15) यहाँ मनु ने 'उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति' इन ब्राह्मण वाक्यों को श्रुति माना है ।

(4) वर्णाश्रम-धर्म का विधान वेद में मनु मानते हैं, किन्तु अग्निहोत्र, दर्श पौर्णमास आदि धार्मिक विधानों एवं अनुष्ठानों का निर्देश तो ब्राह्मणों में ही उपलब्ध होता है ।

इतना ही नहीं, कहीं-कहीं तो मनुस्मृति में ब्राह्मणों में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दों का स्थान-निर्देशपूर्वक प्रयोग किया गया है जिससे उस वैदिक निर्देश का सम्बन्ध ब्राह्मणों से स्पष्टतः स्थापित किया गया है । किसी युद्ध में विजयी सेना के लिए मनु का आदेश है कि वह 'उद्धार'1 को अपने राजा को दे जिसकी ओर से सैनिक ने लड़कर विजय प्राप्त किया है—

(5) राज्ञश्च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः (7/79) यहाँ वैदिकी श्रुति से तात्पर्य ऐतरेय ब्राह्मण के इस वाक्य से है जहाँ पूर्वोक्त तथ्य तथा शब्द दोनों प्रयुक्त किये गये हैं—इन्द्रौ वै वृत्रं हत्त्वा...........स महान् भूत्वा देवता अब्रवीत् उद्धारं मउद्धरत' (ऐत. ब्रा. 3/21)

निष्कर्ष यह है कि विजित द्रव्यों में से उत्तम बहुमूल्य द्रव्यों को छाँटकर निकाला गया सुवर्ण, रजत आदि पदार्थ 'उद्धार' शब्द के द्वारा अभिहित किया गया है । यह शब्द वेद में ही प्रयुक्त है । मनुस्मृति ने ब्राह्मण वाक्य का अक्षरशः अनुवाद किया है । इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि मनुस्मृति ने ब्राह्मण-ग्रन्थों में निर्दिष्ट धर्मों को वैदिक श्रुति द्वारा प्रतिपादित धर्म अंगीकृत किया है । मनु प्राचीन परम्परा के ही तो पूर्ण समर्थक जो थे ।

ब्राह्मणग्रन्थ वेद के व्याख्यान माने जाते हैं । तो इससे उनके वेदत्व में किसी प्रकार की हानि नहीं हो सकती । बिना सम्प्रदाय की विच्छिन्नता के किसी कर्ता की स्मृति न रहने से ब्राह्मण भी उसी प्रकार अपौरुषेय है, जिस प्रकार मन्त्र हैं । व्याख्यानरूपता एवं व्याख्येयरूपता पौरुषेयता तथा अपौरुषेयता के प्रयोजक नहीं है अर्थात् जो ग्रन्थ व्याख्येय (व्याख्या करने योग्य) है, वह अपौरुषेय है तथा जो व्याख्यात है वह पौरुषेय है—यह कथन कथमपि उचित नहीं माना जा सकता । गोतम के न्यायसूत्र भी व्याख्येय हैं तो क्या उसे भी कोई व्यक्ति वेद मानता है ? नहीं, कथमपि नहीं । दूसरी ओर यह भी विचारणीय है कि मन्त्रों में भी व्याख्यान-शैली का दर्शन होता है । मन्त्रों की जो आवृत्ति दृष्टिगोचर होती है, उसमें तत्तत् शब्दों के स्थान पर उनके पर्याय ही विद्यमान होते हैं । फलतः एक शब्द के स्थान पर तत्पर्याय देने की शैली ब्राह्मणों के समान मन्त्रभागों में भी विद्यमान दीखती है । तो इतने मात्र से क्या कोई भी सचेता मन्त्रों को वेद-बाह्य कहने के लिए कथमपि उद्यत होगा ? नहीं, कभी नहीं । इसलिए ब्राह्मणों में मन्त्रों के व्याख्यान होने पर भी उसे पौरुषेय मानने में कोई भी तर्क तथा युक्ति नहीं है ।

इस अनुशीलन से ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ब्राह्मणों में भी मन्त्रों के समान ही अपौरुषेयता विद्यमान है । इसलिए दोनों ही श्रुति है—वेद हैं । मन्त्र को श्रुति मानना एवं ब्राह्मण को श्रुतिभिन्न मानना—ऊपर प्रदर्शित प्रामाणिक प्राचीन परम्परा का सर्वथा अपलाप करना है । फलतः प्राचीन परम्परा तथा तर्कयुक्ति दोनों के आधार पर ब्राह्मण श्रुति का ही अविभाज्य अंग सिद्ध होता है—इस सिद्धान्त में सन्देह करने का लेशमात्र भी स्थान नहीं है

आरण्यक

आरण्यक तथा उपनिषद् ब्राह्मणों के परिशिष्ट ग्रन्थ के समान हैं, जिनमें ब्राह्मण-ग्रन्थों के सामान्य प्रतिपाद्य विषय से भिन्न विषयों का प्रतिपादन सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है । सायणाचार्य की सम्मति में आरण्य में पाठ्य होने के कारण इनका 'आरण्यक' नामकरण सर्वथा सार्थक है[1]; अर्थात् इन ग्रन्थों के मनन का स्थान अरण्य का एकान्त शान्त वातावरण ही उपयुक्त था । ग्राम के भीतर इनका अध्ययन कथमपि लाभप्रद, उचित तथा उपादेय नहीं था । आरण्यक का मुख्य विषय यज्ञ नहीं, प्रत्युत यज्ञ-यागों के भीतर विद्यमान आध्यात्मिक तथ्यों की मीमांसा है; यज्ञीय अनुष्ठान नहीं, बल्कि तदन्त गर्त दार्शनिक विचार ही इनके मुख्य विषय हैं । प्राणविद्या की भी महिमा का विशेष प्रतिपादन यहाँ स्पष्टत: उपलब्ध होता है । संहिता के मन्त्रों में इस विद्या का संकेत अवश्य है; परन्तु आरण्यकों में इन्हीं बीजों का पल्लवन है।

आरण्यक की महत्ता सर्वत्र स्वीकृत की गई है । आदिपर्व में महाभारत का कथन है कि ओषधियों से उद्धृत अमृत के समान ही आरण्यक वेदों से सारभूत मान कर उद्धृत किया गया है ।[2] मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद के जिस अंश में प्राणविद्या तथा प्रतीक उपासना का विषय वर्णित है वह अंश 'आरण्यक' कहलाता है । आरण्यक भी ब्राह्मण का ही अंश है, परन्तु उसकी विशिष्टता दिखलाने के लिए वह 'रहस्य ब्राह्मण' नाम्ना व्यवहृत होता है । निरुक्त टीका (1/4) में दुर्गाचार्य ने 'ऐतरेयके रहस्य ब्राह्मणे' कह कर ऐतरेय आरण्यक 2/2/1 का उद्धरण दिया है जिससे रहस्यब्राह्मण तथा आरण्यक की एकता सिद्ध होती है । आरण्यक का नामान्तर 'रहस्य' भी हैं (गोपथ. 2/10) । इसका कारण यही प्रतीत होता है कि आरण्यक यज्ञ के गूढ रहस्य का प्रतिपादन करता है और कर्मकाण्ड की दार्शनिक व्याख्या करता है। मुख्यतया 'ब्रह्मविद्या' रहस्य शब्द से अभिहित की जाती है और आरण्यकों में इस विद्या की भी सत्ता है । फलत: इस कारण भी इस अभिधान की संगति ठीक बैठती है ।

विषय की दृष्टि से आरण्यक और उपनिषद् में साम्य है और इसीलिए बृहदारण्यक आदि आरण्यक ग्रन्थों को उपनिषद् भी माना जाता है, परन्तु दोनों में वर्ण्यविषयक की किञ्चित् समता होने पर भी दोनों का पार्थक्य भी स्पष्टत: लक्षित होता है । आरण्यक का मुख्य विषय प्राणविद्या तथा प्रतीकोपासना है, जब उपनिषद् का वर्ण्य विषय निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप तथा प्राप्ति का विवेचन है । अतएव विषय-भेद के अनुसार दोनों में भेद है, तथापि ब्रह्मविद्या तथा प्राणविद्या जैसी रहस्यात्मक विद्या के वर्णन तथा विवेचन के कारण दोनों में साम्य भी है । अतएव दोनों ही रहस्यग्रन्थ हैं ।

विषय विवेचन

तैत्तिरीय आरण्यक के आरम्भिक अनुवाकों में काल के पारमार्थिक तथा व्यावहारिक रूप का निदर्शन बड़ी सुन्दरता से किया गया है । काल निरन्तर बहता चला जाता है । अखण्ड सम्वत्सर के रूप में इसी पारमार्थिक काल का हमें दर्शन होता है । व्यावहारिक काल अनेक तथा अनित्य है । व्यवहार के लिए उसके नाना खण्ड मुहूर्त, दिवारात्रि, पक्ष, मास आदि—किये जाने पर भी वस्तुत: वह एकरूप-एकाकार ही रहता है । इस प्रसंग में उसकी तुलना उस महानदी से की गई है जो अक्षय स्रोत से सदा प्रवाहित होती है, जिसे नाना सहायक नदियाँ आकर पुष्ट बनाती हैं, तथा जो विस्तीर्ण होकर कभी नहीं सूखती । काल की दशा भी यथार्थ में ऐसी ही है-(तैत्ति. आर. 1/2)—

नदीन प्रभवात् काचिद् अक्षय्यात् स्यन्दते यथा ।
तां नद्योऽभिसमायान्ति सोरुः सती न निवर्तते ।।

NOTES

इस आरण्यक के प्रथम प्रपाठक के तृतीय तथा चतुर्थ अनुवाक में ऋतुओं के रूप का वर्णन बड़ा ही वैज्ञानिक तथा मार्मिक है, जिसमें अनेक ज्ञातव्य तथ्यों का संकलन है, यथा वर्षा ऋतु में रोग की उत्पत्ति तथा पाण्डु रोग का प्रसार (अदु:खो दु:खचक्षुरिव तथा पीत इव दृश्यते), पञ्च महायज्ञों का विवेचन तथा स्वाध्याय के अध्ययन की मीमांसा बड़ी ही सुन्दर है (2/10) । अन्यत्र पुण्य के उपार्जन तथा पाप के वर्जन का आलंकारिक भाषा में निदर्शन है (10-11) ।

प्राणविद्या का महत्त्व आरण्यक का विशिष्ट विषय प्रतीत होता है । अरण्य का शान्त वातावरण इस विद्या की उपासना के लिए नितान्त उपादेय होता है । ऐतरेय आरण्यक में इसका समधिक महत्त्वशाली वर्णन है (2/1-3) । आरण्यक प्राणविद्या को अपनी अनोखी सूझ नहीं बतलाते, प्रत्युक ऋग्वेद के मन्त्रों 1 को अपनी पुष्टि में उद्धृत करते हैं जिससे प्राणविद्या की दीर्घकालीन परम्परा का इतिहास मिलता है ।

सब इन्द्रियों में प्राणों की श्रेष्ठता सुन्दर आख्यायिका के द्वारा सिद्ध की गई है । (ऐतरेय आर. 2/1/4) ।

सोऽयमाकाश: प्राणेन बृहत्या विष्टब्ध:, तद्यथायमाकाश: प्राणेन बृहत्या विष्टब्ध: एवं सर्वाणि भूतानि आपिपीलिकाभ्य: प्राणेन बृहत्या विष्टब्धानीत्येवं विद्यात् । (ऐत. आर. 2/1/6)

अर्थात् प्राण इस विश्व का धारक है, 'प्राण की शक्ति से जैसे यह आकाश अपने स्थान पर स्थित है, उसी तरह सबसे बड़े प्राणों से लेकर चींटी तक समस्त जीव इस प्राण के द्वारा ही विधृत हैं ।' यदि प्राण न होता, तो इस विश्व का जो यह महान् संस्थान हमारे नेत्रों के सामने सतत आश्चर्य पैदा किया करता है, वह कहीं भी नहीं रहता ।

प्राण सर्वत्र व्याप्त है 'सर्वे हीदं प्राणेनावृतम्' (प्राण ये यह सारा जगत् आवृत है) प्राण विश्व का धारक है, अत: वह उसका रक्षक है । मन्त्र में इसीलिए प्राण को 'गोपा' कहा गया है । प्राण ही आयु का कारण है । कौषीतकि उपनिषद् में प्राण के आयुष्कारक होने की बात स्पष्ट ही कही गई है—

"यावद्ध्यस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायु:"—12

जब तक इस शरीर में प्राण रहता है तभी तक आयु है । अत: श्रुतिमन्त्रों में प्राण के लिए 'गोपा' (रक्षक) शब्द का व्यवहार उचित ही है ।

प्राण के द्वारा अन्तरिक्ष तथा वायु की सृष्टि हुई है, प्राण पिता है तथा अन्तरिक्ष और वायु उसकी सन्तान हैं । जिस प्रकार कृतज्ञ पुत्र अपने सत्कर्मों से पिता की सेवा किया करता है, उसी प्रकार अन्तरिक्ष और वायुरूप पुत्र भी प्राण की सेवा में लगे रहते हैं । अन्तरिक्ष का अनुसरण करके ही प्राणीमात्र का संचरण होता है और अन्तरिक्ष की सहायता से ही आदमी दूर स्थान पर कहे गये शब्दों को सुनता है । इस प्रकार अन्तरिक्ष प्राण की परिचर्या करता है । वायु भी शोभन गन्ध ले आकर प्राण को तृप्त कर देता है, तथा इस प्रकार अपने पिता प्राण की सेवा किया करता है । ऐतरेय आरण्यक में प्राण के स्रष्टा तथा पिता होने की बात इस प्रकार कही गई है—

प्राणेन सृष्टावन्तरिक्षं च वायुश्च । अन्तरिक्षं वा अनुचरन्ति । अन्तरिक्षमनुश्रृण्वन्ति । वायुरस्मै पुण्यं गन्धमावहति । एवमेतौ प्राणपितरं परिचरतो ऽन्तरिक्षं च वायुश्च ।

ध्यान करने के लिए प्राण के भिन्न-भिन्न गुणों का उल्लेख विस्तृत रूप से किया गया है । तत्तद्रूप से प्राण का ध्यान करना चाहिये । उन-उन रूपों से उपासना करने से फल भी तदनुरूप ही उपासक को प्राप्त होंगे ।

प्राण ही अहोरात्र के रूप में कालात्मक है । दिन प्राणरूप तथा रात्रि अपानरूप है । सबेरे प्राण सब इन्द्रियों को इस शरीर में अच्छी तरह से फैला देता है । इस 'प्रतनन' को देखकर मनुष्य लोग कहते हैं 'प्रातायि' अर्थात् प्रकर्षरूप से

प्राण विस्तृत हुआ । इसी कारण दिन का आरम्भकाल, जिसमें प्राण का प्रसरण दृष्टि-गोचर होता है, 'प्रात:' (सबेरा) कहलाता है । दिन के अन्त में होने पर इन्द्रियों में संकोच दीख पड़ता है । उस समय कहते हैं 'समागात्'; इसी कारण उस काल को 'सायं' कहते हैं । विकास के कारण दिन प्राणरूप है और संकोच के हेतु रात्रि अपान है । प्राण का ध्यान इस प्रकार अहोरात्र के रूप में करना चाहिए ।

प्राण ही देवात्मक है । वाग् में अग्नि देवता का निवास है; चक्षु सूर्य है; मन चन्द्रमा है; श्रोत्र दिशाएँ हैं । प्राण में इन सब देवताओं को भावना करनी चाहिये । 'हिरण्यदन् वैद' नामक एक ऋषि ने प्राण को इस रूप में जाना था, तथा प्राण की देवता-रूप से उपासना की थी । इस उपासना का विपुल फल उन्हें प्राप्त हुआ (ऐत. आर. 103-104)।

प्राण ही ऋषि-रूप है । ऋग्वेद के मन्त्रों के द्रष्टा अनेक ऋषि कहे गये हैं । इन सब ऋषियों की भावना प्राण में करनी चाहिये, क्योंकि प्राण ही इन मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के आकार में विद्यमान है । प्राण ही शयन के समय वाक्, चक्षु आदि इन्द्रियों के निगरण करने के कारण 'गृत्स' कहलाता है और रति के समय वीर्य के विसर्गजन्य मद को उत्पन्न करने के कारण अपान ही 'मद' हुआ । अत: प्राण और अपान के संयोग को ही गृत्समद कहते हैं । प्राण ही विश्वामित्र है, क्योंकि इस प्राण-देवता का यह समस्त विश्व भोग्य होने के कारण मित्र है—विश्व: मित्रं यस्य असौ विश्वामित्र: । प्राण को देखकर वागाद्यभिमानी देवताओं ने कहा, यही हम में 'वाम'—वन्दनीय, भजनीय, और सेवनीय हैं, क्योंकि यह हममें श्रेष्ठ है । इसी हेतु देवों में 'वाम' होने से प्राण ही वामदेव है । प्राण ही अत्रि है, क्योंकि इस प्राण ने ही समस्त विश्व को पाप से बचाया है (सर्व पाप्मनोऽत्रायत इति अत्रि:) । प्राण ही भरद्वाज है । गतिसम्पन्न होने से मनुष्य के देह को 'वाज' करते हैं; प्राण इस शरीर में प्रवेश कर सतत उसकी रक्षा किया करता है । अत: वह प्राण 'बिभ्रद्वाज' है । इसी कारण वह भरद्वाज है । देवताओं ने प्राण को देखकर कहा था कि तुम 'वसिष्ठ' हो, क्योंकि इस शरीर में इन्द्रियों के निवास करने का कारण प्राण ही है । प्राण ही सबसे बढ़कर वास या निवास का हेतु है । अत: वह वसिष्ठ हुआ । इन निर्वचनों से ही सिद्ध होता है कि प्राण ही ऋषि-रूप है । अत: प्राण में इन ऋषियों की भावना करनी चाहिए तथा तद्रूप उपासना करनी चाहिये । अन्य ऋषियों की भी भावना इसी प्रकार बतलायी गयी है ।

इस आरण्यक में यहाँ तक प्राण के विषय में कहा गया है कि—

"सर्वाऋच: सर्वेषवेदा: सर्वे घोषा एकैव व्याहृति: प्राण एव । प्राण ऋच इत्येव विद्यात्"—(ऐत. 2/2/10) ।

जितनी ऋचाएँ हैं, जितने वेद हैं, जितने घोष हैं, वे सब प्राणरूप हैं । प्राण को ही इन रूपों में समझना चाहिये तथा उसकी उपासना करनी चाहिये । प्राण के इन भिन्न-भिन्न रूपों तथा गुणों को जानकर एतद्रूप से उसकी उपासना करनी चाहिये।

इस प्रकार आरण्यकों में उन महनीय आध्यामिक तत्त्वों का संकेत उपलब्ध होता है, जिनका पूर्ण विकास उपनिषदों में मिलता है । उपनिषद् आरण्यकों के ही अन्त में आने वाले ग्रन्थ हैं तथा प्राचीन उपनिषद् आरण्यकों के ही अंश तथा अंगरूप में आज भी उपलब्ध होते हैं । इस प्रकार वैदिक तत्त्वमीमांसा के इतिहास में आरण्यकों का विशेष महत्त्व है ।

ऐतरेय आरण्यक

ऋग्वेद के दो आरण्यकों में अन्यतम आरण्यक यही है, जो ऐतरेय-ब्राह्मण का ही परिशिष्ट भाग है : इसमें पाँच आरण्यक हैं, जो वस्तुत: पृथक् ग्रन्थ माने जाते हैं । ऋक् श्रावणी को ऋग्वेदी वेदपारायण के अवसर पर ऐतरेय-ब्राह्मण को तो उसके आद्य वाक्य के द्वारा ही निर्देश कर समाप्त करते हैं, परन्तु ऐतरेय आरण्यक के

अवान्तर्गत पाँचों आरण्यकों के आद्य पदों का पाठ पृथक् रूप से करते हैं । यह इनके पृथक् ग्रन्थ मानने का प्रमाण माना जा सकता है । ऋग्वेद के मन्त्रों का बहुश: उद्धरण 'तदुक्तमृषिणा' निर्देश के साथ यहाँ किया गया है ।

प्रथम आरण्यक में महाव्रत का वर्णन है, जो ऐतरेय-ब्राह्मण (प्रपाठक 3) के 'गवामयन' का ही एक अंश है । द्वितीय प्रपाठक के प्रथम तीन अध्यायों में उक्थ या निष्केवल्य शस्त्र तथा प्राणविद्या और पुरुष का विवेचन है । चतुर्थ, पंचम तथा षष्ठ अध्यायों में ऐतरेय उपनिषद् है । तृतीय आरण्यक का दूसरा नाम है संहितोपनिषद्, जिसमें संहिता, पद, क्रम पाठों का वर्णन तथा स्वर, व्यञ्जन आदि के स्वरूप का विवेचन है । इस खण्ड में शाकल्य तथा माण्डूकेय के मतों का उल्लेख है । यह अंश नि:सन्देह प्रातिशाख्य तथा निरुक्त से प्राचीनतर है तथा व्याकरण-विषयक नितान्त प्राचीन विवेचन है । यास्क से प्राचीन होने से यह आरण्यक नि:सदेह एक सहस्र वर्ष विक्रम-पूर्व का होगा । इसमें निर्भुज (संहिता), प्रतृण्ण (पद), सन्धि, संहिता आदि पारिभाषित शब्द प्रयुक्त हुए हैं । चतुर्थ आरण्यक बहुत ही छोटा है, जिसमें महाव्रत के पंचम दिन में प्रयुक्त होने वाली कतिपय महानाम्नी ऋचायें दी गयी हैं । अन्तिम आरयण्क में निष्केवल्य शास्त्र का वर्णन है । इन आरण्यकों में प्रथम तीन के रचयिता ऐतरेय, चतुर्थ के आश्वलायन तथा पंचम के शौनक माने जाते हैं । यह शौनक बृहद्देवता के निर्माता हैं, यह सिद्धान्त मान्य नहीं है । डाक्टर कीथ इसे निरुक्त से अर्वाचीन मानकर इसका रचनाकाल षष्ठशतक वि. पू. मानते हैं, परन्तु वस्तुत: यह निरुक्त से प्राचीनतर है । यह आरण्यक महिदास ऐतरेय के प्रथम तीन आरण्यकों के रचयिता होने से ऐतरेयब्राह्मण का ही समकालीन सिद्ध होता है।

शाङ्खायन आरण्यक

यह ऋग्वेद का दूसरा आरण्यक है । इसमें पन्द्रह अध्याय हैं । इसके तृतीय से लेकर छठें अध्याय तक कौषीतकि उपनिषद् तथा सप्तम-अष्टम अध्यायों को संहितोपनिषद् कहते हैं । इससे भिन्न अध्यायों में आरण्यक के मुख्य विषयों का प्रतिपादन किया गया है ।

प्रथम तथा द्वितीय अध्यायों में महाव्रत का वर्णन उपलब्ध होता है । पूरे एक वर्ष तक चलने वाले गवामयन नामक यज्ञ से उपान्त्य दिन में महाव्रत का अनुष्ठान किया जाता है । इस दिन तीन सवन—प्रात:, मध्यदिन तथा सायं—इन तीन समयों में किये जाते है । इस आरण्यक में होतृ नामक ऋत्विज् द्वारा प्रयुक्त शस्त्रों का वर्णन मिलता है । महाव्रत के समग्र आनुष्ठानिक विधानों का विवरण शांखायन श्रौतसूत्र (17-18वें अध्याय) में उपलब्ध होता है । इस अनुष्ठान का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग महदुक्थ अथवा निष्केवल्य शस्त्र का विंस्तारपूर्वक वर्णन वहीं अन्य अध्यायों (1/4/5, 2 = 1 - 17.) में उपलब्ध होता है ।

कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् चार अध्यायों में विभक्त होकर (तृतीय—षष्ठ अ.) इसी आरण्यक का अंश है तथा संहितोपनिषत् इसके आगे के दो अध्यायों में (सप्तम-अष्टम अ.) विद्यमान है । ये दोनों ही उपनिषद् शांखायन आरण्यक के अविभाज्य अंग हैं । इनका वर्णन उपनिषदों के प्रसंग में आगे किया गया है । नवम अ. में प्राण की श्रेष्ठता का वर्णन है, दशम अ. में आन्तर अग्निहोत्र का बड़ा ही साङ्गोपांग निरूपण है । इस अध्याय का कथन है कि अग्निहोत्र के द्वारा तृप्त तथा आप्यायित देव जीव के भीतर ही विद्यमान हैं । बाह्य अग्निहोत्र के द्वारा इनकी तृप्ति होती है । जो साधक इस आन्तरिक तत्त्व को न जानकर केवल बाहरी हवन में ही अनुरक्त रहता है, वह भस्म में हवन करता है । मृत्यु के दूर करने के लिए एक विशिष्ट याग का 11वाँ अध्याय में विस्तृत विवरण दिया गया है । 12वें अध्याय में विल्व के फल से एक मणि बनाने की प्रक्रिया, काल तथा स्वरूप का वर्णन है जिसके धारण करने से साधक अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है । 13वें तथा 14वें अ. में बड़े संक्षेप में आत्मा तथा ब्रह्म के ऐक्य की प्राप्ति का प्रतिपादन जीवन की सर्वोत्तम उपलब्धि बताई गई है । 'आत्माऽवगम्योऽहं ब्रह्मास्मोति' यही 'मैं ही ब्रह्म हूँ' यही सर्वोच्च उपदेश है इस आरण्यक का और इसकी पुष्टि में यह ऋचा उद्धृत है—

ऋचां मूर्धानं यजुषामुत्तमाङ्गं साम्नां शिरोऽथर्वणां मुण्डमुण्डम् ।
नाधीतेऽधौत – वेदमाहुस्तमज्ञं शिरस् छित्वाऽसौ कुरुते कबन्धम् ।।

इस ऋचा का निष्कर्ष यही है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' यही महावाक्य है ऋक् की मूर्धा, यजुष् का उत्तमांग, साम का शिर तथा अथर्वा का मुण्ड । इसे जो नहीं पढ़ता, उसका वेदपाठ निरर्थक है । वह पाठक वेदों का शिर काट कर उसे कबन्ध बना देता है ।

15वें अध्याय में आचार्य का वंश वर्णित है । इसके अध्ययन से स्पष्ट है कि इस आरण्यक के द्रष्टा का नाम गुणाख्य शाङ्खायन था और उनके गुरु का नाम था कहोल कौषीतकि । ये दोनों अन्तिम आचार्य हैं । कौषीतकि, शाङ्खायन–गुरु-शिष्य थे । इसीलिए इस शाङ्खायन आरण्यक के अन्तर्गत उपनिषद् कौषीतकि नाम्ना प्रख्यात है।

बृहदारण्यक

जैसा इसके नाम से विदित होता है, यह वस्तुत: आरण्यक ही है, तथा यजुर्वेद से सम्बद्ध है, परन्तु आत्मतत्त्व की विशेष विवेचना के कारण यह उपनिषद् माना जाता है और वह भी प्राचीनतम तथा मान्यतम । कृष्णयजुर्वेदीय मैत्रायणीय शाखा का भी एक आरण्यक है, जो मैत्रायणीय उपनिषद् कहलाता है ।

तैत्तिरीय आरण्यक

इस आरण्यक में दश परिच्छेद या प्रपाठक हैं, जो साधारण रीति से 'अरण' कहे जाते हैं तथा इनका नामकरण इनके आद्य पद के अनुसार होता है । जैसे प्रथम का नाम है, भद्र, (2) सहबै, (3) चिति, (4) युञ्जते, (5) देव वै, (6) परे, (7) शिक्षा, (8) ब्रह्मविद्या, (9) भृगु, (10) नारायणीय । इसमें सप्तम, अष्टम तथा नवम प्रपाठक मिलकर 'तैत्तिरीय उपनिषद्' कहलाते हैं । दशम प्रपाठक भी महानारायणीय उपनिषद् है, जो इस आरण्यक का परिशिष्ट माना जाता है । प्रपाठकों का विभाजन 'अनुवाकों' में है, तथा नवम प्रपाठक तक के समस्त अनुवाक संख्या में 170 हैं । तैत्तिरीय-ब्राह्मण के समान ही यहाँ भी प्रत्येक अनुवाक में दस वाक्यों की एक इकाई मानी गई है, तथा प्रत्येक दशक का अन्तिम पद अनुवाक के अन्त में परिगणित किया गया है । इस आरण्यक में ऋग्वेदस्थ ऋचाओं का उद्धरण पर्याप्त संख्या में किया गया है ।

प्रथम प्रपाठक आरुण-केतुक नामक अग्नि की उपासना तथा तदर्थ इष्टकाचयन का वर्णन करता है । द्वितीय प्रपाठक में स्वाध्याय तथा पञ्च महायज्ञों का वर्णन है और यहाँ गंगा-यमुना का मध्यदेश अत्यन्त पवित्र तथा मुनियों का निवास बतलाया गया है । तृतीय प्रपाठक चातुर्होत्र चिति के उपयोगी मन्त्रों का वर्णन प्रस्तुत करता है । चतुर्थ में प्रवर्ग्य के उपयोगी मन्त्रों का संग्रह है । यहाँ कुरुक्षेत्र तथा खाण्डव का वर्णन भौगोलिक स्थिति के अनुसार है । इस प्रपाठक में अभिचार मन्त्रों की भी सत्ता है, जिनका प्रयोग शत्रु के मारण आदि के लिए किया जाता था । 4/27 में तथा 4/37 में 'छिन्धी भिन्धी हन्धी कट' आदि जैसे अभिचार मन्त्रों का स्पष्ट ही वर्णन है । 4/38 में भृगु तथा अंगिरा के रौद्र प्रयोगों का उल्लेख अथर्ववेद के अभिचारों की ओर स्फुट संकेत है । पंच में यज्ञीय संकेतों की उपलब्धि होती है । षष्ठ प्रपाठक में पितृमेध-सम्बन्धी मन्त्रो का उल्लेख किया गया है तथा अनेक मन्त्र ऋग्वेद से यहाँ उद्धृत किये गये हैं । सप्तम, अष्टम तथा नवम प्रपाठक तैत्तिरीय उपनिषद् है । दशम प्रपाठक नारायणीयोपनिषद् है, जो खिल-कांड माना जाता है । सायण के कथनानुसार इसके अनुवाकों की भी संख्या बड़ी अस्त-व्यस्त है । द्रविड़ों के अनुसार इसमें 64 अनुवाक हैं, आन्ध्रों के अनुसार 80, कर्णाटकों के अनुसार कहीं 74 और कहीं 89 । ऐसी परिस्थिति में

मूल पाठ का पता लगाना एक विषम समस्या है । आन्ध्र होने से सायण ने आन्ध्र पाठ के अनुसार 80 अनुवाकों की सत्ता यहाँ मानी है ।

इस आरण्यक में अनेक विशिष्ट बातें स्थान-स्थान पर आती हैं (1) 'कश्यप' का अर्थ है सूर्य । इसकी व्युत्पत्ति पर्याप्त वैज्ञानिक है (कश्यप: पश्यको भवति । यत् सर्व परिपश्यतीति सौक्ष्म्यात् 1/8/8) । अर्थात् 'पश्यक' शब्द से वर्णव्यत्यय के नियम से 'कश्यप' शब्द निष्पन्न हुआ है । इस प्रकार वर्णव्यत्यय (मेटाथेसिस) से निष्पन्न शब्द का यह सुन्दर वैदिक उदाहरण है । (2) पाराशर्य व्यास का उल्लेख यहाँ मिलता है (1/9/2) । (3) द्वितीय प्रपाठक के आरम्भ में ही सन्ध्या में प्रयुक्त सूर्य के अर्घ्य-जल की महिमा वर्णित है कि उस जल के प्रभाव से सूर्य पर आक्रमण करने वाले 'मन्देह' नामक राक्षसों का सर्वथा संहार हो जाता है (2/2) ।

सामवेद से भी सम्बद्ध एक आरण्यक है, जो 'तवलकार आरण्यक' के नाम से प्रसिद्ध है । इसी आरण्यक को 'जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण' भी कहते हैं । इसके चार अध्याय है, तथा प्रत्येक अध्याय में अनुवाक हैं । चतुर्थ अध्याय के दशम अनुवाक में प्रसिद्ध तवलकार या केन उपनिषद् है । अथर्ववेद का कोई आरण्यक उपलब्ध नहीं है । इस वेद से सम्बद्ध जो अनेक उपनिषद् उपलब्ध होते हैं, वे किसी आरण्यक के अंश न होकर आरम्भ से ही स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में विद्यमान हैं ।

पुराणों में आरण्यक के एक विशिष्ट आचार्य का नाम निर्दिष्ट किया है और वह नाम है आचार्य शौनक का । 'शौनको नाम मेधावी विज्ञानारण्यके गुरु:' (पद्मपुराण 5/1/18)—यह पुराणवाक्य यथार्थ है, क्योंकि आचार्य शौनक एक विशिष्ट ब्रह्मवेत्ता ऋषि थे । इनके विषय में उल्लेखनीय तथ्य यह है कि इन्होंने वेदों की अध्यात्मपरक व्याख्या की थी, क्योंकि अस्वामीयभाष्य में 'आत्मानन्द' ने शौनक द्वारा विहित वेद की आध्यात्मिक व्याख्या का उल्लेख किया है । (अध्यात्मविषयां शौनकादिरीतिम्) पद्मपुराण का 'विज्ञानारण्यक' शब्द भी आरण्यक के स्वरूप का परिचायक है । आरण्यक के विज्ञान, विशिष्ट ज्ञान अथवा अध्यात्म ज्ञान के बोधक ग्रन्थ होने पर संकेत यह शब्द देता है ।

उपनिषद्

उपनिषद् आरण्यकों में ही सम्मिलित है-उन्ही के विशिष्ट अंग हैं । वेद के अन्तिम भाग होने के तथा सारभूत सिद्धन्तों के प्रतिपादक होने के कारण उपनिषद् ही 'वेदान्त' के नाम से विख्यात है । भारतीय तत्त्वज्ञान तथा धर्म-सिद्धान्तों के मूल स्रोत होने का गौरव इन्हीं उपनिषदों को प्राप्त है । उपनिषद् वस्तुत: वह आध्यात्मिक मानसरोवर है जिससे ज्ञान की भिन्न-भिन्न सरितायें निकल कर इस पुण्यभूमि में मानवमात्र के ऐहिक कल्याण तथा आमुष्मिक मंगल के लिए प्रवाहित होती हैं । वैदिक धर्म की मूल-तत्त्व-प्रतिपादिका प्रस्थानत्रयी में मुख्य उपनिषद् ही हैं । अन्य प्रस्थान—गीता तथा ब्रह्मसूत्र-उसी के ऊपर आश्रित हैं । भारतवर्ष में उदय लेनेवाले समस्त दर्शनों का—सांख्य तथा वेदान्त आदि का—ही यह मूलग्रन्थ नहीं है, अपि तु जैन तथा बौद्ध दर्शनों के भी मौलिक तथ्यों की आधारशिला यही हैं । उपनिषद् का इसीलिए भारतीय संस्कृति से अविच्छेद्य सम्बन्ध है । इनके अध्ययन से इस संस्कृति के आध्यात्मिक रूप का सच्चा परिचय हमें उपलब्ध होता है । इसीलिए जब से किसी विदेशी विद्वान् को इसके पढ़ने तथा मनन करने का अवसर मिला है, तब में वह इनकी समुन्नत विचारधारा, उदात्त, चिन्तन, धार्मिक अनुभूति तथा आध्यात्मिक जगत् की रहस्यमयी अभिव्यक्तियों को शतमुख से प्रशंसा करता आया है । सत्रहवें शतक में दाराशिकोह ने तथा उन्नीसवें शतक में जर्मन दार्शनिक शोपेनहावर तथा महाकवि गेटे ने अपने ग्रन्थों में इसकी विशेष प्रशंसा की तथा इसे अपने तात्त्विक विचारों का मूल आश्रय बताया ।

'उपनिषद्' शब्द उप नि उपसर्गक सद् धातु से निष्पन्न होता हे । सद् धातु के अर्थ हैं विशरण = नाश होना; गति = पाना या जानना; अवसादन = शिथिल होना (सद्लृ विशरण-गत्यवसादनेषु) । उपनिषद् मुख्यतया 'ब्रह्मविद्या' का द्योतक है, क्योंकि इस विद्या के अनुशीलन से मुमुक्षु जनों की संसार-बीजभूता अविद्या नष्ट हो जाती है (विशरण), वह ब्रह्म की प्राप्ति करा देती है (गति) तथा मनुष्य के गर्भवास आदिक दु:ख सर्वथा शिथिल हो जाते हैं । (अवसादन) । गौण अर्थ में यह शब्द पूर्वोक्त ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक ग्रन्थ-विशेष का भी बोधक है और इसी अर्थ में इसका प्रयोग यहाँ किया जा रहा है । उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति जो आज अधिक प्रचलित हैं, वह 'उप' एवं 'नि' उपसर्गों से युक्त सद् (बैठना) धातु के सिद्ध की जाती है । इस प्रकार अर्थ निकलता है—(गुरु के) निकट विनम्रता पूर्वक बैठना (रहस्य-ज्ञान के लिए); अर्थात् गुरु के निकट विनम्रतापूर्वक बैठ कर प्राप्त किया गया रहस्य-ज्ञान ।

असली उपनिषदों की संख्या में पर्याप्त मतभेद है । मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार उपनिषदों की संख्या 108 है, जिनमें से 10 उपनिषद् सम्बद्ध हैं ऋग्वेद से, 19 शुक्लयजु: से, 12 कृष्णयजु: से, 16 साम से तथा 31 अथर्व से। इधर अड्यार लाइब्रेरी (मद्रास) से लगभग 60 अप्रकाशित उपनिषदों का एक संग्रह प्रकाशित हुआ है, जिसमें छागलेय आदि चार उपनिषदों का भी समावेश है, जिनका अनुवाद 17वीं शताब्दी में दाराशिकोह की आज्ञा से फारसी में किया गया था । आचार्य शंकर ने जिन दश उपनिषदों पर अपना महत्त्वपूर्ण भाष्य लिखा है वे प्राचीनतम तथा प्रामाणिक माने जाते हैं । मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार उनके नाम तथा क्रम इस प्रकार हैं—

ईश केन कठ प्रश्न मुण्ड माण्डूक्य तित्तिरिः ।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं दश ।।

(1) ईश, (2) केन, (3) कठ, (4) प्रश्न, (5) मुण्डक, (6) मांडूक्य, (7) तैत्तिरीय (8) ऐतरेय, (9) छान्दोग्य तथा (10) बृहदारण्यक-ये ही उपनिषद्, प्राचीन तथा सर्वथा प्रामाणिक अंगीकृत हैं । इनके अतिरिक्त कौषीतकि उपनिषद्, श्वेताश्वर तथा मैत्रायणीय भी प्राचीन माने जाते हैं, क्योंकि शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में दशोपनिषद् के साथ प्रथम दोनों को भी उद्धृत किया है, लेकिन उन्होंने इन पर भाष्य नहीं लिखा । श्वेताश्वतर पर शांकरभाष्य आद्य शंकराचार्य की कृति नहीं माना जाता इस प्रकार ये ही त्रयोदश उपनिषद् वेदान्त-तत्त्व के प्रतिपादक होने से विशेषत: श्रद्धाभाजन माने जाते हैं । अन्य उपनिषद् तत्तत् देवता-विषयक होने से 'तान्त्रिक' माने जा सकते हैं । तन्त्रों को वेद से विरुद्ध तथा अर्वाचीन मानने का सिद्धान्त ठीक नहीं है । ऐसे उपनिषदों में वैष्णव, शाक्त, शैव तथा योगविषयक उपनिषदों की प्रधान गणना है ।

उपनिषदों के काल निरूपण करने तथा परस्पर सम्बन्ध दिखलाने के लिए अर्वाचीन विद्वानों ने बड़ा उद्योग किया है । (1) जर्मन विद्वान् डायसन ने उपनिषदों को चार स्तरों में विभक्त किया है :—

(क) प्राचीन गद्य उपनिषद्, जिनका गद्य ब्राह्मणों के गद्य के समान प्राचीन, लघुकाय तथा सरल है—(1) बृहदारण्यक, (2) छान्दोग्य, (3) तैत्तिरीय, (4) ऐतरेय, (5) कौषीतकि तथा (6) केन उपनिषद्: ।

(ख) प्राचीन पद्य उपनिषद्; जिनका पद्य प्राचीन, सरल तथा वैदिक पद्यों के समान है—(7) कठ, (8) ईश, (9) श्वेताश्वतर, (10) महानारायण ।

(ग) पिछले गद्य उपनिषद्—(11) प्रश्न, (12) मैत्री या मैत्रायणीय, (13) माण्डूक्य ।

(घ) आथर्षण उपनिषद्, जिनमें तान्त्रिक उपासना विशेषरूप से अङ्गीकृत है—(i) सामान्य उपनिषद् (ii) योग उप0, (iii) सांख्यवेदान्त उप., (iv) शैव उप., (v) वैष्णव उप., (vi) शाक्त उपनिषद् ।

NOTES

(2) इस क्रम-साधन में अनेक दोषों तथा त्रुटियों को दिखाकर डा. बेलवेलकर तथा रानाडे ने एक नयी योजना तैयार की है। जिसके साधक प्रमाणों की संख्या अनेक है और जिसके अनुसार प्राचीन उपनिषदों में ये मुख्य हैं—छान्दोग्य, बृहदारण्यक, कठ, ईश, ऐतरेय, तैत्तिरीय, मुण्डक, कौषीतकि, केन तथा प्रश्न । श्वेताश्वतर; मांडूक्य और मैत्रायणीय द्वितीय श्रेणी में अन्तर्भुक्त माने गये हैं, तथा तृतीय श्रेणी में वाष्कल, छागलेय, आर्षेय तथा शौनक उपनिषद् आते हैं, जो अभी हाल में उपलब्ध हुए हैं । इस योजना को सिद्ध करने के निमित्त उपन्यस्त तर्कप्रणाली बड़ी ही पेचीदा होने से विश्वास उत्पन्न नहीं करती । उपनिषदों के विभिन्न-कालीन स्तरों की कल्पना इतनी मनमानी तथा प्रमाण-विरहित है कि उन पर विश्वास उत्पन्न नहीं होता । ईशावास्य को द्वितीय स्तर में रखना क्या न्यायसंगत होगा? इसमें यज्ञ की महत्ता ब्राह्मण-काल के समान ही स्वीकृत है (कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समा:), तथा बृहदारण्यक के द्वारा उद्घोषित कर्मसंन्यास की भावना की घोषणा नहीं है (पुत्रैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति-बृहदा.) । अन्य उपनिषदों के समान आरण्यक का अंश न होकर ईश माध्यन्दिन-संहिता का भाग है, तथा मुक्तिकोपनिषद् की मान्य परम्परा के अनुसार यह समस्त उपनिषदों की गणना में प्रथम स्थान रखता है । फलत: इसके प्रथम कालश्रेणी में अन्तर्भुक्त तथा प्राचीनतर होने में कोई भी सन्देह नहीं हो सकता । डा. बेलवेलकर तथा रानाडे ने उपनिषदों का व्याख्यात्मक अध्ययन कर उनके प्रत्येक खण्ड का पारस्परिक सम्बन्ध बतलाया हे । उनकी विश्लेषण शक्ति का परिचायक होने पर भी यह परीक्षण इतना विकट और विषम है कि वह तत्त्व-जिज्ञासुओं के हृदय में सन्तोष और विश्वास नहीं उत्पन्न करता ।

(3) श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने अपने ग्रन्थ में उपनिषदों की प्राचीनता तथा अर्वाचीनता के निर्णयार्थ दो साधन उपस्थित किये हैं।—(1) विष्णु या शिव का परदेवता के रूप में वर्णन तथा (2) दूसरा है प्रकृति-पुरुष तथा सत्त्व, रज, तमत्रिविध गुणों के सांख्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन । यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि प्राचीनतम उपनिषदों ने वैदिक देवताओं से ऊपर उठकर एक अनामरूप ब्रह्म को ही इस सृष्टि का स्रष्टा, नियन्ता तथा पालनकर्त्ता विवेचित किया है । केवल पिछले उपनिषदों ने विष्णु को प्रथमत:, अनन्तर शिव को, उस परम पद पर प्रतिष्ठित किया है । इस दृष्टि से अनाम-रूप ब्रह्म के पतिपादक होने से निम्नलिखित उपनिषदों की सर्व-प्राचीनता नितान्त मान्य है—छान्दोग्य, बृहदारण्यक, ईश, तैत्तिरीय, ऐतरेय, प्रश्न, मुण्डक तथा माण्डूक्य । इसके अनन्तर कठोपनिषद् आता है, जो विष्णु को परमपद पर प्रथमत: प्रतिष्ठित करने का श्रेय रखता है । कृष्ण यजुर्वेदीय उपनिषदों में महादेव इस महनीय पद के अधिष्ठाता माने गए हैं । इसी निमित्त महेश्वर की महत्ता के हेतु श्वेताश्वतर कठ से अर्वाचीन तथा ब्रह्मा, विष्णु और महेश—इस देवत्रयी के गौरव गान के कारण मैत्रायणी उपनिषद श्वेताश्वतर से भी पीछे त्रयोदश उपनिषदों से अर्वाचीनतम माना जाना चाहिए । सांख्य-तथ्यों के प्रतिपादन से भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं । छान्दोग्यादि उपनिषदों में इस सिद्धान्त का कही भी निर्देश नहीं है । कठ में सांख्य के अनेक सिद्धान्त (गुण, महत्, आत्मा अव्यक्त और पुरुष 1/2/3) उपलब्ध होते हैं । श्वेताश्वतर में सांख्य (तत् कारणं सांख्ययोगाधिगम्यम्) का तथा उसके प्रवक्ता कपिल ऋषि का निर्देश (ऋषिप्रसूतं कपिलं पुराणम्) एवं प्रधान, ज्ञेय तथा ज्ञ का वर्णन सांख्य-सिद्धान्तों से पर्याप्त परिचय का द्योतक है । अत: कठ से इसकी अर्वाचीनता माननी चाहिए । मैत्रायणीय में प्रकृति तथा गुणत्रय का सांख्य-सिद्धान्त बड़े विस्तार के साथ दिया गया है और इसलिए इसे इस श्रेणी में पिछले युग की रचना मानना सर्वथा युक्तियुक्त है ।

इस प्रकार मोटे तौर से हम उपनिषदों की तीन श्रेणी में विभक्त कर सकते हैं । प्रथम श्रेणी में हम छान्दोग्य, बृहदारण्यक, ईश, तैत्तिरीय, ऐतरेय, प्रश्न, मुण्डक और माण्डूक्य को रख सकते हैं, जो तत्तद् वेदों के आरण्यकों के अंश होने से नि:सन्दिग्ध रूप से प्राचीन हैं । श्वेताश्वतर, कौषीतकि, मैत्रायणी तथा महानारायण तृतीय श्रेणी में रखे जा सकते हैं और दोनों के बीच में कठ तथा केन उपनिषद् को रख सकते हैं । उपनिषदों का भोगौलिक क्षेत्र मध्यदेश के कुरुपाञ्चाल से आरम्भ होकर विदेह तक फैला हुआ है । इस समय आर्य-निवास से गान्धार नितान्त दूर पड़ गया था, क्योंकि छान्दोग्य के अनुसार किसी विज्ञ के उपदेशानुसार ही मनुष्य गान्धार में पहुँच सकता था । उपनिषद्-काल

की सूचना मैत्रायणीय उपनिषद् में निर्दिष्ट ज्योतिःसम्बन्धी तथ्यों के आधार पर कल्पित की जा सकती है । तिलक के अनुसार मैत्रायणीय उपनिषद् का काल 1900 वि. पू. होना चाहिए और इस प्रकार उपनिषद्-काल का आरम्भ 2500 वि. पू. से मानना न्यायसंगत है 1।

उपनिषदों का प्रथम भाषान्तर

उपनिषदों का भाषान्तर सप्तदश शतक में फारसी भाषा में दाराशिकोह की प्रेरणा पर किया गया था । दाराशिकोह प्रकृत्या दार्शनिक तथा स्वभावतः नितान्त धर्मनिष्ठ राजकुमार था । 1640 ई. में वह काश्मीर यात्रा करने के लिये गया और वहीं उसने उपनिषदों की कीर्ति सुनी । फारसी अनुवाद की भूमिका में उसने स्वयं लिखा है कि कुरान के अध्ययन करने पर उसे उसमें अनेक अनुद्घाटित रहस्यमय तथ्यों से परिचय मिला, जिनके उद्घाटन के निमित्त उसने बाइबिल, इंजील आदि समस्त ग्रन्थों का अध्ययन किया, परन्तु उसकी जिज्ञासा शान्त नहीं हुई । अनन्तर उसने हिन्दूधर्म का अध्ययन किया और यहीं, विशेष कर उपनिषदों में, उसे अद्वैत तत्त्व का रहस्य प्रतिपादित मिला । वह उपनिषदों को 'दैवी रहस्यों का भाण्डागार' कहता है, तथा ज्ञान के पिपासु एवं जिज्ञासु जनों के निमित्त उसे नितान्त उपादेय बतलाता है। उसने काशी के पण्डितों तथा संन्यासियों की सहायता से, उपनिषदों का फारसी में अनुवाद 'सिर्र-ए-अकबर' (महान् रहस्य) के नाम से किया । इन नामकरण का कारण यह था कि वह उपनिषदों को कुरान-शरीफ में केवल संकेतित, परन्तु अव्याख्यात, तत्वों तथा रहस्यों की कुंजी मानता है और केवल इनकी ही सहायता से उनका उद्घाटन हो सकता है। वह कहता है कि उपनिषद् ही कुरान में 'किताबिम मक्नुनिन' (अर्थात् छिपी हुई किताब) शब्द के द्वारा उल्लिखित है ।

भूमिका-भाग के अनन्तर वह संस्कृत के लगभग एक सौ पारिभाषिक शब्दों का फारसी अनुवाद देता है । तदनन्तर वह 50 उपनिषदों का अनुवाद करता है। इस अप्रकाशित, परन्तु उपलब्ध, अनुवाद की भाषा बहुत ही सरल-प्राञ्जल तथा शैली बड़ी ही रोचक और उदात्त मानी जाती है । अनुवाद मूल को यथार्थतः प्रकट करता है, परन्तु व्याख्या के निमित्त टिप्पणियों का अभाव है । मुन्शी महेशप्रसाद जी ने इन 50 उपनिषदों में से 45 के मूल संस्कृत नामों को खोज निकाला है । इनमें बाष्कल, छागलेय, आर्षेय आदि जैसे हाल में प्रकाशितं उपनिषदों के भी अनुवाद मिलते हैं । यह अनुवाद 1657 ई. में दिल्ली के 'मंजिल निगमबोध' स्थान पर लगभग 6 महीनों के अश्रान्त परिश्रम के बाद समाप्त हुआ था । अपने पिता की ओर से दारा काशी का शासक था और यहीं उसने यह अनुवाद काशी के ही पण्डितों तथा संन्यासियों की सहायता से आरम्भ किया, जो दिल्ली में जाकर समाप्त हुआ 1।

इस फारसी अनुवाद को प्रसिद्ध फ्रेंच यात्री बर्नियर अपने साथ फ्रांस ले गया, जो 'आक्वेंतील दू पेराँ' नामक प्रख्यात यात्री तथा 'जन्द अवेस्ता' के अन्वेषक को 1775 ईस्वी में प्राप्त हुआ । उन्होंने एक अन्य प्रति से मिलाकर इसके दो मुख्य अनुवाद प्रस्तुत किये—एक फ्रेंच भाषा (अप्रकाशित), तथा दूसरा लैटिन भाषा में; जो 1801-1802 में 'अउपनेखट' के नाम से दो भागों में प्रकाशित हुआ मैक्समूलर के कथनानुसार यह अनुवाद इतना अव्यवस्थित तथा दुर्बोध था कि शोपेनहावेर जैसे दार्शनिक को ही इसके भीतर विद्यमान उदात्त तत्त्वों का ज्ञान हो सका । इसी अपूर्ण तथा अव्यवस्थित अनुवाद के आधार पर इन्होंने अपने दार्शनिक ग्रन्थों में अनेक औपनिषद सिद्धान्तों का समावेश किया और इसे वे अपनी गुरुत्रयी के अन्तर्गत प्लेटो तथा काण्ट के बाद स्थान प्रदान करते हैं । यही कारण हैं कि वे उपनिषदों को अपने जीवन के ही लिये नहीं, प्रत्युत मरण के निमित्त भी शान्तिदायक ग्रन्थरत्न मानते थे ।

विषय-विवेचन

प्रोफेसर रानाडे ने पूर्वोक्त त्रयोदश उपनिषदों की अन्तरङ्ग परीक्षा बड़ी मार्मिकता, अश्रान्त प्रयास तथा सूक्ष्म विवेचन के बल पर की है, साथ ही प्रत्येक उपनिषद् की 'व्याख्यात्मक' (या विश्लिष्ट) परीक्षा करने में बड़ी प्रतिभा

दिखलाई है कि किस उपनिषद् का कौन-सा अंश किस उपनिषद् के साथ सिद्धान्ततः सम्बद्ध है, परन्तु इतनी दूर न जाकर हम इन उपनिषदों के प्रतिपाद्य विषयों के संक्षिप्त परिचय देने से ही सन्तोष करते हैं ।

NOTES

(1) ईश-उपनिषद्—यह माध्यन्दिनशाखीय यजुर्वेद-संहिता का 40वाँ अध्याय है । आद्य पदों (ईशावास्यमिदं सर्वम्) के आधार पर इसका यह नामकरण है । इसमें केवल 18 मन्त्र हैं, जिनमें ज्ञानदृष्टि से कर्म की उपासना का रहस्य समझाया गया है । यह उपनिषद् कर्म-संन्यास का पक्षपाती न होकर यावज्जीवन निष्काम भाव से कर्म-सम्पादन का अनुरागी है (श्लोक 2) और इसी का अनुवर्तन भगवद् गीता अनेक युक्तियों के उपन्यास के साथ करती है । यहाँ अद्वैतभावना का स्पष्ट प्रतिपादन है । ब्रह्म के स्वरूप के वर्णन के अनन्तर विद्या-अविद्या तथा सम्भूति-असम्भूति का विवेचन है ।

(2) केन-उपनिषद्—अपने आरम्भिक पद (केनेषितं पतति) के कारण यह उपनिषद् 'केन' तथा अपनी शाखा के नाम पर 'तवलकार' उपनिषद् कहलाता है । इस छोटे, परन्तु मार्मिक उपनिषद् में केवल चार खण्ड हैं । प्रथमखण्ड में उपास्य ब्रह्म तथा निर्गुण ब्रह्म में अन्तर बतलाया गया है । दूसरे में ब्रह्म के रहस्यमय रूप का संकेत है । तृतीय और चतुर्थ खण्ड में उमा हेमवती के रोचक आख्यान द्वारा परब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता देवताओं की अल्पशक्तिमत्ता का सुन्दर निदर्शन है । छोटा होने पर भी दार्शनिक दृष्टि से यह पर्याप्तरूपेण महनीय है ।

(3) कठ-उपनिषद्—कृष्णयजुर्वेद की कठशाखा का अनुयायी यह उपनिषद् अपने गम्भीर अद्वैत तत्त्व के लिए नितान्त प्रख्यात है । इसमें दो अध्याय तथा प्रत्येक अध्याय में तीन बल्लियाँ हैं । तैत्तिरीय आरण्यक में संकेतित नचिकेता की उपदेशप्रद कथा से यह आरम्भ होता है । नचिकेता के विशेष आग्रह करने पर यम उस अद्वैत तत्त्व का मार्मिक तथा हृदयंगम उपदेश देते हैं । 'नेह नानास्ति किञ्चन' इस उपनिषद् का गम्भीर शंखनाद है । नित्यों में नित्य, चेतनों में चेतन वह एक ब्रह्म सब प्राणियों की आत्मा में निवास करता है । उसी का दर्शन शान्ति का एकमात्र साधन है (2/213) योग ही उसके साक्षात्कार का प्रधान साधन है । मूँज से इषीका (सीक) के समान इस शरीर के भीतर विद्यमान आत्मा की उपलब्धि योगद्वारा करनी चाहिये—यही इसका व्यावहारिक उपदेश है ।

(4) प्रश्नोपनिषद्—इस उपनिषद् में छः ऋषि ब्रह्मविद्या की खोज में महर्षि पिप्पलाद के समीप जाते हैं और उनसे आध्यात्मविषयक प्रश्नों का उत्तर पूछते हैं । प्रश्नों के उत्तर में निबद्ध होने से इसका 'प्रश्न' उपनिषद् नाम सर्वथा सार्थक है । प्रश्नों का विषय अध्यात्म-जगत् की मान्य समस्याएँ हैं, जिनके समीक्षण के कारण पिप्पलाद एक उदात्त तत्त्वज्ञानी के रूप में हमारे सामने आते हैं । मीमांस्य प्रश्न है— (1) प्रजा की उत्पत्ति कहाँ से होती है ? (2) कितने देवता प्रजाओं का धारण करते हैं तथा कौन इनको प्रकाशित करता है तथा कौन सर्वश्रेष्ठ है ? (3) प्रणों की उत्पत्ति, शरीर में आगमन तथा उत्क्रमण आदि विषयक प्रश्न; (4) स्वप्न, जागरण तथा स्वप्नदर्शन आदि विषयक प्रश्न; (5) ओंकार पुरुष की उपासना तथा उससे लोकों की विजय; (6) पोडशकला-सम्पन्न पुरुष की विवेचना । इन प्रश्नों के उत्तर में अध्यात्म की समस्त समस्याओं का विवेचन बड़ी सुन्दरता तथा गम्भीरता के साथ किया गया है । अक्षर ब्रह्म ही इस जगत् की प्रतिष्ठा बतलाया गया है ।

(5) मुण्डक-उपनिषद्—(तीन मुण्डक तथा प्रत्येक के दो खण्ड) यह अथर्ववेदीय उपनिषद् 'मुण्डक' (मुण्डन-सम्पन्न व्यक्तियों) के निमित्त निर्मित है । इस उपनिषद् में ब्रह्मा अपने ज्येष्ठपुत्र अथर्वा को ब्रह्मविद्या का उपदेश देते हैं । यज्ञीय अनुष्ठान अदृढ़रूप प्लव है, जिसके द्वारा संसार का संतरण कभी नहीं हो सकता है । इष्टापूर्त— यज्ञादि अनुष्ठान को ही श्रेष्ठ मानने वाले व्यक्ति स्वर्गलोक पाकर भी अन्ततः इस भूतल पर आते हैं । (1/2/10) । इस प्राकर कर्मकाण्ड की हीनता तथा दोषों के अनन्तर ब्रह्मज्ञान की श्रेष्ठता प्रतिपादित है । द्वैतवाद का प्रधान स्तम्भरूप 'द्वा सपुर्णा सयुजा सखाया' (3/1/1) मन्त्र इस उपनिषद् में आता है । 'वेदान्त' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग यहीं उपलब्ध होता है (3/2/6) । ब्रह्मज्ञानी के ब्रह्म में लय प्राप्त करने की तुलना नामरूप को छोड़कर नदियों के समुद्र में अस्त होने से दी गई है । इसमें सांख्य तथा वेदान्त के तथ्यों का भी यत्किञ्चित् प्रभाव दृष्टिगोचर होता है ।

(6) माण्डूक्य-उपनिषद—आकार में जितना स्वल्पकाय है, सिद्धान्त में उतना ही विशाल है । इसमें केलव 12 खण्ड या वाक्य हैं, जिनमें चतुष्पाद आत्मा का बड़ा ही मार्मिक तथा रहस्यमयं विवेचन है । इस उपनिषद् की ऊँकार की मार्मिक व्याख्या करने का श्रेय प्राप्त है । ऊँकार में तीन मात्रायें होती हैं, तथा चतुर्थ अंश 'अमात्र' होता है । चैतन्य की तदनुरूप चार अवस्थायें होती हैं—जागरित, स्वप्न, सुषुप्ति तथा चैतन्य की अव्यवहार्य तुरीय दशा । इन्हीं का आधिपत्य धारण करने वाला आत्मा भी क्रमश: चार प्रकार का होता है—वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ तथा प्रपंचोपशमरूपी शिव, जिनमें अन्तिम ही चैतन्य आत्मा का विशुद्ध रूप है । इसके ऊपर गौडपदाचार्य ने चार खण्डों में विभक्त अपनी कारिकायें (माण्डूक्य-कारिका) लिखी है, जो मायावादी अद्वैत-वेदान्त की पूर्ण प्रतिष्ठा मानी जाती है ।

(7) तैत्तिरीय-उपनिषद्—यह तैत्तिरीय आरण्यक का (सप्तम, अष्टम तथा नवम खण्डों का) ही सम्मिलित अंश है । आरण्यक के सप्तम प्रपाठक का नाम है 'संहिता उपनिषद्', जो यहाँ 'शिक्षावल्ली' के नाम से विख्यात है । आरण्यक का वारुणी उपनिषद् (प्रपाठक आठ और नव) यहाँ ब्रह्मानन्दवल्ली और भृगुवल्ली के नाम से प्रख्यात हैं । अत: ब्रह्मविद्या की दृष्टि से वारुणी उपनषिद् का ही प्राधान्य है, परन्तु चित्त की शुद्धि तथा गुरु-कृपा की प्राप्ति के निमित्त शिक्षावल्ली का भी गौणरूपेण उपयोग है । इसमें कई प्रकार की उपासना तथा शिष्य और आचार्य-सम्बन्धी शिष्टाचार का निरूपण है । 11वें अनुवाक में स्नातक के लिए उपयोगी शिक्षाओं का एकत्र निरूपण है, जिससे शिखा के उच्च आदर्श का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है । ब्रह्मानन्दवल्ली में ब्रह्मविद्या का निरूपण है, तदनन्तर भृगुवल्ली में ब्रह्मप्राप्ति का मुख्य साधन 'पञ्चकोशविवेक' वरुण तथा भृगु के संवाद रूप से वर्णित है ।

(8) ऐतरेय-उपनिषद्—ऐतरेय आरण्यक के द्वितीय आरण्यक के अन्तर्गत चतुर्थ से लेकर षष्ठ अध्यायों का नाम 'ऐतरेये-उपनिषद्' है । इसमें तीन अध्याय हैं, जिनके द्वितीय तथा तृतीय अध्याय तो एक एक खण्ड के हैं । प्रथम अध्याय में दो खण्ड हैं, जिसमें सृष्टितत्त्व का मार्मिक विवेचन है; मनुष्य का शरीर ही पुरुष के लिए उपयुक्त आयतन सिद्ध किया गया है, जिसके भिन्न-भिन्न अवयवों में देवताओं ने प्रवेश किया, तदनन्तर परमात्मा उसके मूर्धा-सीमा को विदीर्ण कर प्रवेश करता है, तथा जीवभाव को प्राप्त कर भूतों के साथ तादात्म्य रखता है । तदनन्तर गुरुकृपा से बोध के अनन्तर सर्वव्यापक शुद्धस्वरूप का साक्षात्कार होता है तथा 'इन्द्र' की संज्ञा प्राप्त होती है । अन्तिम अध्याय में 'प्रज्ञान' की विशेष महिमा प्रदर्शित है जिससे नि:सन्देह यह उपनिषद् आदर्शवाद का प्रतिपादक सिद्ध होता है ।

(9) छान्दोग्य-उपनिषद्—यह सामवेदीय उपनिषद् प्राचीनता, गम्भीरता तथा ब्रह्मज्ञान-प्रतिपादन की दृष्टि से उपनिषदों में नितान्त प्रौढ़, प्रामाणिक तथा प्रमेय-बहुल है । इसमें आठ अध्याय या प्रपाठक हैं जिनमें अन्तिम तीन अध्यात्म-ज्ञान की दृष्टि से नितान्त महत्त्वपूर्ण हैं । इसके आदिम अध्यायों में अनेक विद्याओं का, ऊँकार तथा साम के गूढ़ स्वरूप का विवेचन मार्मिकता से किया गया है । द्वितीय अध्याय के अन्त में 'शैव उद्गीथ' है, जो केवल भौतिक स्वार्थ-पूर्ति के लिए योगानुष्ठान तथा सामगायन करने वाले व्यक्तियों के ऊपर मार्मिक व्यंग्य है । तृतीय अध्याय में सूर्य की देवमधु के रूप में उपासना है । गायत्री का वर्णन, घोर आङ्गिरस के द्वारा देवकीपुत्र कृष्ण को अध्यात्म-शिक्षा (3/17) तथा अन्त में अण्ड से सूर्य के जन्म (3/19) का सुन्दर विवेचन है । इस अध्याय का यह प्रसिद्ध सिद्धान्त—'सर्व खल्विदं ब्रह्म'—सब कुछ ब्रह्म ही है (3/14/1), अद्वैतवाद का विजयघोष है । चतुर्थ अध्याय में रैक्व का दार्शनिक तथ्य, सत्काम जाबाल तथा उसकी माता की कथा (4/4/9); उपकोशल को सत्यकाम जाबाल से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति (4/101-17) का विस्तृत तथा रोचक विवेचन है । पंचम प्रपाठक में प्रवाहण जाबालि के दार्शनिक सिद्धान्त तथा केकय अश्वपति के सृष्टि-विषयक तथ्यों का विशद वर्णन है, जिनमें छ: विभिन्न दार्शनिकों के सिद्धान्तों का समन्वय किया गया है (5/11-24) । षष्ठ प्रपाठक छान्दोग्य का नितान्त महनीय अध्याय है जिसमें महर्षि आरुणि के ऐक्यप्रतिपादक सिद्धान्तों की रोचक व्याख्या है । जिस प्रकार याज्ञवल्क्य बृहदारण्यक के सर्वश्रेष्ठ अध्यात्म-उपदेष्टा हैं, उसी प्रकार आरुणि छान्दोग्य के सर्वतोमान्य दार्शनिक हैं । इनके

सिद्धान्त इतने सुन्दर, प्रामाणिक तथा तर्कपूर्ण हैं कि शतपथ के अनुसार याज्ञवल्क्य को आरुणि के शिष्य होने में हमें कोई आश्चर्य नहीं प्रतीत होता । 'तत्त्वमसि'—आरुणि की अध्यात्म-शिक्षा का पीठस्थानीय मन्त्र है । सप्तम प्रपाठक में सनत्कुमार तथा नारद का नितान्त विश्रुत वृतान्त है जिसमें मंत्रविद् नारद आत्मविद्या की शिक्षा के निमित्त महर्षि सनत्कुमार के पास आते हैं । इस उपदेश का पर्यवसान होता है—"यो वै भू तदमृतम्; अथ यदल्पं तन्मर्त्यम् ।" अत: इसे भूमा-दर्शन कह सकते हैं । अन्तिम प्रपाठक में इन्द्र तथा विरोचन की कथा है तथा आत्मप्राप्ति के व्यावहारिक उपायों का सुन्दर संकेत किया गया है ।

(10) बृहदारण्यक—परिमाण में ही विशाल नहीं है, प्रत्युत तत्त्वज्ञान के प्रतिपादन में भी गम्भीर तथा प्रामाणिक है । यह बृहत्तम, विपुलकाय तथा प्राचीनतम उपनिषद् सर्वत्र स्वीकृत है । इसमें छ: अध्याय हैं । इस उपनिषद् के सर्वस्व दार्शनिक हैं, याज्ञवल्क्य, जिनकी उदात्त अध्यात्म-शिक्षा से यह ओतप्रोत है । प्रथम अध्याय (6 ब्राह्मण) में मृत्यु के द्वारा समग्र पदार्थों के ग्रास किए जाने का, प्राण की श्रेष्ठता विषयक रोचक आख्यायिका तथा सृष्टि विषय सिद्धान्तों का वर्णन है । द्वितीय अध्याय (छ: ब्राह्मण) के आरम्भ में अभिमानी गार्ग्य तथा शान्तस्वभाव काशी के राजा अजातशत्रु का रोचक संवाद है । इसी अध्याय (चतुर्थ ब्राह्मण) में हमारा प्रथम बार याज्ञवल्क्य से साक्षात्कार होता है, जो अपनी दोनों भार्याओं—कात्यायनी तथा मैत्रेयी को—अपना धन विभक्त कर वन में जाते हैं, तथा मैत्रेयी के प्रति उनकी दिव्य दार्शनिक-सन्देश की वाणी हमें यहीं श्रवणगोचर होती है । तृतीय तथा चतुर्थ अध्यायों में जनक तथा याज्ञवल्क्य का आख्यान है । तृतीय में जनक की सभा में नाना ब्रह्मवादियों का याज्ञवल्क्य के हाथों परास्त तथा मौन होने के विशेष वर्णन हैं । तृतीय में इस प्रकार महाराज जनक वैदेह केवल तटस्थ श्रोता हैं, परन्तु चतुर्थ में वे स्वयं महर्षि से तत्त्वज्ञान सीखते हैं । इस अध्याय के पञ्चम ब्राह्मण में कात्यायनी तथा मैत्रेयी का आख्यान पुन: स्पष्टत: वर्णित है । पञ्चम अध्याय में नाना प्रकार के दार्शनिक विषयों का विवेचन है, जैसे—नीति-विषयक, सृष्टि-विषयक तथा परलोक-विषयक तथ्य । षष्ठ अध्याय में प्रवहण जैबलि तथा श्वेतकेतु आरुणेय का दार्शनिक संवाद है, जिसमें जैबलि ने पञ्चाग्नि-विद्या का विशद विवेचन किया है । याज्ञवक्ल्य का तत्वज्ञान बड़ा ही विशद, प्रामाणिक तथा तर्कपूर्ण है । उपनिषद युग के वे सर्वमान्य तत्त्वज्ञ थे, जिसके सामने ब्रह्मविद् जनक भी नतमस्तक होकर तत्त्वज्ञान सीखने से पराङ्मुख नहीं होते । वे केवल सिद्धान्तवादी ही नहीं थे, प्रत्युत व्यवहार में तत्त्वज्ञान के उपदेशक थे और उनका यह उपदेश बृहदारण्यक की आधात्मशिक्षा का महत्त्वपूर्ण अंग है—

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि"— (बृहदा. 4/5/6) ।

(11) श्वेताश्वतर—यह उपनिषद् तो शैवधर्म के गौरव-प्रतिपादन के लिए निर्मित प्रतीत होता है । द्वितीय अध्याय में योग का विशद प्राचीन विवेचन है । तृतीय से पंचम तक शैव तथा सांख्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन है । अन्तिम अध्याय में गुरुभक्ति का तत्त्व वर्णित है । गुरुभक्ति का ही रूप है (यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ-6/23) । भक्तितत्त्व का प्रथम प्रतिपादन इस उपनिषद् की मुख्य विशेषता है । यह उस युग की रचना जब सांख्य का वेदान्त से पृथक्करण नहीं हुआ था । दोनों के सिद्धान्त मिश्रित रूप से उपलब्ध होते हैं । औपनिषद् सांख्य सेश्वर था । इसलिए सांख्य का ईश्वर प्रधान के ऊपर आधिपत्य रखने वाला वर्णित है (6/10); वेदान्त में अभी माया का सिद्धान्त विकसित नहीं हुआ था । त्रिगुणों की साम्यावस्थारूपा प्रकृति (अजा) का विवेचन नि:सन्देह है (4/5 = अजामेकां लोहितकृष्ण शुक्लाम्), परन्तु अभी तक वह पूरा सांख्य-तत्त्व प्रतीत नहीं होता । क्षर, प्रधान, अक्षर आदि तत्त्वों का समावेश गीता ने यहीं से लिया (1/10) । शिव परमात्मतत्त्व के रूप में अनेकश: वर्णित हैं (अमृताक्षरं हर: 1/10) । इस प्रकार सांख्य तथा वेदान्त के उदयकाल के सिद्धान्तों की जानकारी के लिए यह उपनिषद् महत्त्वपूर्ण है ।

(12) कौषीतकि-उपनिषद्—यह शाङ्खायन आरण्यक के चार अध्यायों में (तृतीय अ. से षष्ठ अ. तक) वर्णित है । यहाँ प्रज्ञा तथा प्राण की महत्ता का विशद विवेचन है । प्रज्ञा के द्वारा ही जीव नाना लोकों से होता हुआ ऊर्ध्वतम

लोक ब्रह्मलोक की प्राप्ति करता है (प्रथम अ.) । अनन्तर के अध्याय में कौषीतकि ऋषि प्राण की श्रेष्ठता का निरूपण करते हैं । प्राण को ही ब्रह्म मानने का उपदेश यहाँ दिया गया है । सन्ध्यावन्दन सम्बन्धी भी अनेक उपदेश हैं । तृतीय अ. में इन्द्र के पास राजा प्रतर्दन के उपदेशार्थ जाने का उल्लेख है । इन्द्र के उपदेश का मुख्यरूप है प्राण तथा प्रज्ञा की महत्ता । प्राण के द्वारा आयु की तथा प्रज्ञा द्वारा सत्य-संकल्प की प्राप्ति होती है । इन्द्र ने वह महनीय उपदेश दिया है जिसके जानने पर आत्मज्ञान की उपलब्धि होती है । इसका अन्तिम उपदेश है—

एता भूतमात्राः प्रज्ञा मात्रास्वर्पिताः । प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः । स एव प्राण एव प्रज्ञात्माऽनन्तोऽजरोऽमृतो न साधुना कर्मणा भूयान् भवति नो एवासाधुना कनीयान् (5/8) ।।

षष्ठ अध्याय में काशीराज अजातशत्रु एवं बालाकि का दार्शनिक संवाद ब्रह्मन् के स्वरूप, ज्ञान तथा प्राप्ति के विषय में है । बृहदारण्यक उपनिषद् के द्वितीय अध्याय में इसी राजा अजातशत्रु के द्वारा व्याख्यात ब्रह्मतत्त्व के साथ तुलना करने के लिए यह संवाद अपना महत्त्व रखता है ।

संहितोपनिषद्—यह उक्त उपनषिद् से सम्बद्ध है । यज्ञ के आध्यात्मिक स्वरूप के वर्णन के प्रसंग में यहाँ अनेक आध्यात्मिक समीकरण दिये गये हैं । तत्तद् ऋषियों के नाम भी निर्दिष्ट हैं । यह उपनिषद इन तथ्यों की जानाकरी देने वाला महनीय उपनिषद् है । इसमें (8/4) चार पुरुष निर्दिष्ट हैं—शरीर पुरुष (दैहिक आत्मा जिसका अशरीर प्रज्ञात्मा ही रस है), छन्दः पुरुष (अक्षरसमाम्नाय रूप जिसका अकार ही रस है), वेद पुरुष (जिसके द्वारा वेद का ज्ञान होता है इसका ब्रह्म ही रस है); महापुरुष (संवत्सर रूप जिसका आदित्य ही रस है) इन चारों में एकत्व स्थापित है । जो अशरीर प्रज्ञात्मा है वही वह आदित्य है । दोनों को एक ही समझना चाहिए । इस तथ्य की पुष्टि में 'चित्रं देवानामुदगादनीकं (ऋ. 1/115/1) मन्त्र प्रमाण रूप में उद्धृत किया गया है । यहीं दैवी तथा मानुषी-वाणी का भी परस्पर साम्य दिखलाया गया है (8/9) । इससे प्रतीत होता है कि उस आरण्यक काल में संगीत शास्त्र की विशेष उन्नति हुई होगी । तभी तो इस देहरूपी दैवी वीणा के आधार पर मानुषी-वीणा के निर्माण की कल्पना जागी होगी । इस उपनिषद् के अन्त में हवन का मुख्य तात्पर्य बतलाया गया है । यह हवन वाक् में प्राण का हवन है तथा प्राण में वाक् का हवन है (वाचि हि प्राणं जुहुमः, प्राणे वाचम् 8/11) । वीणा के विषय में ताण्डविन्द नामक आचार्य का कथन है कि जिस प्रकार अकुशल-वादक के द्वारा आरब्ध वीणा अपने समग्र अर्थ की साधना नही करती, उसी प्रकार अकुशल वक्ता के द्वारा आरब्ध वाक् समस्त वागर्थ की साधना नहीं करती । कुशल वादक की दशा भिन्न होती है, उसी प्रकार वागर्थ की सिद्धि के लिए वक्ता को कुशल होना चाहिए ।

इस उपनिषद् में नाना प्रकार की संहिताओं की कल्पना है जिसके अनुष्ठान से विभिन्न उपादेय फलों का वर्णन किया गया है ।

इस उपनिषद् में चतुर्थ अध्याय में गार्ग्य बालाकि के आवास का वर्णन निर्दिष्ट है । इस प्रसङ्ग में उशीनर, मत्स्य, कुरुपाञ्चाल, काशि-विदेह के नाम दिये गये हैं । इससे विदित होता है 'कौषीतकि उपनिषद्' का भौगोलिक क्षेत्र उत्तरीय भारत ही था । काशी से इस उपनिषद् का विशेष सम्बन्ध प्रतीत होता है, क्योंकि काशी के ही राजा (काश्य) अजातशत्रु से बालाकि ने ब्रह्म-विषयक प्रश्नों का उत्तर पूछा था । यही उपदेश बृहदारण्यक उपनिषद् के द्वितीय अध्याय में भी निर्दिष्ट है ।

(13) मैत्री या मैत्रायणी-उपनिषद्—अपने विचित्र सिद्धान्तों के लिए सदा प्रख्यात रहेगा । इसमें सांख्य-दर्शन के तत्त्व, योग के षडङ्गो का (जो आगे चलकर पातञ्जल योग में अष्टाङ्ग रूप से विकसित होता है) तथा हठयोग के मन्त्र-सिद्धान्तों का वर्णन दर्शनों के विकास को समझने के लिए नितान्त उपादेय है । इस उपनिषद् में सात प्रपाठक हैं । पूरा उपनिषद् गद्यात्मक है, परन्तु स्थान-स्थान पर पद्य भी दिये गये हैं । अन्य उपनिषदों के भी निःसन्दिग्ध संकेत तथा उद्धरण यहाँ मिलते हैं । यथा विद्वान् पुण्य-पापे विधूय (मै. 6/18 = मुण्डक 3/1/3),

शब्दब्रह्मणि निष्णात: परं ब्रह्माधिगच्छति (मै. 6/22 = ब्रह्मबिन्दु उप. 17), यदापञ्चवतिष्ठन्ते (मै. 6/30 = कठ 6/10) सर्वमम एव (मै. 6/30 = बृहदा. 1/5/3) । ईश तथा कठ के दो दो उद्धरण सप्तम प्रपाठक में मिलते हैं । इसलिए यह त्रयोदश उपनिषदों में अपेक्षाकृत अर्वाचीन माना जाता है ।

(14) महानारायणोपनिषद् या याज्ञिक्युपनिषद्— सायण-भाष्य के साथ प्रकाशित तैत्तिरीय आरण्यक का दशम प्रपाठक और उनके पूर्ववर्ती भट्टभास्कर के भाष्य के साथ प्रकाशित उस ग्रन्थ का छठा प्रपाठक महानारायणोपनिषद्, याज्ञिक्युपनिषद् या केवल नारायणौयोपनिषद् के नाम से अभिहित है । इसके अनुवाकों की संख्या की विविधता का उल्लेख आरण्यक के प्रसंग में किया जा चुका है । पाठ की अनेकरूपता तथा वेदान्त, संन्यास, दुर्गा, नारायण, महादेव, दन्ति और गरुड़ आदि शब्दों के मिलने के कारण इसे बहुत प्राचीन नहीं माना जाता; फिर भी विंटरनित्स ने मैन्युपनिषद् से इसे प्राचीन माना है । बौधायन-सूत्रों में इसका विवरण पाया जाता है, अत: यह उपनिषद् अधिक अर्वाचीन भी नहीं कहा जा सकता । इसमें नारायण का उल्लेख परमात्मतत्त्व के रूप में बहुश: किया गया है (उदा. द्रष्टव्य: 64 अनुवाकवाले प्रपाठक के 11वें अनु. के 1–5 मन्त्र); साथ ही स्नान, आचमन, होम आदि के लिए उपयुक्त मन्त्रों की सत्ता तथा अन्त में (अनुवाक 64) तत्त्वज्ञानी के जीवन का यज्ञ के रूप में चित्रण (यथा, आत्मा यजमान है, श्रद्धा पत्नी है इत्यादि) है । इन्हीं तथ्यों के आधार पर इसका नाम नारायणीय या याज्ञिकी उपनिषद् रखा गया है । इसमें आत्मतत्त्व का निरूपण विशद रूप में है । एक ही परम सत्ता है; वही सब कुछ है : (अनुवाक 10, मन्त्र 20)—

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।

वृक्ष इव स्तब्धे दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ।।

इस प्रकार के निरूपणों के साथ ही उस परम-सत्ता के अभिव्यक्ति-स्वरूप अनेक देवों का उल्लेख है और उनसे प्रेरणा प्रदान करने की याचना की गई है; मेधार्थ प्रार्थना है, पापनिवृत्ति के लिए त्रिसुपर्ण मन्त्र दिये गये हैं, पुण्य-कर्म की प्रशंसा की गई है :—

"यथा वृक्षस्य संपुष्पितस्य दूराद् गन्धो वात्येवं पुण्यस्य कर्मणो दूराद् गन्धो वाति"—(अनु. 9) ।

सत्य, तपस्, दम, शम, दान, धर्म, प्रजनन, अग्नि अग्निहोत्र, यज्ञ, मानसोपासना इत्यादि का वर्णन बहुत ही प्रभावोत्पादक है । उदाहरणार्थ सत्य का वर्णन देखिए । (अनुवाक 63/2)—

सत्येन वायुरावाति सत्येनादित्यो रोचते दिवि ।

सत्यं वाचः प्रतिष्ठा सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम् ।।

तस्मात् सत्यं परम। वदन्ति ।

(15)वाष्कलमन्त्रोपनिषद्—यह उन चार नव-प्राप्त उपनिषदों में से अन्यतम है, जो केवल फारसी, लैटिन, जर्मन अनुवादों से हमारे स्मृति-पटल पर थे और अब जिनकी केवल एक-एक पाण्डुलिपि आड्यार लाइब्रेरी में प्राप्त है । इनका प्रकाशन तीन बार हुआ है :— (1) मद्रास से, (2) डा. बेल्वेल्कर द्वारा और (3) अष्टादश-उपनिषद् के अन्तर्गत वैदिक-संशोधन-मण्डल, पूना से । यह ऋग्वेद की उस बाष्कल शाखा के अन्तर्गत है जो अब अप्राप्य है । इसमें कुल 25 मन्त्र हैं, आत्म-तत्त्व ही प्रतिपाद्य विषय है । दो-तीन मन्त्रों के उद्धरण से इसकी शैली और भावों को अभिव्यक्त किया जा सकता है :—

अहं वेदानामुत यज्ञानामहं छन्दसामविदं रयीणाम् ।

अहं पचामि सरसः परस्य यदि देवी सरिरस्य मध्ये ।।14।।

अहं चरामि भुवनस्य मध्ये पुनरुच्चावचं व्यश्नुवानः ।

यो मां वेद निहितं गुहा चित् स इदित्था बोभबीदाशयध्यै ।।18।।

अहमस्मि जरिता सर्वतोमुखः पर्यावरणः परमेष्ठी नृचक्षाः ।

अहं विष्वङ्ङहमस्मि प्रसात्वानहमेकोऽस्मि यदिदं नुकिञ्च ।।25।।

NOTES

(16) **छागलेयापनिषद्**—बाष्कलमन्त्रोपनिषद् की भाँति इसकी भी केवल एक ही पाण्डुलिपि आडयार लाइब्रेरी में प्राप्त है । इसका प्रकाशन भी उसके साथ उपर्युक्त तीन स्थानों से हुआ है । बहुत ही छोटा उपनिषद् (केवल 6 अनुच्छेद या पैराग्राफ वाला) है । इसके अन्त में एक बार छागलेय नाम आया है । सरस्वती के तट पर ऋषियों के सत्र का उल्लेख है । उन्होंने कवष ऐलूष की निन्दा 'दास्याः पुत्र' कहकर की । कवष ऐलूष ने पास के ही आत्रेय के शव की ओर संकेत करके पूछा कि जिस आत्रेय ने शुनको के सत्र में अच्छावाक् के रूप में महान् यज्ञीय कार्य किये थे, उनका वह सब ज्ञान क्या हुआ ? ऋषि बता न सके । उन्होंने कवष ऐलूष से प्रार्थना की कि हमें उपनीत करके वह ज्ञान बतावें । कवष ऐलूष ने उन्हें कुरुक्षेत्र में वालिशों (एतन्नामक ऋषियों) के पास भेजा । वहाँ वे वर्ष भर रहे और तदनन्तर बालिशों ने उन्हें रथ के दृष्टान्त द्वारा उपदेश दिया, जिसका सार है:—

यथैतत्कूबरस्तक्ष्णायोज्झितो नेङ्गते मनाक् ।

परित्यक्तोऽयमात्मना तद्वद्देहो विरोचते ।।

(17) **आर्षेयोपनिषद्**—यह भी उपर्युक्त दो उपनिषदों के समान एकमात्र पाण्डुलिपि से ज्ञात एवं प्रकाशित है । इसमें भी केवल अनुच्छेद या पैराग्राफ हैं । ऋषियों का ब्रह्मोद्य (ब्रह्मविचार) परस्पर विमर्श द्वारा वर्णित है । विश्वामित्र, जगदग्नि, भारद्वाज, गौतम, वसिष्ठ प्रमुख ऋषि हैं । इन ऋषियों के विचार विमर्श का विवरण देने से ही इसका नाम आर्षेय (ऋषि-सम्बद्ध) प्रतीत होता है ।

(18) **शौनकोपनिषद्**—उपर्युक्त तीन उपनिषदों को ही क्षेणी में शौनकोपनिषद् आड्यार लाइब्रेरी की एकमात्र पाण्डुलिपि से ज्ञात एवं प्रकाशित है । इसके अन्त में उपदेष्टा के रूप में शौनक का उल्लेख है, इसी से इसका नाम 'शौनकोपनिषद्' है । असुरों पर देवों की विजय एवं इन्द्र के महत्त्व-वर्णन के साथ ही छन्दों का भी उल्लेख करते हुए एकाक्षर ॐ की उपासना करने का उपदेश दिया गया है ।

प्राचीन उपनिषदों का यह विश्लेषण उनके महत्त्व तथा उपदेश की दिशा बतलाने में पर्याप्त माना जा सकता है । उपनिषदों में तत्त्वज्ञान तथा कर्तव्यशास्त्र का प्रभाव भारतीय दर्शन पर पूर्णरूप से विद्यमान है । उपनिषद् वेदों के तत्त्व तथा रहस्य प्रतिपादन के कारण सचमुच ही 'वेदान्त' हैं[1]।

सूत्र साहित्य का परिचय

संसार की प्राचीन भाषाओं में संस्कृत भाषा प्राचीनतम है। यह भाषा अखिलभाषाओं की आधारभूत वैज्ञानिक एवं दोषरहित भाषा है। विश्व का प्रथम् साहित्य 'ऋग्वेद' इसी देववाणी में उपलब्ध है। ज्ञान एवं विज्ञान की समग्र शाखाएँ संस्कृत साहित्य में प्रचुरमात्रा में उपलब्ध हैं। संश्लेषण-विश्लेषण रूप विशिष्टता के कारण अत्युन्नत कम्प्यूटर के लिए आज भी संस्कृत भाषा ही सभी अन्य भाषाओं से अधिक उपयोगी है, ऐसा वैज्ञानिकों का कहना है।

किसी भी भाषा के ज्ञान के लिए व्याकरण का ज्ञान आवश्यक होता है। व्याकरण भाषा-प्रवाह को नियन्त्रित करता है तथा उसमें उत्पन्न होने वाले दोषों का निवारण कर भाषा के शुद्ध स्वरूप की रक्षा करता है। संस्कृत जैसी विशिष्ट भाषा के ज्ञान के लिए तो व्याकरण का ज्ञान नितान्त अपेक्षित है। व्याकरण ज्ञान के बिना कोई पाण्डित्य प्राप्त नहीं कर सकता है।

वेद के छः अङ्गों में भी व्याकरण को मुख बताकर इसकी प्रधानता सिद्ध की गई है। कहा भी गया है कि-

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने व्याकरणाध्ययन के प्रयोजन प्रतिपादन करते हुए कहा है कि- "ब्राह्मणेन निष्कारणः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च, षडङ्गेषु प्रधानं व्याकरणम्, प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति।"

प्राचीन समय में तो यह उक्ति प्रचलित थी कि "यद्यपि सब शास्त्र नहीं पढ़ सकते फिर भी शुद्धता की रक्षा के लिए व्याकरण अवश्य पढ़ना चाहिये।"

यद्यपि बहु नाधीषे तथाऽपि पठ पुत्र व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो माभूत् सकलं शकलं सकृच्छकृत्॥

जिस प्रकार आजकल भाषाशिक्षण के लिए नयी विधि, नई पद्धतियाँ निकाली जा रही हैं, भिन्न-भिन्न भाषाओं के नए-नए व्याकरण शास्त्र उपलब्ध हो रहे हैं, उसी प्रकार संस्कृत भाषा की उत्पत्ति के समय से ही संस्कृत व्याकरणशास्त्र का निर्माण प्रारम्भ हो गया था। डाक्टर बर्नेल ने भी इस मत की पुष्टि की है। इसके अतिरिक्त व्याकरण थे। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में इन आचार्यों का यत्र-तत्र उल्लेख किया है। पाणिनि-व्याकरण का उदय होने पर उस समय तक के प्रायः सभी व्याकरणों की स्मृति-मात्र शेष रह गई। आगे चलकर पाणिनि-व्याकरण का व्यापक साम्राज्य होने पर भी कुछ नवीन व्याकरण पद्धतियाँ प्रचलित हुईं। वे पाणिनि-व्याकरण की जटिल तथा विस्तार के विरुद्ध प्रतिक्रिया मात्र थीं। उनमें शर्ववर्मा का ऐन्द्र व्याकरण के आधार पर रचा हुआ 'कातन्त्रव्याकरण' (प्रथम शताब्दी) तथा बौद्धपण्डित चन्द्रगोमी का 'चान्द्रव्याकरण' (480 ई.) प्राचीन हैं। इनके पश्चात्, जैनव्याकरण का समय है किन्तु इन व्याकरणों का पठन-पाठन में विशेष स्थान न रहा। मध्ययुग (12, 13वीं शताब्दी) की केवल दो व्याकरण पद्धतियाँ ही ऐसी हैं जिन्होंने पाणिनि व्याकरण के संशोधन का प्रयास किया, इसे अत्यन्त सरल और संक्षिप्त करने में कोई प्रयत्न उठा न रक्खा। उनमें से एक 'सारस्वत व्याकरण' है जिसमें 700 सूत्र हैं और दूसरा वोपदेव का 'मुग्धबोध व्याकरण' है जिसमें 1200 सूत्र हैं। सारस्वत व्याकरण की सारस्वत-चन्द्रिका टीका विशेष महत्त्व की है। इन दोनों पद्धतियों का प्रचलन बहुत से प्रदेशों में रहा और अब भी जहाँ-तहाँ इनका पठन-पाठन प्रचलित है।

व्याकरण के प्रवर्तक-

ब्रह्मा-जिस प्रकार वेद को ब्रह्म के उच्छ्वास के प्रादुर्भूत माना जाता है, उसी प्रकार व्याकरण शास्त्र के आद्यप्रवर्तक ब्रह्मा माने जाते हैं। स्वयं महाभाष्य में पतञ्जलि ने कहा है कि - "ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रो भरद्वाजाय, भरद्वाज ऋषिभ्यः ऋषयो ब्राह्मणेभ्यः"॥

इस प्रकार ब्रह्मा से लेकर पाणिनि तक अनेकों मुनियों ने व्याकरण की रचना की हैं। आचार्य युधिष्ठिर मीमांसक तो 'पाणिनि से पूर्ववर्ती पचासी वैयाकरण हुए' ऐसा सप्रमाण कहते हैं।

ब्राह्ममैशानमैन्द्रञ्च प्राजापत्यं बृहस्पतिम्।

त्वाष्ट्रमापिशलञ्चेति पाणिनीयमथाष्टकम्॥

वोपदेव के कविकल्पद्रुम के प्रारम्भ में -

इन्द्रश्चान्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।

पाणिन्यमरजैनेन्द्राः जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः॥

इस वचन के अनुसार भी आठ प्रसिद्ध वैयाकरणों का उल्लेख है। भगवान् पाणिनि अष्टाध्यायी में स्वयं दस आचार्यों का उल्लेख करते हैं। इन सभी व्याकरणों में पाणिनि व्याकरण ही अद्यावधि साङ्गोपाङ्ग उपलब्ध है, तथा अध्ययन परम्परा में अष्टाध्यायी तथा इसके व्याख्यान ग्रन्थ ही प्रचलित रह गये हैं। इससे पाणिनि व्याकरण का महत्त्व स्वतः स्पष्ट है।

पाणिनि व्याकरण का सामान्य परिचय -

संस्कृत व्याकरण की समस्त पद्धतियों में पाणिनि व्याकरण का सर्वोपरि स्थान है। विकास क्रम की दृष्टि से इसके तीन युग माने जा सकते हैं -

(1) प्रथम युग - (लगभग 500 ई. पू. से ईसा की प्रथम शताब्दी तक) मौलिक रचना तथा विवेचन का समय।

(2) द्वितीय युग - (1300 ई. तक) टीकाओं का समय।

(3) तृतीय युग - (1300 ई. से आगे) प्रक्रिया तथा शास्त्रार्थ का समय।

प्रथम युग पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि का समय है। इन तीनों के द्वारा ही पाणिनि व्याकरण का ढाँचा तैयार हुआ था। इन तीनों को ही व्याकरण शास्त्र में 'मुनित्रय' कहा जाता है।

प्रथम युग मुनित्रय

आचार्य पाणिनी (500 ई. तथा 350 ई. पू. के मध्य) - पाणिनी के समय के विषय में विद्वानों का मतभेद है। बेबर तथा मैक्समूलर के अनुसार पाणिनि का समय 350 ई. पू. है। डॉ. गोल्डस्टुकर तथा भण्डारकर ने उनका समय 500 ई. पू. माना है। पं. सत्यव्रत सामश्रमी ने 2400 ई. पू. बतलाया है तो पं. युधिष्ठिर मीमांसक 2800 वि. पू. बतलाते हैं। सभी विद्वानों ने अपने मत की पुष्टि के लिये युक्ति तथा प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। फिर भी यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि पाणिनि का समय क्या है।

त्रिकाण्डशेष कोश में पाणिनि के 6 नामों का उल्लेख किया गया है। पाणिनि पाणिन, दाक्षीपुत्र, शालङ्कि, शालातुरीय तथा आहिक। इनमें से पाणिनि नाम ही अधिक प्रसिद्ध है। दाक्षीपुत्र (दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः) तथा शालातुरीय शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। दाक्षीपुत्र, शब्द से विदित होता है कि उसकी माता का नाम दाक्षी था। शालातुरीय शब्द से पता चलता है कि पाणिनि या उनके पूर्वज शालातुर नामक ग्राम के रहने वाले थे। विद्वानों का कथन है कि पश्चिमी पञ्जाब के अटक जिले में विद्यमान 'लाहुर' नामक ग्राम ही प्राचीनकाल में शालातुर

कहलाता था। पाणिनि के जीवन-वृत्त के विषय में उन्होंने एक ही प्रामाणिक बात मिलती है कि नालन्दा (बिहार) में रहकर उपवर्ष नामक गुरु से शिक्षा पाई थी, तथा वहीं पर अष्टाध्यायी की रचना कर अध्यापन में प्रवृत्त हुए। भाष्यकार - पाणिनि के छात्रों को 'ओदनपाणिनीयाः' कहते हैं। यह उदाहरण उन्हें नालन्दा को सिद्ध करता है। पञ्चतन्त्र के एक श्लोक के आधार पर यह कल्पना की जाती है कि उनकी मृत्यु सिंह के द्वारा हुई थी। परम्परा के आधार पर यह भी माना जाता है कि उनकी निधन तिथि त्रयोदशी है।

पाणिनि की प्रतिभा अनूठी थी। वे संस्कृत भाषा के अद्वितीय विद्वान थे। वैदिक तथा लौकिक संस्कृत भाषा पर उनका अनुपम अधिकार था। वे तात्कालिक भूगोल तथा इतिहास आदि के भी पण्डित थे। मुनियों तथा विद्वानों ने उनके प्रति श्रद्धा का भाव व्यक्त किया है। महाभाष्यकार का कथन है कि उनके सूत्रों में एक वर्ण भी अनर्थक नहीं। काशिकाकार कहते हैं कि सूत्रकार की दृष्टि बड़ी सूक्ष्म है - सूक्ष्मेक्षिका सूत्रकारस्य।

पाणिनि की रचनाओं में अष्टाध्यायी या पाणिनीयाष्टक का प्रमुख स्थान है। यह ग्रन्थ संस्कृत भाषा का अनुपम रत्न है। विश्व की किसी भाषा में इसके जोड़ का व्याकरण नहीं बना। इसमें आठ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय का विभाजन चार-चार पादों में किया गया है तथा समस्त ग्रन्थ में 3995 सूत्र हैं। पाणिनि ने इस लघुकाय ग्रन्थ में संस्कृत जैसी विस्तृत भाषा का पूर्णतया विश्लेषण करने का प्रयास किया है उनकी विवेचना वैज्ञानिक है, शैली संक्षिप्त, सांकेतिक तथा संयत है। इस ग्रन्थ का क्रम भी अनूठा है। प्रथम अध्याय में विशेष रूप से संज्ञा और परिभाषा प्रकरण हैं। द्वितीय अध्याय में समास तथा विभक्ति प्रकरण, तृतीय में कृदन्तप्रकरण, चतुर्थ तथा पञ्चम में स्त्रीप्रत्यय और तद्धितप्रकरण हैं। षष्ठ, सप्तम और अष्टम अध्यायों में सन्धि, आदेश तथा स्वरप्रक्रिया आदि के विविध प्रकरण है। अष्टाध्यायी के अतिरिक्त धातुपाठ तथा गणपाठ भी आचार्य पाणिनि की कृतियाँ हैं। यास्काचार्य ने पाणिनि से पूर्व सभी शब्दों को धातुज मानकर उनके निर्वचन का जो प्रयास किया था, उसी मत का अनुसरण करते हुए पाणिनि ने लगभग 2000 मूल शब्दांशो (Verbal root) की उद्‌भावना की थी जो धातु कहलाती है। धातुपाठ में इन्हीं का संग्रह है जिन्हें भ्वादिगण आदि 10 गणों में विभक्त किया गया है। संक्षिप्त सूत्रों से काम चलाने के लिए गणपाठ की रचना की गई है। जब अनेक शब्दों के विषय में एक ही बात, संज्ञा, प्रत्यय विधान आदि कहनी हुई तो एक गण या समूह गणपाठ में दे दिया गया तथा गण के प्रथम शब्द से 'आदि' जोड़कर सूत्र बना दिया। जैसे-सर्वादीनि सर्वनामानि 1/1/27, यहाँ 'सर्व' से लेकर 'किम्' तक सर्वादिगण प्रस्तुत किया गया है। (देखिये गणपाठ)

उणादिसूत्र को भी पाणिनिकृत बतलाया जाता है। वस्तुतः यह पाणिनि की रचना नहीं है। हाँ, पाणिनि ने उणादयो बहुलम् 3/3/1 सूत्र द्वारा उणादि सूत्रों की प्रामाणिकता अवश्य स्वीकार की है। इसी प्रकार पाणिनीय शिक्षा तथा लिङ्गानुशासन नामक लघुग्रन्थों को भी पाणिनी ने रचा पाताल-विजय या जाम्बवती-विजय नामक एक महाकाव्य की रचना की थी, जो आज उपलब्ध नहीं है।

वस्तुतः भगवान् पाणिनि ने शब्दानुशासन द्वारा संस्कृत भाषा को परिमार्जित एवं परिष्कृत करने का प्रयास किया है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों के मतों की समीक्षा करके एक ऐसे व्यवस्थित व्याकरण की रचना की है जिसमें संस्कृत भाषा के टकसाली रूप का विश्लेषण किया गया है। पाणिनि ने व्याकरण के सर्वसम्मत नियमों के साथ-साथ पूर्ववर्ती वैयाकरणों के विशिष्ट मतों का भी उल्लेख किया है। जैसे 'लोपः शाकल्यस्य 8/3/19, अवङ् स्फोटायनस्य 6/1/123' इत्यादि। पाणिनि-व्याकरण संस्कृत भाषा की अमूल्य निधि है। इस विचित्र रचना का उदय होने पर प्राचीन व्याकरण लुप्तप्राय हो गये। कोई उत्तरवर्ती व्याकरण भी पाणिनि व्याकरण के समक्ष ठहर न सका।

कात्यायन (500 ई. पू. से 300 ई. पू. के मध्य)

कात्यायन मुनि व्याकरण शास्त्र में वार्त्तिककार के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन्हें वररुचि नाम से भी जाना जाता है। उनके समय का निर्धारण भी विद्वानों की चर्चा का विषय रहा है। प्राय: आधुनिक विद्वानों ने उनका समय 500 ई. पू. तथा 300 ई. पू. के मध्य माना है। पं. युधिष्ठिर मीमांसक का मत है कि उनका समय विक्रम पूर्व 2700 वर्ष है। एक वार्तिक की व्याख्या करते हुए महाभाष्यकार कहते हैं – 'प्रियतद्धिता: दाक्षिणात्या:'। इस कथन से यह अनुमान किया जाता है कि वार्तिककार कात्यायन दाक्षिणात्य थे। वार्तिककार कात्यायन श्री पाणिनि के सहपाठी तथा नालन्दा में उपवर्ष के शिष्य थे। कालान्तर में इन्होंने आनर्त में अपना आश्रम स्थापित किया। इस दृष्टि से इन्हें दाक्षिणात्य माना जाता है।

कात्यायन का भाषाविषयक ज्ञान अगाध था। अष्टाध्यायी की दृष्टि से आलोचना करके उसकी कमियों को दूर करने का प्रयास किया है तथा अष्टाध्यायी के लगभग 1500 सूत्रों पर लगभग 4000 वार्त्तिक लिखे हैं। इस आलोचना में कहीं दृष्टि-भेद मात्र है, कहीं केवल प्रौढिवाद है और कहीं भूल भी है, जिसकी ओर महाभाष्यकार पतञ्जलि ने संकेत भी किया है। उदाहरणार्थ, वार्त्तिककार ने 'ऋलृक्' प्रत्याहार सूत्र में लृकार (लृवर्ण) का रखना अनावश्यक बतलाया है– लृकारोपदेश का प्रत्याख्यान किया है; किन्तु महाभाष्यकार ने वार्त्तिककार की युक्तियों की समीक्षा करके यह निर्णय किया है कि लृकार का प्रत्याख्यान अनेक प्रकार की कल्पना करके ही किया जा सकता है। फलत: महाभाष्यकार ने वार्त्तिककार का उपहास करते हुए उनकी भूल की ओर संकेत किया है।

पाणिनि-व्याकरण के विकास और परिष्कार में कात्यायन का महत्त्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने पाणिनीय व्याकरण को अधिक तथ्यानुकूल एवं समयानुकूल बनाने का प्रयास किया है तथा इसकी अपूर्णता को दूर किया है। वार्त्तिककार के वचनों में भाषा के विकास की झलक देखी जा सकती है। उनकी आलोचना में अनुसन्धान की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। वार्त्तिककार की इस प्रवृत्ति में किसी दुर्भावना की खोज करना उचित नहीं प्रतीत होता। डॉ. वेलवल्कर का यह मन्तव्य नितान्त सत्य है कि 'कात्यायन के वार्त्तिकों का लक्ष्य पाणिनि के सूत्रों में संशोधन और परिवर्धन है।'

पतञ्जलि (200 ई. पू. तथा प्रथम ई. शती के मध्य)

पतञ्जलि ने महाभाष्य नामक ग्रन्थ की रचना की है, अत: वे महाभाष्यकार के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनका समय भी विद्वानों के विवाद का विषय रहा है। कुछ विद्वानों के अनुसार उनका समय ईसा की प्रथम शती है। डॉ. वेलवल्कर ने उनका समय 150 ई. पू. माना जाता है। इस मत का आधार यह है– महाभाष्यकार ने एक सूत्र की व्याख्या में लिखा है 'इह पुष्यमित्रं याजयाम:' (यहाँ प्रष्यमित्र को यज्ञ कराते हैं)। इस प्रयोग से विदित होता है कि पतञ्जलि ने पुष्यमित्र को यज्ञ कराया था। फलत: वे पुष्यमित्र के समकालीन थे। इतिहासकारों ने पुष्यमित्र का समय 150 ई. पू. माना है। अत: पतञ्जलि का समय भी यही है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रमाणों से भी इस मत की पुष्टि की गई है। किन्तु युधिष्ठिर मीमांसक इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनका विचार है कि भारतीय गणना के अनुसार पुष्यमित्र का समय 1200 ई. पू. के लगभग होना चाहिये। इसलिये पतञ्जलि का समय भी वही होगा।

पतञ्जलि को शेषनाग का अवतार माना जाता है। अत: कहीं-कहीं उनके लिये फणिभृत्, अहिपति इत्यादि शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। उन्होंने अपने मत प्रकट करते हुए 'गोनर्दीय' शब्द का प्रयोग किया है – 'गोनर्दीयस्त्वाह'। इससे विदित होता है वे गोनर्द प्रदेश के रहने वाले थे। पतञ्जलि मगधसाम्राज्य के महामन्त्री भी थे। अत: वे पाटलीपुत्र (पटना) के निवासी थे, यही प्रमाणों से सिद्ध होता है। वे कहते हैं :- 'तानेव शालीन्

भुञ्जमहे यन्मगधेषु'। 'इह प्रक्यमित्रं याजयाम:' कहकर पटना में अपने राजा प्रष्यमित्र को यज्ञ करवाने की बात कहते हैं।

पतञ्जलि ने पाणिनि के मुख्य-मुख्य सूत्रों तथा कात्यायन के वार्त्तिकों की सोदाहरण व्याख्या की है। पाणिनि के प्रति उनकी अत्यधिक श्रद्धा प्रकट होती है। उन्होंने पाणिनि के कतिपय सूत्रों का प्रत्याख्यान भी किया है, किन्तु वहाँ लाघव एवं तथ्य-निरूपण की दृष्टि ही रही है। पतञ्जलि के मतानुसार जिस भगवान् पाणिनि का एक वर्ण भी निरर्थक नहीं हो सकता, भला उसके दोष-दर्शन का दुस्साहस कैसे किया जा सकता है ? वार्त्तिककार के वार्त्तिकों की भी महाभाष्यकार ने व्याख्या की है, उनकी उपयोगिता पर विचार भी किया है। साथ ही सूत्रकार एवं वार्त्तिककार के वचनों की समीक्षा करते हुये अपना निर्णय भी दिया है। पाणिनीय व्याकरण में महाभाष्य के मन्तव्य सबसे अधिक प्रामाणिक माने जाते हैं। 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' इस न्याय के अनुसार पाणिनि के वचनों से भी अधिक पतञ्जलि के वचन प्रापाणिक हैं। वस्तुत: पाणिनीय व्याकरण के परिनिष्ठत रूप का निर्धारण करना पतञ्जलि का ही कार्य है।

व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से ही पतञ्जलि का कार्य महत्त्वपूर्ण नहीं है। प्रत्युत शैली की दृष्टि से भी उनका महत्त्व सर्वोपरि है। उन्होंने रोचक शैली तथा प्रवाहमयी भाषा में व्याकरण के सूक्ष्म तत्त्वों का विश्लेषण किया है। व्याकरण जैसे नीरस माने गये विषय को इतनी सरस एवं सरल शैली में स्पष्ट रूप सें समझाना पतञ्जलि की अद्वितीय विशेषता है। इनकी शैली में नाटकीयता है, यत्र-तत्र रोचक सम्वादों के दर्शन होते हैं। बोलचाल की मुहावरेदार भाषा का लालित्य उपलब्ध होता है। हाँ, शैली की सरसता एवं रोचकता में कभी-कभी यह निश्चय करना भी कठिन हो जाता है कि महाभाष्यकार का स्वमन्तव्य वस्तुत: क्या है।

व्याकरण के अतिरिक्त महाभाष्य में अन्य अनेक विषयों के संकेत भी उपलब्ध होते हैं। उससे भारतीय इतिहास के कितने ही विवादास्पद सन्दर्भों पर नवीन प्रकाश पड़ता है, तत्कालीन भारतीय समाज की सांस्कृतिक विशेषताओं का परिचय मिलता है। किञ्च, व्याकरण-दर्शन के विशिष्ट मन्तव्यों का बीज भी महाभाष्य में विद्यमान है। इसी के आधार पर आगे चलकर भर्तृहरि ने व्याकरण-दर्शन का विशद् विवेचन किया है। महाभाष्य व्याकरण का आकर ग्रन्थ है।

यह ग्रन्थ अत्यन्त विस्तृत है। यहाँ सरल भाषा में सूक्ष्म एवं गहन अर्थ को प्रकट किया गया है। अत: चिरकाल से गुरुशिष्य-परम्परा द्वारा महाभाष्य के मर्म को समझने का प्रयास किया जाता रहा है। इसके अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये अनेक टीकायें भी लिखी गई हैं। उनमें से कतिपय टीकाएँ अधिक प्रसिद्ध रही हैं। भर्तृहरि ने 'महाभाष्य दीपिका' नामक एक टीका लिखी थी जिसका कुछ अंश ही उपलब्ध हो सका है। आज तो महाभाष्य के मर्म को समझने के लिये कैयटकृत 'प्रदीप' तथा नागेशकृत 'प्रदीपोद्यत' नामक टीकाएँ ही विशेष सहायक समझी जाती हैं।

द्वितीय युग

महाभाष्य के साथ-साथ पाणिनि व्याकरण का प्रथम युग समाप्त हो गया। ईसा की सातवीं शताब्दी में फिर अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य पर कुछ सरल टीका ग्रन्थ लिखे जाने लगे। यहीं से द्वितीय युग का प्रारम्भ हुआ समझना चाहिये। इस युग में पाणिनि व्याकरण पर अनेक टीका-ग्रन्थ लिखे गये। भर्तृहरि ने महाभाष्य पर टीका लिखी। वामन तथा जयादित्य (660 ई.) ने अष्टाध्यायी पर 'काशिका' नामक वृत्ति लिखी। 'काशिका' पर जिनेन्द्रबुद्धि ने 'न्यास' नामक ग्रन्थ लिखा तथा हरदत्त ने 'पदमञ्जरी' नामक व्याख्या की। इस युग में ही पाणिनि व्याकरण का दार्शनिक विवेचन भी प्रारम्भ हो गया। भर्तृहरि (650 ई.) ने 'वाक्यपदीय' नाम का ग्रन्थ लिखकर

इस विवेचना का श्रीगणेश किया। इस युग की अन्तिम रचना कैयट की प्रदीप नामक टीका कही जा सकती है जो महाभाष्य पर लिखी गई सुन्दर टीका है।

भर्तृहरि - (सप्तम शताब्दी)

भर्तृहरि का संस्कृत-व्याकरण में अत्यन्त उच्च स्थान है। व्याकरण में मुनित्रय के पश्चात् उनकी ओर ही दृष्टि जाती है। फिर भी उनके विषय में हमारी जानकारी बहुत ही कम है।

भर्तृहरि का समय भी अनिश्चित सा ही है। अनेक विद्वान् इत्सिंग नामक चीन-यात्री के लेख का अनुसरण करके भर्तृहरि का समय सप्तमी शती ई. का उत्तरार्ध मानते हैं। भारतीय परम्परा के अनुसार भर्तृहरि महाराज विक्रमादित्य के भाई थे। युधिष्ठिर मीमांसक ने इत्सिंग के लेख की भूल की ओर संकेत करते हुए युक्ति एवं प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है। भर्तृहरि का समय ईसा से कई शताब्दी पूर्व होना चाहिये।

भर्तृहरि के जीवनवृत्त में विषय के कुछ किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। कुछ प्रामाणिक विवरण भी मिलता है। वाक्यपदीय पर लिखी हुई पुण्यराज की टीका से विदित होता है कि भर्तृहरि के गुरु वसुरात थे। 'प्रणीतोगुरुणाऽस्माकमयमागमसंग्रहः' इस श्लोक की अवतरणिका में पुण्यराज ने लिखा है- 'तत्र भगवता वसुरातगुरुणा ममायमागमः संज्ञाय वात्सल्यात् प्रणीतः।' इत्सिंग के विवरण के अनुसार वाक्यपदीय का रचयिता भर्तृहरि बौद्ध था। उसने सात बार प्रव्रज्या ग्रहण की थी। किन्तु वाक्यपदीय के अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि भर्तृहरि वैदिक मत के अनुयायी थे। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है- वेदाशस्त्राविरोधी च तर्कश्चक्षुरपश्यताम् इसी प्रकार अन्य सन्दर्भों में भी वेद के प्रति आस्था दिखलायी देती है।

भर्तृहरि की रचनाएँ - संस्कृत वाङ्मय में भर्तृहरि के नाम से अनेक ग्रन्थ मिलते हैं। जैसे महाभाष्यदीपिका, वाक्यपदीय, नीतिशतक आदि शतकत्रय, भट्टिकाव्य तथा भागवृत्ति नामक अष्टाध्यायी की एक प्राचीन वृत्ति। इनके अतिरिक्त 'वेदान्तसूत्रवृत्ति' आदि कतिपय अन्य ग्रन्थों का भी भर्तृहरि से सम्बन्ध जोड़ा जाता है।

युधिष्ठिर मीमांसक ने यह सिद्ध किया है कि वाक्यपदीय तथा महाभाष्यदीपिका के रचयिता एक ही भर्तृहरि है, भट्टिकाव्य तथा भागवृत्ति के कर्त्ता उससे भिन्न है, किञ्च भट्टिकाव्य एवं भागवृत्ति के रचयिता भी परस्पर भिन्न ही हैं। इस प्रकार तीन भर्तृहरि हुए हैं, यह परिणाम निकलता है। जहाँ तक शतकत्रय का प्रश्न है, उसके विषय में यह निश्चित नहीं किया जा सका है कि यह किस भर्तृहरि की रचना है।

महाभाष्यदीपिका - महाभाष्य पर लिखी गई एक विस्तृत व्याख्या थी। इत्सिंग के अनुसार इसका परिमाण 25000 श्लोक के बराबर था। यह व्याख्या अभी तक पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं हो सकी है। इसके उद्धरण अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड की स्वोपज्ञ टीका में भी इसकी ओर संकेत किया है - 'संहितसूत्रभाष्यविवरणे बहुधा विचारितम्'। आधुनिक युग में डॉ. कीलहार्न ने महाभाष्यदीपिका का प्रथमतः परिचय दिया है। जर्मनी में बर्लिन के पुस्तकालय में महाभाष्यदीपिका के एक अंश की हस्तलिपि विद्यमान है। इसकी फोटो कॉपी लाहौर तथा मद्रास के पुस्तकालयों में भी है। पं. ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने इसका सम्पादन प्रारम्भ किया था।

वाक्यपदीय - यह व्याकरण दर्शन का ग्रन्थ है। इसके तीन काण्ड हैं-ब्रह्मकाण्ड, वाक्यकाण्ड, प्रकीर्णकाण्ड। इसमें समस्त विश्व को शब्दब्रह्म का विवर्त माना गया है, स्फोट रूप शब्द का विशद वर्णन किया गया है तथा व्याकरण के विविध विषयों का प्रक्रिया एवं अर्थ की दृष्टि से विवेचन किया गया है।

इस प्रकार भर्तृहरि केवल महाभाष्य के व्याख्याकार ही नहीं है। उनका विशिष्ट महत्त्व तो इसमें है कि उन्होंने व्याकरण-दर्शन के स्वरूप को व्यवस्थित किया है। महाभाष्य में जो व्याकरण-दर्शन के मन्तव्य यत्र-तत्र कहीं संकेत रूप में तथा कहीं स्पष्ट रूप में विद्यमान थे, उनका क्रमबद्ध वैज्ञानिक विश्लेषण प्रथमत: भर्तृहरि ने ही किया है। अपने इस मौलिक कार्य के कारण भर्तृहरि का सदा आदरपूर्वक स्मरण किया जाता रहेगा।

तृतीय युग

तृतीय युग में पाणिनि व्याकरण के अध्ययन की दृष्टि बदल गई। विषय विभाग के अनुसार अष्टाध्यायी के सूत्रों की व्यवस्था की जाने लगी। वास्तव में इस युग में शब्द-सिद्धि की प्रक्रिया पर अधिक बल दिया जाने लगा और सूत्रों के विवेचन पर कम। इस दिशा में सर्वप्रथम प्रयास विमल सरस्वती (1350 ई.) का था जिन्होंने 'रूपमाला' लिखी। इसी दृष्टि से रामचन्द्र (15वीं शती) ने प्रक्रिया-कौमुदी लिखी। प्रक्रिया-युग में सब से महत्त्वपूर्ण स्थान भट्टोजिदीक्षित का है। इस समय के व्याकरण के दार्शनिक विवेचन सम्बन्धी ग्रन्थों में 'वैयाकरण-भूषण' उल्लेखनीय है जिसे भट्टोजिदीक्षित के भतीजे कौण्डभट्ट ने लिखा था।

भट्टोजिदीक्षित - (१६वीं शताब्दी ई. के लगभग)

भट्टोजिदीक्षित महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम लक्ष्मीधर था। वैयाकरण-भूषण के लेखक कौण्डभट्ट इनके छोटे भाई रङ्गोजिभट्ट के पुत्र थे। प्रौढ़मनोरमा की टीका 'शब्दरत्न' के लेखक हरिदीक्षित इनके पौत्र थे।

पण्डितराज जगन्नाथ कृत 'प्रौढ़मनोरमा-खण्डन' नामक ग्रन्थ से विदित होता है कि भट्टोजिदीक्षित ने नृसिंह के पुत्र शेषकृष्ण से व्याकरण शास्त्र का अध्ययन किया था। भट्टोजिदीक्षित ने 'शब्दकौस्तुभ' में शेषकृष्ण के लिये गुरु शब्द का प्रयोग भी किया है। एक अन्य स्थल पर इन्होंने अप्पय्य दीक्षित को भी नमस्कार किया है। (व्या. शा. का इतिहास पृ. 446)।

वेलवल्कर ने भट्टोजिदीक्षित का समय 1600-1650 ई. माना है। कुछ विद्वान् इनका समय 1580 ई. (1637 वि. सं.) के लगभग मानते हैं। पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने कतिपय प्रमाणों के आधार पर यह निर्धारित किया है कि इनका जन्मकाल वि. सं. सोलहवीं शताब्दी का प्रथम दशक मानना चाहिये।

भट्टोजिदीक्षित की कृतियाँ -

भट्टोजिदीक्षित ने अनेक ग्रन्थ लिखे थे। इन्होंने अष्टाध्यायी पर 'शब्दकौस्तुभ' नामक एक वृत्ति लिखी थी। आज इस वृत्ति के प्रारम्भ के ढाई अध्याय तथा चतुर्थ अध्याय ही उपलब्ध हैं। यह ग्रन्थ किसी समय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझा जाता रहा होगा। इसीलिये इस पर अनेक टीकाएँ भी लिखी गई थीं। सम्भवत: पण्डितराज जगन्नाथ ने 'कौस्तुभ-खण्डन' नामक ग्रन्थ भी लिखा था।

सिद्धान्तकौमुदी या वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी - भट्टोजिदीक्षित की कीर्त्ति का प्रसार करने वाला मुख्य ग्रन्थ है। यह 'शब्दकौस्तुभ' के पश्चात् लिखा गया था। भट्टोजिदीक्षित ने स्वयं ही इस पर प्रौढ़मनोरमा नाम की टीका लिखी है। सिद्धान्तकौमुदी को प्रक्रिया-पद्धति का सर्वोत्तम ग्रन्थ समझा जाता है। इससे पूर्व जो प्रक्रिया ग्रन्थ लिखे गये थे उनमें अष्टाध्यायी के सभी सूत्रों का समावेश नहीं था। भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी में अष्टाध्यायी के सभी सूत्रों को विविध प्रकरणों में व्यवस्थित किया है। इसी के अन्तर्गत समस्त धातुओं के रूपों का विवरण दे दिया है तथा लौकिक संस्कृत के व्याकरण का विश्लेषण करके वैदिक-प्रक्रिया एवं स्वर-प्रक्रिया को अन्त में रख दिया है। भट्टोजिदीक्षित ने काशिका, न्यास एवं पदमञ्जरी आदि सूत्रक्रमानुसारिणी

व्याख्याओं तथा प्रक्रियाकौमुदी और उसकी टीकाओं के मतों की समीक्षा करते हुए प्रक्रिया-पद्धति के अनुसार पाणिनीय व्याकरण का सर्वाङ्गीण रूप प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। उन्होंने आवश्यकतानुसार प्ररिभाषाओं, वार्त्तिकों तथा भाष्येष्टियों का भी उल्लेख किया है। उन्होंने मुनित्रय के मन्तव्यों का सामञ्जस्य दिखाया है तथा महाभाष्य का आधार लेकर कुछ स्वकीय मत भी स्थापित किये हैं। साथ ही प्रसिद्ध कवियों द्वारा प्रयुक्त किन्हीं विवादास्पद प्रयोगों की साधुता पर भी विचार किया है। मध्ययुग में सिद्धान्तकौमुदी का इतना प्रचार एवं प्रसार हुआ कि पाणिनी व्याकरण की प्राचीन पद्धति एवं मुग्धबोध आदि व्याकरण पद्धतियाँ विलीन होती चली गई। कालान्तर में प्रक्रिया-पद्धति तथा सिद्धान्तकौमुदी के दोषों की ओर भी विद्वानों की दृष्टि गई किन्तु वे इसे न छोड़ सके।

इनके अतिरिक्त भट्टोजिदीक्षित का 'वेदभाष्यसार' नामक ग्रन्थ भी प्रकाशित हुआ है (भारतीय विद्याभावन, मुम्बई)। यह ऋग्वेद सायणभाष्य का सार है। इसकी भूमिका में भट्टोजिदीक्षित की 34 कृतियों का उल्लेख किया गया है। इनमें 'धातुपाठनिर्णय' नामक ग्रन्थ भी है। हस्तलिपियों में इनकी 'अमरटीका' नामक कृति उपलब्ध हुई है।

पाणिनीय व्याकरण में भट्टोजिदीक्षित का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पाणिनि व्याकरण पर उनका ऐसा अनूठा प्रभाव पड़ा है कि महाभाष्य का महत्त्व भी भुला दिया गया है। यह समझा जाने लगा है कि सिद्धान्तकौमुदी महाभाष्य का द्वार ही नहीं है अपितु महाभाष्य का संक्षिप्त किन्तु विशद सार है। इसी हेतु यह उक्ति प्रचलित है :-

कौमुदी यदि कण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः।
कौमुदी यद्यकण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः॥

प्रक्रिया के युग को शास्त्रार्थ के क्षेत्र में प्रविष्ट कराने वालों में नागेश भट्ट का नाम अग्रगण्य हैं। इनकी प्रतिभा अनूठी थी। इनका विविध शास्त्रों पर समान अधिकार था। उन्होंने व्याकरण के क्षेत्र में नव्य-न्याय की शैली का प्रवेश किया तथा अनेक मौलिक एवं व्याख्या-ग्रन्थों की रचना की।

नागेश भट्ट - (17वीं तथा 18वीं शती ई.)

नागेश भट्ट या नागोजि भट्ट के जीवन-वृत्त के विषय में बहुत कम ज्ञात हो सका है। जनश्रुति के अनुसार वे महाराष्ट्र के एक ऋग्वेदी ब्राह्मण थे। शब्देन्दुशेखर में मङ्गल से विदित होता है कि उनके पिता का नाम शिवभट्ट तथा माता का नाम सती देवी था - 'शिवभट्टसुतो धीमान् सतीदेव्यास्तु गर्भजः'। नागेश भट्ट के पूर्वज 'उपाध्याय' कहलाते थे। मङ्गल श्लोक में बतलाया गया है कि नागेशभट्ट शृङ्गवेरपुर के राजा राम के आश्रित थे-शृंङ्गवेरपुराधीशाद् रामतो लब्धजीविकः। विद्वानों का विचार है कि शृङ्गवेरपुर को आजकल सिंगरौरा कहा जाता है, यह प्रयाग से कुछ मील पर स्थित है। (परमलघुमञ्जूषा बड़ौदा 1961 भूमिका)। लघुशब्देन्दुशेखर के अन्तिम श्लोक से पता चलता हैं कि उनके कोई सन्तान न थी, शब्देन्दुशेखर को पुत्र और मञ्जूषा को कन्या मानकर उन्होंने शिव को अर्पित किया था-

शब्देन्दुशेखरः पुत्रो मञ्जूषा चैव कन्यका।
सवमतौ सम्यगुत्पाद्य शिवयोरर्पितौ मया॥

जनश्रुति है कि वे षोडश वर्ष की आयु तक अशिक्षित रहे। एक बार अपनी अशिष्टता के कारण उन्हें पण्डितों की भर्त्सना सहन करनी पड़ी, जिससे उनके जीवन की दिशा बदल गई। तभी वे सरस्वती देवी की भक्ति में लग गये और सरस्वती के वरदान से विद्वान् हो गये। उन्होंने हरिदीक्षित (भट्टोजि के पौत्र) से व्याकरण

महाभाष्य का अध्ययन किया था और.'राम-राम' नामक विद्वान से - जो वादी रूपी राक्षसों के संहार में राम के समान थे - न्यायशास्त्र का अध्ययन किया था -

अधीत्य फणिभाष्याब्धिं सुधीन्द्रहरिदीक्षितात्।
न्यायतन्त्रं रामरामाद् वादिरक्षोघ्नरामतः॥

वैयाकरणों में किंवदन्ती है कि नागेश भट्ट ने महाभाष्य का 18 बार गुरुमुख से अध्ययन किया था (सं. व्या. का इतिहास)। नागेश विविध विषयों के विद्वान थे - व्याकरण, दर्शन, अलङ्कारशास्त्र, साहित्यशास्त्र, धर्मशास्त्र सभी के प्रकाण्ड पण्डित थे।

समय- आश्चर्य की बात है कि आज से लगभग 250 वर्ष पूर्व विद्यमान नागेश भट्ट का समय भी निश्चित नहीं है। उनके समय का निम्न आधारों पर अनुमान किया जाता है - (i) जनश्रुति है कि जयपुर के महाराज जयसिंह ने एक अश्वमेघ यज्ञ किया था और उसमें नागेश भट्ट को (1714 ई. में) निमन्त्रित किया था; किन्तु नागेश भट्ट ने उस निमन्त्रण को स्वीकार नहीं किया क्योंकि वे इस समय तक संन्यास ग्रहण कर चुके थे। (ii) भानुदत्तकृत रसमञ्जरी पर नागेश भट्ट की एक टीका है, जिसकी हस्तलिपि इण्डिया आफिस लन्दन के पुस्तकालय में विद्यमान है। उसका लेखन काल सं. 1769 (1712 ई) है। (iii) वैद्यनाथ पायगुण्डे का पुत्र बाल शर्मा जो नागेश भट्ट का शिष्य था उसने हेनरी टामस कोलब्रूक की प्रेरणा से 'धर्मशास्त्रसंग्रह' नामक एक ग्रन्थ लिखा था। कोलब्रूक 1783-1815 ई. तक भारत में रहा। फलत: नागेश भट्ट का समय 17वीं शताब्दी ई. के अन्त तथा 18वीं शताब्दी ई. के आरम्भ में हैं। (विशेष द्रष्टव्य सं. व्या. का इतिहास)।

नागेश भट्ट की कृतियाँ -

नागेश भट्ट की व्याकरण-सम्बन्धी रचनायें हैं - महाभाष्यप्रदीपोद्योत, लघुशब्देन्दुशेखर, वृहच्छब्देन्दुशेखर, परिभाषेन्दुशेखर, लघुमञ्जूषा, परमलघुमञ्जूषा और स्फोटवाद।

डॉ. वेलवल्कर का विचार है कि प्रौढ़मनोरमा की टीका शब्दरत्न जो हरिदीक्षित के नाम से प्रसिद्ध है वह भी नागेश भट्ट की ही कृति है। इनके अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी नागेश भट्ट के ग्रन्थ हैं, जैसे काव्यप्रकाश की प्रदीप टीका पर उद्योत नाम की टीका है, रसगङ्गाधर तथा योगसूत्र पर भी व्याख्यायें हैं।

वस्तुत: संस्कृत वाङ्मय विशेषकर व्याकरण शास्त्र नागेश भट्ट के द्वारा गौरवान्वित हुआ है। नागेश भट्ट ने महाभाष्य के मर्म को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। व्याकरण दर्शन के क्षेत्र में उनका अद्वितीय स्थान है, उन्होंने मञ्जूषा ग्रन्थ में व्याकरण दर्शन का विशद विवेचन किया है। इस विवेचन में वेदान्त की हृदयग्राह्यता है और न्याय की तर्कप्रवणता।

सिद्धान्तकौमुदी पर अन्य भी अनेक टीकायें लिखी गई। उनमें परिब्राजकाचार्य ज्ञानेन्द्र सरस्वतीकृत 'तत्त्वबोधिनी' विशेष महत्त्वपूर्ण है। किन्तु छात्रों की दृष्टि से 'बालमनोरमा' नामक टीका अधिक उपयोगी है। पाणिनि-व्याकरण में बालकों का प्रवेश कराने के लिये भट्टोजि दीक्षित के शिष्य वरदराजाचार्य के लघुकौमुदी तथा मध्यकौमुदी का निर्माण किया। लघुकौमुदी में व्याकरण-प्रक्रिया का सभी अपेक्षणीय विवरण वरदराज ने दिया है। यह सिद्धान्तकौमुदी का संक्षिप्त संस्करण होते हुए भी एक विलक्षण कृति है।

3. पाणिनि व्याकरण के अध्ययनार्थ ज्ञातव्य बातें -

पाणिनि व्याकरण के सामान्य परिचय के साथ-साथ यह भी जानना आवश्यक है कि संक्षेप की ओर पाणिनि का विशेष ध्यान रहा। इसके लिये उन्हें अनेक उपायों को काम में लाना पड़ा जिनमें कुछ का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है -

(1) प्रत्याहार - जब आदि के अक्षर का अन्त के इत्संज्ञक के साथ ग्रहण किया जाता है। उसके द्वारा आदि तथा मध्य के समस्त अक्षरों का बोध होता है तो उसे प्रत्याहार कहते हैं। ये प्रत्याहार विशेषकर वर्णमाला के वर्णों का बोध कराने के लिये माहेश्वरसूत्रों के आधार पर बनाये गये हैं, जैसे-

अइउण् (1) ऋलृक् (2) एओङ् (3) ऐऔच् (4) हयवरट् (5) लण् (6) अमङणनम् (7) झभञ् (8) घढधष् (9) जबगडदश् (10) खफछठथचटतव् (11) कपय् (12) शषसर् (13) हल् (14) ।

ये 14 माहेश्वरसूत्र माने जाते हैं। इन सूत्रों के आधार पर अण् आदि -42 प्रत्याहार बनते हैं। इन सूत्रों में अन्तिम हल् (व्यञ्जन) की इत्संज्ञा होती हैं। आदि अक्षर को इत्संज्ञक के साथ मिलाकर प्रत्याहार बनता है। जैसे 'अइउण्' में अण् प्रत्याहार बनता है जो अ, इ, उ का बोध कराता है। इसी प्रकार अन्य प्रत्याहारों के विषय में भी जानना चाहिये; जैसे तिङ् प्रत्याहार है, यहाँ आदि 'ति' को अन्तिम इत् संज्ञक ङ् के साथ मिला कर 'तिङ्' बनता है और इससे क्रिया में लगने वाले 18 (9 परस्मैपद +9 आत्मनेपद) प्रत्ययों का बोध होता है। वर्णमाला के 42 प्रत्याहार ये हैं - (अकारादि क्रम से)।

1 अक्	8 अश्	15 ऐच्	22 जश्	29 भष्	39 रल्
2 अच्	9 इक्	16 खय्	23 झय्	30 मय्	37 वल्
3 अट्	10 इच्	17 खर्	24 झर्	31 यञ्	38 वश्
4 अण्	11 इण्	18 ङम्	25 झल्	32 यण्	39 शर्
5 अण्	12 उक्	19 चय्	26 झश्	33 यम्	40 शल्
6 अम्	13 एङ्	20 चर्	27 झष्	34 यय्	41 हल्
7 अल्	14 एच्	21 छव्	28 बश्	35 यर्	42 हश्

(2) इत्संज्ञक - अष्टाध्यायी में निम्न वर्णों की इत्संज्ञा की गई है - (1) अन्त का हल् (2) उपदेश में अनुनासिक अच् (स्वर), (3) प्रत्यय के आदि में आने वाले चवर्ग, टवर्ग, तथा षकार (4) तद्धितभिन्न प्रत्ययों के आदि में आने वाला - ल् श् क़वर्ण।

(v) धातु के आदि ञि, टु, डु। इत्संज्ञक का लोप हो जाता है। क़िन्तु लोप हो जाने पर भी उसको उपलक्षणा मानकर कुछ कार्य हो जाया करता है। जैसे 'गर्गादिभ्यो यञ् 4/1/105' ये यञ् प्रत्यय होता है जिसमें ञ् इत्संज्ञक है अत: यञ् प्रत्यय ञित् है, इसके ञित् होने से आदि को वृद्धि होती है और 'गार्ग्य:' रूप बनता है। ये इत्संज्ञक 'अनुबन्ध' कहलाते हैं और इनके कारण व्याकरण में बड़ा लाघव हो गया है।

(3) अधिकार - कुछ सूत्र ऐसे बनाये गये हैं जो यह बतलाते हैं कि अमुक सूत्र से अमुक सूत्र तक यह प्रत्यय होगा या यह कार्य होगा। ये अधिकार सूत्र कहे जाते हैं। जैसे- 'कारके 3' अथवा 'दाग्दिशो विभक्ति: 528' इत्यादि।

(4) अनुवृत्ति – लाघव के लिये पाणिनि ने ऐसा किया है कि एक (पूर्व) सूत्र में कोई एक पद रख दिया, अग्रिम सूत्रों में जहाँ उस पद की आवश्यकता हुई पूर्वसूत्र से लेकर अन्वय कर लिया गया। पूर्व सूत्रों से अग्रिम सूत्रों में पद के इस अनुवर्तन को ही अनुवृत्ति कहते हैं। सामान्यत: यह अनुवृत्ति एक सूत्र से निकट वाले अग्रिम सूत्र में जाती है और फिर क्रमश: आगे के सूत्रों में की जाती है किन्तु कभी-कभी बीच के सूत्रों में किसी पद की अनुवृत्ति नहीं होती तथा एकदम आगे के (व्यवहित) सूत्र में हो जाती है। मण्डूकप्लुति या मण्डूकप्लुत्या अनुवृत्ति कहते हैं (देखिये सूत्र 12)।

(5) अपकर्ष – जहाँ आगे के सूत्र से पूर्व सू. में किसी पद को खींच लिया जाता है अर्थात् अन्वित किया जाता है, वहाँ अपकर्ष कहा जाता है (देखिये सूत्र 254)।

(6) सन्धिविषयक शब्द - (1) एकादेश -जहाँ दो वर्णों को मिलाकर एक रूप हो जाता है, वह एकादेश कहलाता है, जैसे अ+ई = ए एकादेश होता है। (2) पररूप- जहाँ पूर्व तथा पर अक्षर को मिलाकर कं परवर्ण हो जाता है, वहाँ पररूप कहलाता है, जैसे - प्र+एजते = प्रेजते, जहाँ अए = ए होता है। (3) पूर्वरूप - जहाँ पूर्व तथा पर वर्ण के मिलने पर पूर्ववर्ण हो जाता है, वह पूर्णरूप कहलाता है, जैसे - हरे+अव = हरेऽव, यहाँ ए+अ = ए होता है। (4) प्रकृतिभाव - जहाँ वर्णों को प्राप्त होने वाला कोई विकार नहीं होता, वह प्रकृतिभाव (जैसा का तैसा रहना) कहलाता है; जैसे- गो+अग्रम् = गो अग्रम्; यहाँ विकल्प से ओ+अ=ओ+अ ही रहता है।

(7) कुछ ज्ञातव्य संज्ञाएँ (i) अङ्ग-जिस धातु या प्रातिपदिक से प्रत्यय का विधान किया जाता है, उसे अङ्ग कहते हैं। जैसे - कर्ता, यहाँ कृ (प्रकृति) से तृच् प्रत्यय कहा गया है। कृ अङ्ग है।

(ii) प्रातिपदिक – धातु और प्रत्यय (प्रत्ययान्तों) को छोड़कर सभी अर्थयुक्त शब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा होती है। प्रत्ययान्तों में भी कृदन्त, तद्धितान्त तथा समस्त पदों को प्रातिपदिक संज्ञा होती है। प्रातिपदिक संज्ञक शब्द से सु आदि (सुप्) प्रत्यय लगते हैं।

(iii) पद - (क) सुबन्त तथा तिङन्त की पद संज्ञा होती हैं; जैसे-राम+सु=राम: यह सुबन्त है और पठ्+अ+ति = पठति यह तिङन्त पद है। सु से लेकर सुप् तक के सातों विभक्तियों के 21 प्रत्यय सुप् कहलाते हैं तथा ति से लेकर महिङ् तक धातु से लगने वाले 18 प्रत्यय तिङ् कहे जाते हैं। ये सुप् और तिङ् प्रत्याहार हैं (ख) सित् (जिसमें स् की इत्संज्ञा हो) प्रत्यय परे होने पर पूर्व की पदसंज्ञा होती है। (ग) सर्वनाम स्थान को छोड़कर सु से लेकर कप् तक के प्रत्यय परे होने पर पूर्व की पद संज्ञा होती है। पद संज्ञा हो जाने से राजत्वम्=(राजन्+त्व) में न लोप होता है।

(iv) भ संज्ञा - (क) जिस प्रत्यय के आरम्भ में यकार या अच् (स्वर) होता है उसके परे होने पर पूर्व की भ संज्ञा होती है, पद संज्ञा नहीं। (ख) तकारान्त और सकारान्त शब्द की मत्वर्थ प्रत्यय परे होने पर भ संज्ञा होती है।

(v) विभाषा – प्रतिषेध तथा विकल्प की विभाषा संज्ञा होती है (नवेति विभाषा 1/1/44) विभाषा का अर्थ है किसी कार्य का विकल्प से होना। 'वा' तथा 'अन्यतरस्याम्' शब्दों का भी विभाषा शब्द के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। वह विभाषा कई प्रकार की होती है, जैसे (1) प्राप्तविभाषा :- किसी नियम से प्राप्त हुए कार्य का विकल्प, (2) अप्राप्तविभाषा - किसी नियम से अप्राप्रत कार्य का विकल्प से विधान। (3) उभयत्रविभाषा - प्राप्त-अप्राप्रस्थलों में विकल्प। व्यवस्थित विभाषा-व्यवस्था से विकल्प अर्थात् कहीं कार्य होना कीं न होना (देखिये सूत्र 12)

(vi) उपधा- अन्तिम वर्ण से पहले वाले वर्ण की उपधा संज्ञा होती है। (अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा 1/1/65)। जैसे- पठ् में पकार से अगले अकार की उपधा संज्ञा है।

(vii) टि- किसी शब्द का अन्तिम स्वर-सहित आगे वाला अंश टि कहलाता है (अचोऽन्त्यादि टि 1/1/4) जैसे पठ् में अठ् टि संज्ञक है।

(viii) संयोग- जब व्यञ्जनों (हल्) के बीच में स्वर नहीं होते तो यह व्यञ्जनों का संयोग कहलाता है (हलोऽनन्तरा: 1/1/7)। जैसे अल्प में ल् और प् का संयोग है।

(ix) सम्प्रसारण - य् व् र् ल्, के स्थान पर होने वाले इ, उ, ऋ, तथा लृ की सम्प्रसारण संज्ञा होती हैं। (इग्यण: सम्प्रसारणम् 1/1/45)।

(x) गुण- अ, ए तथा ओ की गुण संज्ञा होती है (अदेङ्गुण: 1/1/2)।

(xi) वृद्धि- आ, ऐ तथा औ की वृद्धि संज्ञा होती है (वृद्धिरादैज् 1/1/1)।

(xii) लोप- प्राप्त हुए प्रत्ययादि का अपने स्थान पर दृष्टिगोचर न होना लोप कहलाता है (अदर्शनं लोप: 1/1/60)। प्रत्यय के लोप की विविध स्थलों पर लुक् श्लु तथा लुप् संज्ञा होती हैं। (प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुप: 11/61) अर्थात् जिस संज्ञा से प्रत्यय का लोप कहा जाता है उसकी वही संज्ञा होती है।

(xiii) आदेश- किसी वर्ण आदि के स्थान पर दूसरा वर्ण आदि होना आदेश कहलाता है, जैसे समास में क्त्वा के स्थान पर ल्यप् हो जाता है।

(xiv) आगम- किसी वर्ण आदि का प्रकृति या प्रत्यय के साथ आ मिलना आगम कहलाता है। ये आगम प्राय: तीन प्रकार के होते हैं - टित्, कित् तथा मित्। जो टित् आगम होता है, वह जिसे कहा जाता है उसके आदि में होता है, कित् अन्त में होता है। मित् अन्त्य के अच् से परे होता है।

टिप्पणी- आदेश तथा आगम प्राचीन संज्ञाएँ है, पाणिनि ने इनके लिये कोई सूत्र नहीं बनाया।

(8) शब्द-सिद्धि में सहायक कुछ अन्य उपाय- (i) योग-विभाग - कभी-कभी कुछ प्रयोगों में किसी प्रत्यय आदि का विधान यथोपलब्ध नियमों से नहीं होता ऐसी दशा में महाभाष्यकार आदि ने सूत्र के दो अंश (योग-विभाग) करके शब्दों की सिद्धि दिखलाई है। यही योग-विभाग कहलाता है। (देखिये सूत्र 98) आदि।

(ii) ज्ञापक- कभी-कभी किसी नियम के अनुसार कोई शब्द सिद्ध नहीं होता किन्तु पाणिनि आदि आचार्यों के द्वारा किये हुए प्रयोग से उसकी साधुता सिद्ध होती है, यह ज्ञापक-सिद्ध प्रयोग होता है। इसी प्रकार कुछ अन्य प्रकार के भी ज्ञापक होते हैं (देखिये सूत्र 64)।

(iii) इष्टि- महाभाष्यकार ने सूत्रादि द्वारा प्रकट न होने वाली बातों को अभीष्ट माना है, वे भाष्येष्टि नाम से प्रसिद्ध हैं।

(6) इसके अतिरिक्त विविध प्रकरणों में यत्र-तत्र कुछ पारिभाषिक शब्दों का प्रसङ्ग भी आ गया है। जैसे- निपातन (सूत्र 378) आकृतिगण आदि। उनकी व्याख्या यथास्थान करने का प्रयास किया गया है। इन सब बातों का ध्यान संस्कृत व्याकरण के अध्ययन में विशेष सहायक है।

सारांश :

यह इकाई वैदिक संहिताओं के अध्ययन-क्रम में वैदिक साहित्य के समस्त अंगों का परिचय प्रदान करती है। वेदों के संक्षिप्त परिचय में क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद का वर्णन करते हुए उनकी शाखाओं, रचनाकाल, विषयवस्तु, वेदांग साहित्य (व्याकरणशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, निरुक्तशास्त्र, कल्पशास्त्र तथा छन्दशास्त्र) का सामान्य परिचय भी दिया गया है। वेदों की संहिता के विवरण-क्रम में यह इकाई वेद के ब्राह्मण ग्रन्थों का विवेचन भी प्रस्तुत करती है। ब्राह्मण-ग्रन्थों की विषय-सामग्री में क्रमशः विधि, विनियोग, हेतु, अर्थवाद तथा निरुक्त (शब्दों के निर्वचन या व्याख्या) को अनेकानेक रोचक आख्यानों से स्पष्ट किया गया है। यह इकाई ब्राह्मण साहित्य के महत्व, देश-काल, भाषा-शैली आदि पर भी विचार करती है। ब्राह्मण-ग्रन्थों को उनकी समस्त शाखाओं के क्रम में रखकर वर्णित किया गया है यथा- ऋग्वेद के ऐतरेय एवं शांखायन ब्राह्मण, शुक्ल यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण, कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तरीय ब्राह्मण तथा सामवेद के तांड्य, षड्विंश, आर्षेय, दैवत आदि तथा अथर्ववेद के शतपथ ब्राह्मण का समुचित वर्णन इस इकाई में सम्मिलित है।

यह इकाई आरण्यक एवं उपनिषद् ग्रन्थों का विवेचन भी करती है। आरण्यक एवं उपनिषद् को ब्राह्मण-ग्रन्थों के परिशिष्ट ग्रन्थ माना जाता है। अरण्य में पाठ्य होने से इन ग्रन्थों की आरण्यक कहा गया, अर्थात् इन ग्रन्थों का अध्ययन एवं मनन वन के एकान्त एवं शान्त वातावरण में ही संभव था। विषय की दृष्टि से आरण्यक एवं उपनिषद् ग्रन्थों में समानता के दर्शन होते हैं। आरण्यकों में शांखायन, बृहद तथा तैत्तरीय नामक आरण्यक महत्वपूर्ण हैं। उपनिषदों को वेद का अंतिम भाग होने के कारण वेदान्त भी कहा जाता है। उपनिषदों की संख्या के विषय में विद्वान एकमत नहीं हैं। आचार्य शंकर ने जिन दस उपनिषदों पर अपना भाष्य लिखा है, वे दस उपनिषद् ही प्राचीनतम एवं प्रामाणिक हैं। यह इकाई सूत्र साहित्य पर भी प्रकाश डालती है।

अभ्यास-प्रश्न :

1. ऋग्वेद एवं यजुर्वेद का संक्षिप्त परिचय लिखिए।
2. सामवेद एवं अथर्ववेद की विषय-वस्तु का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
3. वेद के छः अंगों का विवेचन करते हुए उनका महत्व प्रतिपादित कीजिए।
4. वेदों के रचनाकाल के सम्बन्ध में अपना मत स्पष्ट कीजिए।
5. वैदिक साहित्य में ब्राह्मण-ग्रन्थों का महत्व प्रतिपादित कीजिए।
6. ब्राह्मण ग्रन्थों की विषय-वस्तु की विवेचना कीजिए।
7. शतपथ ब्राह्मण एवं एतरेय ब्राह्मण-ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
8. आरण्यक ग्रन्थों के महत्व एवं बृहदारण्यक की विषय-वस्तु का वर्णन कीजिए।
9. उपनिषद् साहित्य का संक्षिप्त परिचय देते हुए छान्दोग्य उपनिषद् की विशेषता बताइए।
10. सूत्र-साहित्य के मुनित्रय (पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि) का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

NOTES

NOTES

सुझाव पत्र (विद्यार्थियों के लिये)

नाम –

नामांकन नं. –

फोन नं.–

ई–मेल आईडी –

कार्यक्रम का नाम –

कोर्स का नाम –

सत्र –

प्रिय छात्र–छात्राओं,

विश्वविद्यालय के द्वारा दूरस्थ शिक्षण संस्था में पंजीकृत छात्र–छात्राओं को दी जाने वाली पाठ्यसामग्री को हमेशा बेहतर बनाने का प्रयास रहा है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु आपके विचार एवं सुझाव आंमत्रित है, कृपया आपको प्रदान की जाने वाली पाठ्य–सामग्री के संबंध में अपने विचार एवं सुझाव 500 शब्दों में लिखकर प्रेषित करें, ताकि उक्त विचार एवं सुझाव का अमल करते हुये हम अपने पाठ्य सामग्री को और अधिक सरल, सहज एवं रोचक बनाया जा सकें।

सुझाव –

....

....

....

....

....

....

....

....

....

छात्र का नाम एवं हस्ताक्षर

सुझाव पत्र (विषय विशेषज्ञ/पाठ्यक्रम समन्वयक/कार्यक्रम समन्वयक के लिये)

नाम – पद –

विभाग/विषय – पता –

फोन नं.– सत्र –

ई–मेल आईडी –

प्रिय विषय विशेषज्ञ/पाठ्यक्रम समन्वयक/कार्यक्रम समन्वयक,

विश्वविद्यालय के द्वारा दूरस्थ शिक्षण संस्था में पंजीकृत छात्र–छात्राओं को दी जाने वाली पाठ्यसामग्री को हमेशा बेहतर बनाने का प्रयास रहा है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु आपके विचार एवं सुझाव प्रार्थनीय है, कृपया आप इस पाठ्य–सामग्री के संबंध में अपने विचार एवं सुझाव 500 शब्दों में लिखकर प्रेषित करें, ताकि उक्त विचार एवं सुझाव का अमल करते हुये हम अपने पाठ्य सामग्री को और अधिक सरल, सहज एवं रोचक बनाया जा सकें।

सुझाव –

....

....

....

....

....

....

....

....

....

धन्यवाद,

नाम एवं हस्ताक्षर